MATS UNIVERSITY

NAAC GRADE A+ ACCREDITED UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

भारतीय शासन और राजनीति

बैचलर ऑफ़ आर्ट्स (बी.ए.)

द्वितीय सेमेस्टर

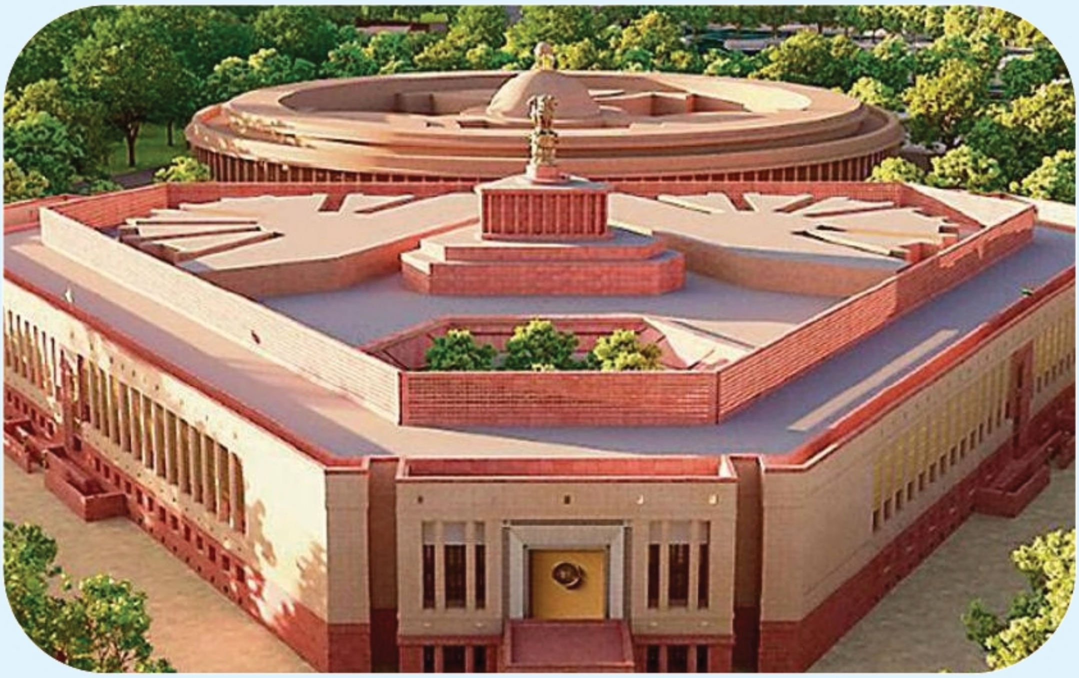

SELF LEARNING MATERIAL

COURSE DEVELOPMENT EXPERT COMMITTEE

1- Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department , MATS University Raipur Chhattisgarh
2- Dr. Sudhir Sharma , Subject Expert ,HOD Hindi Department, Kalyan College, Bhilai
3- Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh
4- Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh
5- Dr. Rajesh Kumar Dubey , Subject Expert, Principal , Shahid Rajeev Pandey Government College ,Bhatagaon , Raipur ,Chhattisgarh
6- Dr. Naaz Benjamin , Principal ,Government Mata Shabri Naveen Girls College, Bilaspur, Chhattisgarh

COURSE COORDINATOR

Mr. Khileshwar Raxsel ,Assistant Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh

COURSE /BLOCK PREPARATION

Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh

March, 2025
ISBN- 978-81-987917-1-9

@MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

All rights reserved. No part of this work may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

Printed & Published on behalf of MATS University, Village-Gullu, Aarang, Raipur by Mr. Meghanadhudu Katabathuni, Facilities & Operations, MATS University, Raipur (C.G.)

Disclaimer-Publisher of this printing material is not responsible for any error or dispute from contents of this course material, this is completely depends on AUTHOR’S MANUSCRIPT.
Printed at: The Digital Press, Krishna Complex, Raipur-492001(Chhattisgarh)

अनुक्रमणिका

माड्यूल	विषय – भारतीय शासन एवं राजनीति – II	
माड्यूल – 1	राष्ट्रवाद का उदय इकाई – 1 उदारवादी राष्ट्रवाद एक परिचय	1-15
	इकाई – 2 उदारवादी पक्ष विचारधारा और परिचय	16- 25
	इकाई – 3 आन्दोलन के कारण	26-38
	इकाई – 4 राष्ट्रीय कांग्रेस का उदय	38-51
माड्यूल – 2	भारतीय संविधान और उसके स्त्रोत इकाई– 5 भारतीय संविधान और उसके स्त्रोत एक परिचय	52-121 52-66
	इकाई– 6 मूल अधिकार	77-80
	इकाई – 7 मूल कर्तव्य एवं राज्य के नीति निर्देशक तत्व	80-90
	इकाई – 8 भारतीय संविधान की विशेषताएँ	91-121
माड्यूल – 3	निर्वाचन आयोग तथा चुनाव सुधार इकाई– 9निर्वाचन आयोग एक परिचय	122-122
	इकाई– 10 चुनाव सुधार	123-150
	इकाई – 11 राष्ट्रपति	134-153
	इकाई – 12 संसद	154-187
माड्यूल – 4	सर्वोच्च न्यायालय तथा संवैधानिक प्रक्रिया इकाई – 13 सर्वोच्च न्यायालय तथा संवैधानिक प्रक्रिया	188-200
	इकाई – 14 राज्यपाल एवं राज्य विधान मंडल	201-229

Acknowledgement

The Material (Pictures and images) we have used is purely for educational purpose. Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this book. Sould any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future of this book.

माड्यूल – 1
राजनीति विज्ञान परिभाषा प्रकृति एवं क्षेत्र

इकाई 1
राजनीति विज्ञानः अर्थ एवं परिभाषाराष्ट्रवाद का जागरण

इस अध्याय के अन्तर्गत :परिचयराश्ट्रवाद के जागरण का परिचय
आन्दोलन के उदय और इसके कारण

अध्याय के उद्देष्य

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे

भारत में षुरू हुए राश्ट्रवाद के जागरण की पृश्ठभूमि समझ सकेंगे ।

राश्ट्रवाद के आन्दोलन के उदय और इसके कारण समझ सकेंगे।

कांग्रेस की स्थापना के कारण और इसके उद्देष्य समझ सकेंगे।

कांग्रेस की बढ़ती हुई षक्ति और इसके प्रति ब्रिटिष सरकार का दृश्टिकोण समझ सकेंगे।

परिचय

16वीं सदी में भारत अपनी समषद्धि और गौरव के चरमोत्कर्श पर था और भारत की इस समषद्धि से प्रभावित होकर यूरोप के विभिन्न देष भारत के साथ व्यापार करने के लिए लालायित थे । लन्दन के कुछ व्यापारियों ने भारत तथा पूर्वी देषों के साथ व्यापार करने के लिए 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी (म्ंेज प्दकपं ब्वउचंदल) की स्थापना की और 31 दिसम्बर, 1600 को ब्रिटिष साम्राज्ञी एलिजाबेथ ने अंग्रेज व्यापारियों की इस कम्पनी को भारत के साथ व्यापार करने का एकाधिकार प्रदान किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा बहुत तेजी के साथ प्रगति की गयी और व्यापारिक प्रतियोगिता में पुर्तगाली, डच तथा फ्रेंच व्यापारिक कंम्पनियों को पराजित कर भारत के व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया गया।

1857 का स्वतंत्रता संग्राम एक साधारण घटना थी। इस असफल संग्रामे के परिणामस्वरूप ब्रिटिष षासन का ध्यान भारत में कम्पनी के षासन की बुराइयों की ओर गया। परिणामस्वरूप नवम्बर 1858 ई० के सत्ता हस्तान्तरण और भारत में श्रेश्ठतर षासन हेतु कानून के आधार पर ब्रिटिष सम्राट् ने भारत में कम्पनी के षासन का अन्त कर भारतीय षासन अपने हाथ में ले लिया। लेकिन सत्ता के इस हस्तान्तरण से भारतीय जनता के कश्टों और उनकी विदेषी षासन–विरोधी भावनाओं में कोई कमी नहीं हुई और इन्हीं भावनाओं ने कालान्तर में भारत में राश्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दिया। राश्ट्रीय आन्दोलन का उदय और उसके कारण भारत में राश्ट्रीय आन्दोलन के उदय का उल्लेख 'भारतीय राश्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ किए जाने का एक विषेश कारण हैं। यद्यपि 'कांग्रेस का इतिहास के लेखक 'पट्टाभि सीतारमैया और कुछ अन्य लेखकों के इस विचार को तो ऐतिहासिक दृश्टि से स्वीकार नहीं किया जा सकता कि कांग्रेस का इतिहास ही भारत की स्वतंत्रता के संघर्श का इतिहास है, क्योंकि कांग्रेस की स्थापना के पूर्व और पष्चात् दूसरी अनेक षक्तियों के द्वारा भी इस उद्देष्य से कार्य किया गया था, लेकिन कांग्रेस ने भारतीय स्वतंत्रता के संघर्श में सदैव केन्द्र का कार्य किया । यह वह धुरी थी जिसके चारो ओर स्वतंत्रता की महान् गाथा की विविध घटनाएँ घटित हुई।' स्वतंत्रता आन्दोलन में कांग्रेस की इस प्रमुख भूमिका के कारण ही भारत में

जिसके कम–से–कम आधे सदस्य अंग्रेज हों। इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद ने भारतीयों को दो बातें सिखाय रू एक तो यह कि बिना संगठित रूप से आन्दोलन किए उनकी मांगें पूरी नहीं हो सकतीं और दूसरी यह कि इस प्रकार का आन्दोलन कैसे किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में सर हैनरी कॉटन ने लिखा है कि इस विधेयक और इसके विरोध में किये गये आन्दोलन ने भारतीय राश्ट्रीयता पर जो प्रभाव डाला, वह प्रभाव विधेयक के मूल रूप में पारित होने पर कभी नहीं हो सकता था ।श उपर्युक्त तत्वों के परिणामस्वरूप भारत के लोगों नें इस चेतना का विकास हुआ कि. उनकी दयनीय स्थिति के लिए ब्रिटिष षासन ही उत्तरदायी है और इस चेतना ने ही ष्भारतीय राश्ट्रीय कांग्रेसष (प्दकपंद छंजपवदंस ब्वदहतमे) को जन्म दिया। कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठन– 1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना का कार्य विचारों या संगठन की दृश्टि से आकस्मिक नहीं था। भारतीय राश्ट्रीय कांग्रेस के पूर्व भी कुछ राजनीतिक संगठन स्थापित किए गए थे और उनके द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया जा रहा था। कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठनों में प्रमुख थे– ब्रिटिष इण्डियन एसोसियेषन (1851), इण्डिया लीग (1875), इण्डियन एसोसियेषन (1876), पूना सार्वजनिक सभा (1867), बॉम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसियेषन और महाजन सभा (1881), आदि । कांग्रेस की स्थापना – उपर्युक्त संस्थाओं के द्वारा विभिन्न प्रान्तों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने का कार्य किया जा रहा था। 1876 के बाद लार्ड लिटन के अविवेकपूर्ण कार्यों और उसके बाद लार्ड रिपन के षासनकाल में इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद ने अखिल भारतीय स्तर के राजनीतिक संगठन की आवष्यकता स्पश्ट की। इन परिस्थितियों में सर्वप्रथम सम्भवतया एक अवकाष प्राप्त अंग्रेज अधिकारी एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम को ही इस संस्था का जन्मदाता समझा जाता है। ह्यूम की योजना सम्भवतया एक ऐसे संगठन का निर्माण करने की थी, जो प्रमुख रूप से सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में कार्य करते हुए भारत की • स्थिति में सुधार लाता ह्यूम ने जब यह योजना नये गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन के सामने • रखी तो लार्ड डफरिन ने प्रस्तावित संगठन के कार्यक्षेत्र को बाव देते हुए कहा कि इस संगठन के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में भी कार्य किया जाना चाहिए। ह्यूम ने अपनी योजना में वायसराय के निर्देष के अनुसार परिवर्तन किया और वे इंग्लैण्ड पहुँचे। इंग्लैण्ड में उन्होंने वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों लार्ड रिपन, डलहौजी, जॉन ब्राइट और स्लेग आदि से विचार–विनिमय किया। इंग्लैण्ड से वापस आने पर यह निष्चित किया गया कि कांग्रेस का प्रथम अधिवेषन पूना में 25 से 28 सितम्बर, 1885 तक होगा ! लेकिन पूना में हैजा षुरू हो जाने पर अधिवेषन पूना के स्थान पर बम्बई में किया गया द्य 28 दिसम्बर 1885 को दिन के 11 बजे गोकुलदास तेजपाल, संस्कृत कॉलेज के भवन में कांग्रेस का प्रथम अधिवेषन आरम्भ हुआ, जिसकी अध्यक्षता कलकत्ता के प्रसिद्ध बैरिस्टर व्योमेषचन्द्र बनर्जी द्वारा की गयी ।अधिवेषन में भारत के अनेक व्यक्ति – दादाभाई नौरोजी, फिरोजषाह मेहता, दीनषा एदलषी वाचा, काषीनाथ तैलंग, नारायण गणेष चन्द्रावरकर, पी. आनन्दचालू, वी. राघवाचार्य, सुब्रह्मण्यम् आदि उपस्थित थे। यह समस्त कार्य सरकारी आषीर्वाद से किया गया था। कूपलैण्ड ने लिखा है, श्भारतीय राश्ट्रीयता ब्रिटिष राज की षिषु थी और ब्रिटिष अधिकारियों ने उसके पालने को आषीर्वाद दिया ।श अधिवेषन में विलियम वेडरबर्न और रानाडे जैसे सरकारी अधिकारी भी उपस्थित थे।, कांग्रेस के उद्देष्य स कांग्रेस के प्रथम अधिवेषन के सभापति श्री व्योमेषचन्द्र बनर्जी ने कांग्रेस की गुरुता की ओर प्रतिनिधियों का ध्यान आकर्शित करते हुए इसके उद्देष्य इस प्रकार बताये थे रू (1) साम्राज्य के विभिन्न भागों में देषहित के लिए लगन से कार्य करने वाले व्यक्तियों के बीच घनिश्ठता और मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करना । (2) समस्त देषवासियों में वंष, धर्म और प्रान्त सम्बन्धी दूशित संस्कारों को मिटाकर राश्ट्रीय ऐक्य की भावनाओं का पोशण और परिवर्द्धन करना । कृ (3) महत्वपूर्ण और आवष्यक सामाजिक प्रष्नों पर भारत के षिक्षित लोगों में अच्छी तरह चर्चा होने के बाद प्राप्त परिपक्व सम्पत्तियों का संग्रह करना । (4) उन तरीकों और दिषाओं का निर्णय करना, जिनके द्वारा भारत के राजनीतिज्ञ देषहित के कार्य करें। कांग्रेस की स्थापना के आधारभूत कारण से सम्बन्धित विवाद (ब्वदजतवअमतेल बवदबमतदपदह जीम ठपतजी वब्बिदहतमे) – ए. ओ. ह्यूम तथा उनके सहयोगियों के कांग्रेस को संगठित करने के वास्तविक उद्देष्य क्या थे, इस सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैरू अभयदीप की धारणा – पहली धारणा के अनुसार कांग्रेस की स्थापना देष में व्याप्त व्यापक

असन्तोश के लिए अभयदीप ऀमिसल टंसअम) के रूप में की गयी अर्थात् कांग्रेस का जन्म ब्रिटिष साम्राज्य की रक्षा के लिए हुआ था। लार्ड लिटन के दमनकारी षासन की समाप्ति पर भारत क्रांति के बहुत अधिक समीप पहुंच चुका था। भारतीय जनता की दयनीय दरिद्रता और षिक्षित नवयुवकों का घोर असन्तोश क्रांति का रूप ग्रहण करने वाला था । ह्यूम को विष्वसनीय सूत्रों से इस बात का ज्ञान हो गया था कि राजनीतिक अषान्ति अन्दर ही अन्दर बढ़ते–बता था और 1887 तक यह नहीं सोच पाया था कि कांग्रेस उसके लिए कभी कोई चुनौती बन सकती है । परन्तु जब कांग्रेस की षक्ति में तीव्र गति से वृद्धि होने लगीय कांग्रेस उच्च वर्ग के साथ साथ सामान्य जनता से जुड़ने लगी और कांग्रेस के द्वारा सामाजिक, आर्थिक तथा प्रषासनिक सुधारों की सबल रूप में मांग की जाने लगी तब कांग्रेस के प्रति ब्रिटिष सरकार के रुख में परिवर्तन होने लगा। कांग्रेस की स्थापना में सहयोग देने वाले लार्ड डफरिन ने स्वयं अपने कार्यकाल की समाप्ति पर कांग्रेस की निन्दा करते हुए कहा कि, श्मुझे उसका भारतीय जनता के प्रतिनिधित्व का दावा बेबुनियाद लगता है। कांग्रेस तो नगण्य अल्पमत का प्रतिनिधित्व करती है !श भारतीय षासन एवं राजनीति छव्ज्मै ैमस–प्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस 21 भारतीय षासन एवं राजनीति छव्ज्मै ैमस–प्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस 22 ᑊ षांसन द्वारा इस बात की असफल कोषिष की गयी कि 1888 के कांग्रेस अधिवेषन के लिए कांग्रेस को कोई उपयुक्त स्थान ही न मिले। सरकारी कर्मचारियों का कांग्रेस– अधि वेषन में दर्षक रूप में उपस्थित होना भी निशिद्ध कर दिया गया। मुसलमानों को कांग्रेस के विरोध में संगठित होने की प्रेरणा दी गयी और षिक्षित भारतीयों में मतभेद उत्पन्न करने के भी प्रयत्न किए गए। इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि लार्ड कर्जन (1898 –1905) की सरकार ने धनी और कुलीन व्यक्तियों पर कांग्रेस से अलग रहने के लिए बहुत दबाव डाला था। रेम्जे मैकडॉनल्ड के षब्दों में, ″कांग्रेस के प्रति ब्रिटिष सरकार का दृष्टिकोण प्रारम्भ में मित्रतापूर्ण था, लेकिन बाद में इसने कटु विरोध का रूप ले लिया।श षासन के इस रवैये ने कांग्रेस की लोकप्रियता में वृद्धि ही की । सारांष रू • राश्ट्रवाद का जागरण भारतीय राश्ट्रीय आन्दोलन विशय का एक प्रमुख तथ्य है। 16वीं सदी में भारत अपनी समृद्धि और गौरव के चरम उत्कर्श पर था इसी समृद्धि और गौरव से मंत्र मुग्ध होकर और लालायित चाहत से प्रभावित होकर यूरोपीय व्यापारी व्यापार करने हेतु भारत तथा पूर्वी देषों के साथ संबंध स्थापित करने हेतु ईस्ट इंडिया कंपनी के बैनर तले विभिन्न यूरोपीय षक्तियों ने भारतवर्श तथा अन्यपूर्वी देषों के साथ व्यापार लाभ हेतु दाँव पेच खेलना षुरू किया। अनेक यूरोपीय कंपनियों ने भारतवर्श में अपनी व्यापारिक गतिविधियों षुरू की और आपस में प्रतिस्पर्धा करने लगी विषेश रूप से फ्रांसीसी और ब्रिटिष कंपनियों में व्यापार – लाभ में एकाधिकार की लम्बी लड़ाई षुरू हुई। अन्ततः ब्रिटिष ईस्ट कंपनी ने भारतीय अर्थव्यवस्था और षांसन व्यवस्था को आपसी फूट और कमजोर सैन्यबल तथा केन्द्रीय संयोजक के अभाव अपने कस्बे में ले लिया और ब्रिटिष षासनकी मजबूत नींव डालने में सफलता पाई। इस तरह भारतवर्श ब्रिटिष भारत कहलाने को बाध्य हुआ । इसके आगे भारतीय राजनीति धर्म अर्थ व्यवस्था समाज और सैन्य क्षेत्रा में अनेक ऐसी प्रवृत्तियों का उदय हुआ जिनके कारण भारतीय जनता को ब्रिटिष षासन का प्रबल विरोधी बना दिया । स्व प्रगति परीक्षण के उत्तर रू 1. थियोसॉफिकल सोसायटी की स्थापना न्यूयार्क में एक रूसी महिला मेडम ब्लैवेट्स्की तथा अमरीकी कर्नल अल्काट द्वारा 1875 ई0 में की गयी थी।

राश्ट्रीयता के उदय का उल्लेख कांग्रेस की स्थापना के समय अर्थात् 1885 ई. से किया जाता है ।

भारत का राश्ट्रीय आन्दोलन विष्व के किसी भी दूसरे देष में इसी प्रकार के आन्दोलन की तरह राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कारणों और विविध षक्तियों के संयोग का परिणाम था। इसमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारणों और तत्वों की विवेचना निम्नलिखित रूप से की जा सकती है :

(1) 1857 का स्वतंत्रता संग्राम

'' 1857 का विद्रोह सैनिक विद्रोह सें कहीं अधिक था । वह भारत में इतनी तीव्र गति से फैला कि उसने जनविद्रोह तथा भारतीय स्वतंत्रता के युद्ध का रूप धारण कर लिया।'' यह विद्रोह कुछ कारणवष असफल रहा किन्तु ब्रिटिष षासन ने विद्रोह का दमन करने में जिस अमानुशिक कार्यवाही का आश्रय लिया था, उससे जनता का असन्तोश बहुत अधिक बढ़ गया। ब्रिटिष षासन द्वारा किए गए दमन के सम्बन्ध में सर चार्ल्स डिल्के अपनी पुस्तक ग्रेटर इण्डिया . (ळतमंजमत प्दकपं) में लिखते हैं कि ''अंग्रेजों ने अपने कैदियों की बिना न्यायिक कार्यवाही के और ऐसे ढंग से हत्या कर दी जो सभी भारतीयों की दृश्टि में पाषविकता की चरम सीमा थी । दमन के दौरान गाँव के गाँव जला दिए गए। निर्दोष ग्रामीणों का ऐसा कत्लेआम किया गया कि मुहम्मद तुगलक भी उससे षरमा जाएगा ।''

अंग्रेजों की बदला लेने की उपर्युक्त भावना ने इस असन्तोश को और भी बढ़ावा दिया । विद्रोह ने अंग्रेजों में भारतीयों के प्रति और भारतीयों में अंग्रेजों के प्रति घष्णा की भावना को और अधिक बढ़ा दिया ।

(2) राजनीतिक एकता की स्थापना ब्रिटिष षासन के पूर्व भारत में राजनीतिक एकता का अभाव था । अषोक और अकंबर जैसे महान षासकों को भी यातायात के साधनों के अभाव और अपनी विकेन्द्रीकृत षासन व्यवस्था के कारण भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने में पूरी सफलता नहीं मिली थी। लेकिन ब्रिटिष षासन सम्पूर्ण देष को एक केन्द्रीय षासन के अर्न्तगत लाने में सफल हुआ और आवागमन के साधनों ने उन्हें इस कार्य में पूर्ण सहायता प्रदान की। भारत में ब्रिटिष साम्राज्य की स्थापना के साथ सम्पूर्ण भारत में सर्वत्र एक–सी षासन व्यवस्था स्थापित हो गयी और इस प्रकार राजनीतिक दृश्टि से भारत एक रूप हो गया।

ब्रिटिष षासन का उद्देष्य भारत में राजनीतिक एकता उत्पन्न करना नहीं था, लेकिन पूरे देष में एक ही प्रकार की षासन व्यवस्था और यातायात के साधनों के विकास के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण देष पहली बार राजनीतिक दृश्टि से एक इकाई बन गया। पं० नेहरू के षब्दों में, "ब्रिटिष षासन द्वारा स्थापित भारत की राजनीतिक एकता सामान्य अधीनता की एकता थी लेकिन उसने सामान्य राश्ट्रीयता की एकता को जन्म दिया।''

(3) धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण डॉ. जकारिया ने अपनी पुस्तक 'रिनेसेण्ट इण्डिया (त्मदेंबमदज प्दकपं) में ठीक ही लिखा है कि ''भारत की पुनर्जागषति मुख्यतया आध्यात्मिक थी तथा एक राश्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण करने के पूर्व इसने अनेक सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात किया ।'' 19वीं सदी के धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन राश्ट्रीयता के विकास में बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुए। इस प्रकार के सुधार आन्दोलनों में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृश्ण मिषन और थियोसॉफिकल सोसायटी का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है द्य

धार्मिक और सामाजिक सुधारकों राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ सेन, के.सी. सेन पी.सी. सरकार, ईष्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती, एनीबेसेण्ट, रामकृश्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द ने भारतीयों को भारत की महानता को समझने और उसे पुनः प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित किया। राजा राममोहन राय को पुनर्जागरण का अग्रदूत कहा जा सकता है।

भारत में धर्म और समाज सुधार कार्य को प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने अगस्त 1828 ई० में ब्रह्म समाज की स्थापना की। सती प्रथा का अन्त, स्त्रियों का उद्धार और अंग्रेजी षिक्षा के प्रचार आदि सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों के साथ–साथ राजा राममोहन राय अपने देषवासियों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी संघर्श करते रहे।

धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण में स्वामी दयानन्द का योग भी बहुत अधिक महत्वपूर्ण है, उनका सन्देष था– 'वेदों की ओर लौटो' । वे एक ही साथ सन्त, समाज सु रक और देषभक्त थे और 1875 ई. में मुम्बई में उनके द्वारा स्थापित 'आर्य समाज' एक साथ ही धार्मिक, राश्ट्रीय नवजागरण का आन्दोलन था। इसने भारत और हिन्दू जाति को नवजीवन प्रदान किया । '' स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ. प्रकाष में निर्भीकतापूर्वक लिखा कि ''विदेषी राज्य से चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो स्वदेषी राज्य चाहे उसमें कितनी ही त्रुटियां क्यों न हो अच्छा है ।''

धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण में थियोसॉफिकल सोसायटी और श्रीमती एनी बेसेण्ट का भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। थियोसॉफिकल सोसायटी की स्थापना न्यूयार्क में एक रूसी महिला मेडम ब्लैवेट्स्की तथा अमरीकी कर्नल अल्काट द्वारा 1875 ई0 में की गयी थी। 1879 ई. में ये दोनों भारत आये और मद्रास प्रान्त के अडयार नामक स्थान को उन्होंने अपना मुख्यालय बनाया । विदेषी व्यक्तियों की इस संस्था द्वारा हिन्दू धर्म का गुणगान किए जाने से हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। श्रीमती बेसेण्ट इस संस्था की मुख्य कार्यकर्ता बन गयीं और ब्लैवेट्स्की, कर्नल अल्कॉट तथा श्रीमती बेसेण्ट ने अपने जोरदार लेखों और कार्यों द्वारा भारतीय राश्ट्रीयता को प्रोत्साहित किया। स्वामी रामकृश्ण और उनके षिश्य स्वामी विवेकानन्द तथा उनके द्वारा स्थापित 'रामकृश्ण मिषन' ने भी इस दिषा में महत्वपूर्ण कार्य किया। इस श्रेणी के अन्य सुधार आन्दोलनों में राधास्वामी आन्दोलन, देवसमाज आन्दोलन, बहावी आन्दोलन तथा अलीगढ़ आन्दोलन का नाम लिया जा सकता है।

इन धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलनों ने राश्ट्रीय जागषति उत्पन्न करने की दिषा में अपूर्व कार्य किया। इन सुधार आन्दोलनों ने एक पश्ठभूमि तैयार की और वातावरण निर्मित किया, जिसके आधार पर राश्ट्रीयता की भावना विकसित हो सकी और भारतीय स्वतंत्रता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सका। इन आन्दोलनों ने धर्म व समाज की एकता के आधार पर देषव्यापी एकता और संगठन को जन्म दिया। ए. आर. देसाई ने इन सुधार आन्दोलनों के सम्बन्ध में लिखा है कि ''ये आन्दोलन कम अधिक मात्रा में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक समानता के लिए संघर्श थे और इनका चरम लक्ष्य राश्ट्रवाद था । ''

(4) ऐतिहासिक अनुसन्धान – ऐतिहासिक अनुसन्धानों ने भी भारत में राश्ट्रीय आन्दोलन के उदय को गति प्रदान की । साहित्य, धर्म और संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान सर विलियम जोन्स, मैक्समूलर, जैकोबी, कौलबुक, रौथ, ए.बी. कीथ, डा० भण्डारकर और हर प्रसाद षास्त्री आदि ने भारतीयों के सम्मुख भारतीय राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास का एक ऐसा विवरण प्रस्तुत किया जो किसी भी रूप में समकालीन यूरोपियन सभ्यताओं से हीन नहीं था। मध्य एषिया में कार्य कर रहे यूरोपियन विद्वानों ने इस तथ्य को भी प्रकट किया कि भूतकाल में भारत का सांस्कृतिक साम्राज्य पामीर, मलाया, इण्डोनेषिया और मैकांग की उपजाऊ घाटी तक विस्तृत रहा है। इन ऐतिहासिक अनुसन्ध नों ने स्वाभाविक रूप से भारतीयों में अपनी पुरातन सभ्यता और संस्कृति के प्रति गौरव की भावना जगाने के साथ–साथ उनके उज्ज्वल भविश्य का चित्र भी प्रस्तुत किया । मजूमदार के अनुसार, 'यह खोज भारतीयों के हृदय में चेतना उत्पन्न करने में असफल नहीं हो सकती थी जिसके परिणामस्वरूप उनके हृदय राश्ट्रीयता की भावना व देष भक्ति से भर गए ।'

(5) पाष्चात्य षिक्षा ''भारत में ब्रिटिष षासन द्वारा पाष्चात्य षिक्षा प्रारम्भ किए जाने का उद्देष्य यह था कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का पूर्णरूप से लोप हो जाए और एक ऐसे वर्ग का निर्माण हो, जो रक्त और वर्ण से तो भारतीय हो, किन्तु जो रुचि, विचार, षब्द और बुद्धि से अंग्रेज हो जाए'' द्य कुछ सीमा तक अंग्रेज इस मनोरथ में सफल भी हुए, क्योंकि कुछ

षिक्षित भारतीयों ने प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति से विमुख होकर स्वयं को पाष्चात्य रंग में ढालना प्रारम्भ कर दिया । लेकिन पाष्चात्य षिक्षा का एक दूसरा पक्ष भी था कि अंग्रेजी साहित्य स्वतंत्रता की उदात्त भावना से परिपूर्ण है अतः इससे राश्ट्रीयता और स्वतंत्रता की भावना को प्रोत्साहन मिला। इस दृश्टि से पाष्चात्य षिक्षा भारत के लिए एक ईष्वरीय देन सिद्ध हुई ।

पाष्चात्य षिक्षा के कारण भारतीय सर्वोत्तम अंग्रेज विचारकों के सम्पर्क में आये। उन्हें मिल्टन, बर्क, मिल, मैकाले और हरबर्ट स्पेंसर आदि विचारकों की कृतियों का ज्ञान प्राप्त हुआ, जिनके द्वारा उनमें स्वतंत्रता, राश्ट्रीयता और स्वराज्य की जीवनदायिनी भावनाओं का संचार हुआ। उनके संकीर्ण विचारों में परिवर्तन हुआ और उनका दृश्टिकोण व्यापक हो गया । इन सबके परिणामस्वरूप उनका तत्कालीन राजनीति से असन्तुश्ट होना स्वाभाविक था । भारतीयों पर पष्चिमी षिक्षा के प्रभाव के सम्बंन्ध ए. आर. देसाई लिखते हैं कि "षिक्षित भारतीयों ने अमरीका, इटली और आयरलैण्ड के स्वतंत्रता संग्रामों के सम्बन्ध में पढ़ा। उन्होंने ऐसे लेखकों की रचनाओं का अनुषीलन किया जिन्होंने व्यक्तिगत और राश्ट्रीय स्वाधीनता के सिद्धान्तों का प्रचार किया है। ये षिक्षित भारतीय भारत के राश्ट्रीय आन्दोलन के राजनीतिक और बौद्धिक नेता हो गये।'' इस सम्बन्ध में यह

1. राश्ट्रीय आन्दोलन के उदग

लिए में थियोसोफिकल सोसाय की क्या भूमिका थी?

2. जाति विभेद की नीति ब्रिटिष षासन के प्रति भारतीयों के भन किस तरह विद्रोह और राश्ट्रवाद की चेतना जगाने में सहायक रही? 3. आप किस आधार पर कह सकते हैं कि कांग्रेस एक राश्ट्रीय संगठन के रूप में उभर चुका था और इसकी षक्ति निरंतर बढ़ रही थी?

स्मरणीय है कि राजा राममोहन राय, दादाभाई नौरोजी, व्योमेषचन्द्र बनर्जी, फिरोजषाह मेहता, गोपालकृश्ण गोखले और दिनषा वाचा जैसे भारतीय राश्ट्रीयता के ये सभी सन्देषवाहक अंग्रेजी 'षिक्षा की देन थे।

भारतीयों को राश्ट्रीयता, स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के सर्वोत्तम विचारों का ज्ञान प्रदान करने के अतिरिक्त पाष्चात्य षिक्षा ने अंग्रेजी भाशा के रूप में सम्पूर्ण भारत के व्यक्तियों को पारस्परिक विचार विनिमय का साधन प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप भारतवासी एक—दूसरे के निकट सम्पर्क में आए। अंग्रेजी भाशा ने भारतीयों को एक मंच पर लाने, सामान्य समस्याओं पर विचार करने और कार्य की सामान्य योजना के निर्माण का पथ प्रषस्त किया।

इस प्रकार पाष्चात्य षिक्षा के द्वारा उदीयमान भारतीय राश्ट्रवाद को नवजीवन प्रदान किया गया। लार्ड मैकाले ने कहा था कि ''उस दिन को, जब यूरोपियन ज्ञान, प्राप्तं भारतीय यूरोपियन संस्थाओं की मांग करेंगे, मैं ब्रिटिष इतिहास का सर्वाधिक गौरवपूर्ण दिवस समझंगा ।'' मैकाले का यह स्वप्न बहुत षीघ्र सार्थक हो गया, इतना षीघ्र जिसकी उसने कभी कल्पना भी न की होगी।''

(6) भारतीयों का विदेष गमन — 19वीं सदी से अनेक भारतीय षिक्षा प्राप्ति तथा अन्य कार्यों से विदेष जाने लगे। उन्होंने वहाँ प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों तथा संगठनों को कार्यरत देखा और स्वतंत्रता, समानता तथा और भ्रातष्त्व का पाठ पढ़ा। वे इन विचारों और सिद्धान्तों से प्रभावित हुए और उस दिन का स्वप्न देखने लगे जब भारत में भी प्रजातान्त्रिक विचारों और संस्थाओं को मूर्त रूप प्राप्त होगा। गुरुमुख निहालसिंह का कथन है कि, 'इंग्लैण्ड में उन्हें स्वतंत्र राजनीतिक संस्थाओं की कार्यविधि का गहरा ज्ञान प्राप्त हो जाता था, वे समानता और स्वाधीनता को मूल्य समझ जाते थे तथा उनके मन में जमी हुई दासता की मनोवषत्ति घट जाती थी।''

(7) भारतीय समाचार–पत्रों तथा देषी साहित्य का विकास– मुनरो ने लिखा है कि, 'एक स्वतंत्र प्रेस और विदेषी राज एक दूसरे के विरुद्ध हैं और ये दोनों एक साथ नहीं चल सकते।'' भारतीय समाचार–पत्रों पर भी यह बात पूरी तरह सही उतरती है। पाष्चात्य षिक्षा के प्रभाव से देष में प्रेस का विकास हुआ और समाचार–पत्रों की संख्या में आषातीत वषद्धि हुई। भारतीय समाचार पत्रों ने अंग्रेजी पत्रों में भारत विरोधी प्रचार का करारा उत्तर दिया और भारतीयों को विदेषी षासन की बुराइयों से परिचित कराया। इस श्रेणी के समाचार पत्रों में सम्वाद कौमुदी (1821), बॉम्बे समाचार (1882), बंगदूत (1831), रास्त गुफ्तार (1851) अमष्त बाजार पत्रिका (1868). ट्रिब्यून (1877) का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।

इस काल में कुछ ऐसे लेखक भी हुए, जिनकी रचनाओं ने राश्ट्रीयता के विकास में बहुत योग दिया । बंकिमचन्द्र ने 'आनन्दमठ' तथा 'वन्देमातरम्' की रचना की, जिन्होंने बंगाल में क्रांतिकारी राश्ट्रवाद की पाठ्य–पुस्तक का कार्य किया। बंगला भाशा के अतिरिक्त हिंन्दी, गुजराती, मराठी और तमिल में भी ऐसे साहित्य का सष्जन हुआ, जिसने राश्ट्रीय आन्दोलन के उदय में योग दिया।

–

:

(8) आर्थिक असन्तोश मि0 गैरट का विचार है कि, ''राश्ट्रीयता में षिक्षित वर्ग का अनुराग, हमेषा ही कुछ हद तक धार्मिक और कुछ हद तक आर्थिक कारणों से हुआ है।'' यह कथन भारतीय राश्ट्रीयता पर पूरे–पूरे रूप में घटित होता है। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना का उद्देष्य भारत के साथ व्यापार करते हुए इस

देष का आर्थिक षोशण करना था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी और बाद में ब्रिटिष षासन द्वारा किए गए इस देष के आर्थिक षोशण का ही यह परिणाम था कि जिस भारत को 17वीं सदी तक सोने की चिड़या' कहा जाता था, उसी भारत के सम्बन्ध में 1900 ई. में सर विलियम डिग्वी ने लिखा, करीब 10 करोड़ मनुश्य ब्रिटिष भारत में ऐसे है, जिन्हें 'किसी समय भी भर–पेट अन्न नहीं मिलता– इस अधःपतन की दूसरी मिसाल इस 'समय किसी सभ्य और उन्नतिषील देष में कहीं पर भी दिखाई नहीं दे सकती ।'' इस आर्थिक षोशण के राजनीतिक परिणाम उत्पन्न होने स्वाभाविक थे।

कम्पनी ने भारत के उद्योग धन्धों को प्रायः समूल नश्ट कर दिया और व्यापार पर उसका पूर्ण अधिकार स्थापित हो गया, जिससे भारतीय जनता निर्धनता और भुखमरी का षिकार होती गयी। उद्योग धन्धों के विनाष का स्पश्ट परिणाम यह हुआ कि उद्योग धन्धों में कार्य करने वाले व्यक्ति कृशि की ओर झुके, जिससे भूमि पर दबाव बहुत अधिक बढ़ गया। सरकार ने कृशि की उन्नति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, जिससे किसानों की दषा षोचनीय होनी प्रारम्भ हो गयी। आये दिन के अकालों ने स्थिति को और भी अधिक दयनीय बना दिया। ब्रिटिष षासन ने औद्योगिक दृश्टि से विकसित देष इंग्लैण्ड और पिछड़े हुए देष भारत के बीच स्वतंत्र व्यापार की नीति अपनायी जिससे गिरते हुए भारतीय उद्योग धन्धे पूर्णतया समाप्त ही हो गये। भारतीयों ने इस सत्य को समझ लिया कि उनकी इस दयनीय स्थिति का दोश विदेषी षासन पर है और उसका अन्त करने की दिषा में प्रयन्त किए जाने चाहिए। अंग्रेजी षासन की आर्थिक नीतियों से असन्तुश्ट होकर ही भोलानाथ चन्द्र ने 1877 में लिखा, 'ब्रिटिष षासन का विरोध करने के लिए हमारे द्वारा विदेषी वस्तुओं के बहिश्कार की नीति अपनायी जानी चाहिए।''

(9) भारतीयों को उच्च पदों से अलग रखने की नीति– 1833 के अधिनियम में कहा गया था कि सरकारी नौकरियों में प्रवेष योग्यता के आधार पर ही दिया जायेगा और किसी भी भारतीय को धर्म, जन्मस्थान, वंष और वर्ण के कारण कोई पद प्रदान करने में बाध उपस्थित नहीं की जाएगी। इसी प्रकार की नीति को 1858 की साम्राज्ञी की घोशणा में भी दुहराया गया था, लेकिन व्यवहार में इस नीति का पालन करने के स्थान पर इसे भंग ही किया गया।

. भारतीयों को उच्च पदों, विषेशतया 'भारतीय नागरिक सेवा (प्ब्ै.) से अलग रखने के विधि ावत् प्रयत्न किए गए। इस सेवा में प्रवेष की आयु 21 वर्श थी, परीक्षा केवल इंग्लैण्ड में होती थी और परीक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाशा ही थी। ऐसी स्थिति में भारतीयों के लिए नागरिक सेवा में प्रवेष करने हेतु ब्रिटेनवासियों से प्रतियोगिता करना अत्यधिक : कंठिन था । इतना सब कुछ होने पर भी यदि सुरेन्द्र नाथ बनर्जी या अरविन्द घोश जैसे मेहः गवी विद्यार्थी परीक्षा में सफल हो जाते, तो घुड़सवारी जैसी कुछ गौण बातों के आधार पर उन्हें सेवा में प्रवेष से रोक दिया जाता था (अरविन्द घोश के साथ ऐसा किया गया) या सेवा में प्रवेष कर लेने के बाद मामूली सी गलती के आधार उन्हें अलग कर दिया जाता था। (सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के साथ ऐसा ही किया गया) ।

सन् 1877 में नागरिक सेवा में प्रवेष की आयु 21 वर्श के स्थान पर 19 वर्श कर दी गयी, जिससे भारतीयों के लिए इस प्रतियोगिता में षामिल होना असम्भव ही हो गया। ऐसी स्थिति में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ब्रिटिष सरकार के इस कार्य का विरोध करने का निष्चय किया और इस प्रष्न पर राश्ट्रीय जनमत के निर्माण हेतु सम्पूर्ण देष का दौरा किया। उन्होंने तथा 1876 में इण्डियन एसोसियेषन (प्दकपंद ।ेेवबपंजपवद) की स्थापना की. जिसे कांग्रेस की पूर्ववर्ती संस्था कहा जा सकता है। इस प्रकार भारतीयों को उच्च पदों से अलग रखने की नीति ने प्रभावषाली षिक्षित भारतीयों में असन्तोश की ज्वाला उत्पन्न कर दी।

1

(10) जाति – विभेद नीति सन् 1857 के विद्रोह के पूर्व भारत स्थित अंग्रेजों और भारतीयों के सम्बन्ध पर्याप्त अच्छे थे, किन्तु विद्रोह के बाद ब्रिटिष षासन ने जाति–विभेद की जो नीति अपनायी, उसके परिणामस्वरूप इस मधुरता का स्थान पारस्परिक घृणा और कटुता ने ले लिया।

अब वे (अंग्रेज) भारतीयों को 'आधे वनमानुश और आधे जंगली (भ्ंस िळवतपससं, भ्ंसि छमहतव) कहने लगे। भारत में जब वे अपने उन देषवासियों के सम्पर्क में आते थे, जिन्हें विद्रोह के भयंकर अनुभव थे, तो भारतीयों के प्रति उनकी घष्णा की भावनाएँ दृढ़तर हो जाती थीं। ऐसे व्यक्तियों के लिए भारतीयों के साथ घुलना मिलना या मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना असम्भव था। मि. गैरट के अनुसार, 'उन्होंने अपने लिए एक विचित्र व्यवहार नीति अपनायी, जिसके तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्त थे । प्रथम, यह कि एक यूरोपियन का जीवन अनेक भारतीयों के जीवन के बराबर है। द्वितीय, प्राच्य देषवासियों पर 'केवल भय के आध ाार पर ही षासन किया जा सकता है। तष्तीय, वे यहाँ लोकहित

के लिए नहीं वरन् अपने निजी लाभ और ऐष्वर्य के लिए आये है ।''

भारत स्थित ब्रिटिष सरकार और अंग्रेजों की मनमानी तथा आतंकपूर्ण नीति भारतीयों को विषेश रूप से खटकती थी। 1872 के मालेरकोटला उपद्रवों में, बिना अभियोग (मुकदमा चलाए 49 सिखों को तोप से उड़वा दिया गया था। इसके नितान्त विपरीत, भारतीयों के साथ अंग्रेजों के बर्बरतापूर्वक व्यवहार या भारतीयों की हत्या की जो घटनाएँ– घटित होती थीं, उनमें अंग्रेज अपराधियों को छोड़ दिया जाता था या मामूली सी सजा दे दी जाती थी । जाति – विभेद की उपर्युक्त नीति और इन सभी घटनाओं का परिणाम था, जातीय कटुता में वष्द्धि । इस सम्बन्ध में गैरट ने ठीक ही कहा है कि, ''भारतीय राश्ट्रीयता की बढ़ोत्तरी में उपर्युक्त कटुता की भावना एक बड़ा कारण थी।''

(11) यातायात तथा संचार के साधनों का विकास. 1860–70 के वर्शों में सड़कों, रेलों डाक और तार, यातायात तथा संचार के द्रुत साधनों के विकास से भी राश्ट्रीय भावना की वष्द्धि में सहायता मिली इन साधनों के कारण भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले . देष के षुभचिन्तक आपस में बार–बार मिलकर देषहित में कार्य करने की योजना बना सकते थे और जनता से व्यक्तिगत तथा सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकते थे। गुरुमुख निहालसिंह के षब्दों

में, संचार के इन साधनों ने सारे देष को गूंथकर एक कर दिया और भौगोलिक एकता को एक मूर्त वास्तविकता बना दिया।'' यातायात के इन साधनों के कारण ही श्री बनर्जी का नागरिक सेवा सम्बन्धी अखिल भारतीय दौरा सम्भव हो सका। इन साधनों के विकास से राश्ट्रीय आन्दोलनों को बल प्राप्त हुआ !

(12) विदेषी आन्दोलनों का स्वस्थ प्रभाव इटली, जर्मनी, रूमानियां और सर्विया के राजनीतिक आन्दोलनों, फ्रांस में तष्तीय गणतन्त्र की स्थापना और इंग्लैण्ड में सुधार कानूनों का पारित होना आदि घटनाओं ने भारतीयों के मस्तिश्क पर प्रभाव डाला। इन आन्दोलनों ने भारतीयों में राश्ट्रीयता की भावना को दृढ़ता प्रदान की और उन्हें अपनी मातष्भूमि की स्वाध ीनता हेतु संघर्श के लिए प्रेरित किया । मजूमदार के षब्दों में, ''भारतीय सीमा के बाहर घटित इन घटनाओं ने भारतीय राश्ट्रवाद की धारा को स्वाभाविक रूप से प्रभावित किया ।''

(13) लार्ड लिटन की दमनात्मक नीति दृ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि, ''राजनीतिक प्रगति के विकास में बुरे या क्रूर षासक एक गुप्त वरदान के रूप में आते हैं। उनके कारण समाज में ऐसी जागृति उत्पन्न होती है जैसी वर्शों के प्रचार और आन्दोलन से भी उत्पन्न न हो ।'' बनर्जी का यह कथन भारत में लार्ड लिटन के सम्बन्ध में पूर्ण तथा सत्य सिद्ध होता है।

.

☐

लार्ड लिटन ने अपने षासनकाल (1876–80) में ऐसे कार्य किए जिनसे भारतीय राश्ट्रीयता को प्रोत्साहन मिला। भारतीय नागरिक सेवा की आयु 21 वर्श से घटाकर 19 वर्श करने का कार्य 1876 में ही हुआ। इसके बाद लार्ड लिटन ने 1 जनवरी 1877 को विक्टोरिया को 'भारत की महारानी घोशित करने के लिए दिल्ली में एक विषाल दरबार का आयोजन किया। यह षानषौकतपूर्ण दरबार उस समय किया गया था, जबकि दक्षिण भारत में बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा था। भारतीय समाचार–पत्रों ने इसके विरुद्ध आवाज उठायी। एक समाचार–पत्र ने तो यहां तक लिख दिया कि, 'जब रोम जल रहा था, तब नीरो बांसुरी बजा रहा था। यह दरबार एक और रूप में भारतीय राश्ट्रीयता के लिए वरदान सिद्ध हुआ । इस दरबार में बनर्जी एक प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित हुए और यहीं उनके मस्तिश्क में यह भावना जाग्रत हुई कि यदि एक स्वेच्छाचारी वायसराय की प्रषंसा के लिए देष के राजा तथा अमीर–उमरावों को एकत्र किया जा सकता है तो देषवासियों को न्यायसंगत ढंग से, स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए क्यों नहीं संगठित किया जा सकता। इसी वर्श जब भारतीय जनता भूखों मर रहीं थी, भारत से इंग्लैण्ड को 80 लाख पौण्ड के अन्न का निर्यात किया गया। इधर घोर दुर्भिक्ष, उधर षाही दरबार और अन्न के निर्यात का यह दृष्य भारतीयों के हृदय को वेध ाने वाला था ।

☐

लार्ड लिटन की अफगानास्तिन पर आक्रमण की नीति ने भी भारतीयों को असन्तुश्ट किया, क्योंकि अफगानिस्तान पर आक्रमण करने में जो दो करोड़ स्टलिंग का खर्च हुआय वह भारत की निर्धन जनता पर पड़ा। 1878 में भारतीय सेना को सायप्रस भेजने के कार्य का भी भारतीय जनता ने विरोध किया। 1878 में लिटन षासन द्वारा वर्नाक्यूलर प्रेस

क्ट पारित किया गया, जिससे भारतीय भाशाओं के समाचार–पत्रों पर कठोर नियन्त्रण स्थापित हो गया। भारत के षिक्षित वर्ग ने इसे गैगिंट एक्ट' का नाम दिया। समस्त देष में और विषेशतया बंगाल में इस कानून का इतना प्रबल विरोध हुआ कि अन्त में बाध्य होकर लार्ड रिपन को यह कानून रद्द करना पड़ा।

लार्ड लिटन का एक अन्य कुत्सित कार्य 'भारतीय षास्त्र अधिनियम था । इस अधिनियम के अनुसार भारतीय बिना लाइसेंस कोई भी षास्त्र लेकर नहीं चल सकते थे जबकि

यूरोपियनों या ऐंग्लो इण्डियनों पर इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध न था । स्वाभाविक रूप से भारतीय जनता ने इस कानून को अपना घोर अपमान समझा ।

लॉर्ड लिटन की आर्थिक नीति भी असन्तोश उत्पन्न करने वाली थी। उसने अपनी परिशद् के अधिकांष सदस्यों की राय के विरूद्ध लंकाषायर के उद्योगपतियों के हितों की रक्षा के लिए विदेषी सूती कपड़े पर से आयात कर हंटा दिया जिससे भारत के सूती वस्त्र उद्योग को बहुत हानि पहुंची। इससे भारत सरकार की आय का एक बहुत बड़ा साधन भी समाप्त हो गया। लॉर्ड लिटन के उपर्युक्त कार्य देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी नियुक्ति ही उन सभी अप्रिय और गन्दे कार्यों को करने के लिए हुई थी, जिन्हें उनके पूर्ववर्ती लॉर्ड नार्थब्रूक ने करने से इन्कार कर दिया था। लॉर्ड लिटन के इन कार्यों के परिणामस्वरूप ब्रिटिष षासन के प्रति भारतीय जनता का असन्तोश बहुत उग्र हो गया। सर विलियम

वैडरबर्न ने ब्लंट से कहा था कि ''लार्ड लिटन के षासनकाल के अन्त में स्थिति विद्रोह की सीमा तक पहुंच गयी थी।''

(14) इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद – अब तक जातीय भेद की नीति के कारण भारतीय जज अंग्रेजों के मुकदमे नहीं सुन सकते थे। लार्ड लिटन के बाद लार्ड रिपन के षासनकाल में 1883 में तत्कालीन विधि सदस्य मि. इल्बर्ट ने व्यवस्थापिका परिशद में एक विधेयक रखा, जिसमें भारतीय जजों की अंग्रेजों के विरुद्ध मुकदमे सुनने का अधिकार देने का प्रस्ताव था । परन्तु इस विधेयक के पेष होते ही भारत के समस्त अंग्रेजों ने इसका विरोध किया और विधेयक के विरुद्ध संगठित रूप में आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। यह झगड़ा कई . महीनों तक चलता रहा और अन्त में समझौता हुआ, जिसके आधार पर भारतीय जजों को अंग्रेजों के मुकदमे सुनने का अधिकार तो दिया गया, परन्तु यह षर्त लगा दी गयी कि भारतीय जज उस मुकदमे की सुनवाई ऐसी जूरी की सहायता से ही कर सकते हैं, जिसके कम–से–कम आधे सदस्य अंग्रेज हों।

इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद ने भारतीयों को दो बातें सिखाय : एक तो यह कि बिना संगठित रूप से आन्दोलन किए उनकी मांगें पूरी नहीं हो सकतीं और दूसरी यह कि इस प्रकार का आन्दोलन कैसे किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में सर हैनरी कॉटन ने लिखा है कि इस विधेयक और इसके विरोध में किये गये आन्दोलन ने भारतीय राश्ट्रीयता पर जो प्रभाव डाला, वह प्रभाव विधेयक के मूल रूप में पारित होने पर कभी नहीं हो सकता था ।''

उपर्युक्त तत्वों के परिणामस्वरूप भारत के लोगों नें इस चेतना का विकास हुआ कि. उनकी दयनीय स्थिति के लिए ब्रिटिष षासन ही उत्तरदायी है और इस चेतना ने ही 'भारतीय राश्ट्रीय कांग्रेस' (प्दकपंद छंजपवदंस ब्वदहतमे) को जन्म दिया।

कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठन– 1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना का कार्य विचारों या संगठन की दृश्टि से आकस्मिक नहीं था। भारतीय राश्ट्रीय कांग्रेस के पूर्व भी कुछ राजनीतिक संगठन स्थापित किए गए थे और उनके द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया जा रहा था। कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठनों में प्रमुख थे– ब्रिटिष इण्डियन एसोसियेषन (1851), इण्डिया लीग (1875), इण्डियन एसोसियेषन (1876), पूना सार्वजनिक सभा (1867), बॉम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसियेषन और महाजन सभा (1881), आदि ।

कांग्रेस की स्थापना – उपर्युक्त संस्थाओं के द्वारा विभिन्न प्रान्तों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने का कार्य किया जा रहा था। 1876 के बाद लार्ड लिटन के अविवेकपूर्ण कार्यों और उसके बाद लार्ड रिपन के षासनकाल में इल्बर्ट विधेयक सम्बन्धी विवाद ने अखिल भारतीय स्तर के राजनीतिक संगठन की आवष्यकता स्पश्ट की। इन परिस्थितियों में सर्वप्रथम सम्भवतया एक अवकाष प्राप्त अंग्रेज अधिकारी एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम को ही इस संस्था का जन्मदाता समझा जाता है। ह्यूम की योजना सम्भवतया एक ऐसे संगठन का निर्माण करने की थी, जो प्रमुख रूप से सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में कार्य करते हुए भारत की स्थिति में सुधार लाता ह्यूम ने जब यह योजना नये गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन के सामने

रखी तो लार्ड डफरिन ने प्रस्तावित संगठन के कार्यक्षेत्र को बढ़ाने का सुझाव देते हुए कहा कि इस संगठन के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में भी कार्य किया जाना चाहिए।

ह्यूम ने अपनी योजना में वायसराय के निर्देष के अनुसार परिवर्तन किया और वे इंग्लैण्ड पहुँचे। इंग्लैण्ड में उन्होंने वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों लार्ड रिपन, डलहौजी, जॉन ब्राइट और स्लेग आदि से विचार–विनिमय किया। इंग्लैण्ड से वापस आने पर यह निष्चित किया गया कि कांग्रेस का प्रथम अधिवेषन पूना में 25 से 28 सितम्बर, 1885 तक होगा ! लेकिन पूना में हैजा षुरू हो जाने पर अधिवेषन पूना के स्थान पर बम्बई में किया गया द्य 28 दिसम्बर 1885 को दिन के 11 बजे गोकुलदास तेजपाल, संस्कृत कॉलेज के भवन में कांग्रेस का प्रथम अधिवेषन आरम्भ हुआ, जिसकी अध्यक्षता कलकत्ता के प्रसिद्ध बैरिस्टर व्योमेषचन्द्र बनर्जी द्वारा की गयी ।अधिवेषन में भारत के अनेक व्यक्ति – दादाभाई नौरोजी, फिरोजषाह मेहता, दीनषा एदलषी वाचा, काषीनाथ तैलंग, नारायण गणेष चन्द्रावरकर, पी. आनन्दचालू, वी. राघवाचार्य, सुब्रह्मण्यम् आदि उपस्थित थे। यह समस्त कार्य सरकारी आषीर्वाद से किया गया था। कूपलैण्ड ने लिखा है, ''भारतीय राश्ट्रीयता ब्रिटिष राज की षिषु थी और ब्रिटिष अधिकारियों ने उसके पालने को आषीर्वाद दिया ।'' अधिवेषन में विलियम वेडरबर्न और रानाडे जैसे सरकारी अधिकारी भी उपस्थित थे।, कांग्रेस के उद्देष्य कांग्रेस के प्रथम अधिवेषन के सभापति श्री व्योमेषचन्द्र बनर्जी ने कांग्रेस की गुरुता की ओर प्रतिनिधियों का ध्यान आकर्शित करते हुए इसके उद्देष्य इस प्रकार बताये थे : (1) साम्राज्य के विभिन्न भागों में देषहित के लिए लगन से कार्य करने वाले व्यक्तियों के बीच घनिश्ठता और मित्रता के सम्बन्ध ा स्थापित करना ।

(2) समस्त देषवासियों में वंष, धर्म और प्रान्त सम्बन्धी दूशित संस्कारों को मिटाकर राश्ट्रीय ऐक्य की भावनाओं का पोशण और परिवर्द्धन करना ।

कृ (3) महत्वपूर्ण और आवष्यक सामाजिक प्रष्नों पर भारत के षिक्षित लोगों में अच्छी तरह चर्चा होने के बाद प्राप्त परिपक्व सम्पत्तियों का संग्रह करना ।

(4) उन तरीकों और दिषाओं का निर्णय करना, जिनके द्वारा भारत के राजनीतिज्ञ देषहित के कार्य करें।

कांग्रेस की स्थापना के आधारभूत कारण से सम्बन्धित विवाद (ब्वदजतवअमतेल बवदबमतदपदह जीम ठपतजी व ब्वदहतमे) – ए. ओ. ह्यूम तथा उनके सहयोगियों के कांग्रेस को संगठित करने के वास्तविक उद्देष्य क्या थे, इस सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती है

अभयदीप की धारणा – पहली धारणा के अनुसार कांग्रेस की स्थापना देष में व्याप्त व्यापक असन्तोश के लिए अभयदीप ँ(मिसल टंसअम) के रूप में की गयी अर्थात् कांग्रेस का जन्म ब्रिटिष साम्राज्य की रक्षा के लिए हुआ था। लार्ड लिटन के दमनकारी षासन की समाप्ति पर भारत क्रांति के बहुत अधिक समीप पहुंच चुका था। भारतीय जनता की दयनीय दरिद्रता और षिक्षित नवयुवकों का घोर असन्तोश क्रांति का रूप ग्रहण करने वाला था । ह्यूम को विष्वसनीय सूत्रों से इस बात का ज्ञान हो गया था कि राजनीतिक अषान्ति अन्दर ही अन्दर बढ़ रही है। दक्षिण के कृशक विद्रोह तथा बंगाल के उग्र क्रांतिकारियों की गतिविधि यों ने दूरदर्षी ह्यूम को भावी खतरे की पूर्वसूचना दे दी थी। ह्यूम साहब जन आन्दोलन की इस क्रांतिकारी भावना से बहुत चिन्तित थे। अतः उन्होंने जनता के असन्तोश को क्रांति का रूप ग्रहण करने से रोकने के लिए इस 'अभयदीप' को जन्म दिया, जो कि कांग्रेस थी । ह्यूम के जीवनी – लेखक सर विलियम वेडरबर्न के अनुसार ह्यूम ने एक बार कहा था कि ''भारत में असन्तोश की बढ़ती हुई षक्तियों से बचने के लिए 'अभयदीप ँ(जमसल टंसअम) की आवष्यकता है और कांग्रेस आन्दोलन से बढ़कर अभयदीप दूसरी कोई चीज नहीं हो सकती।

लाला लाजपतराय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'यंग इण्डिया में उपर्युक्त धारणा का ही प्रतिपादन करते हुए लिखा कि ''भारतीय राश्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का मुख्य उद्देष्य यह था कि इस संस्था के संस्थापक ब्रिटिष साम्राज्य की संकटों से रक्षा करना और उसको छिन्न–भिन्न होने से बचाना चाहते थे ।'' डॉ. नन्दलाल चटर्जी ने भी अपने एक लेख में यही विचार व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में रजनी पामदत्त ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक प्दकपं ज्वकंल' में यहां तक कह दिया है कि ''कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिष सरकार की एक पूर्व निष्चित गुप्त योजना के अनुसार की गयी थी।''

यह स्पश्ट है कि कांग्रेस ने मि ह्यूम और उन ब्रिटिष अधिकारियों की आषाओं को, जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना में योग दिया था, पूर्ण किया। वह षिक्षित भारतीयों के असन्तोश के आकर्शण का केन्द्र बन गयी। कांग्रेस के मंच से इस बैचेनी और असन्तोश को वैधानिक रूप में व्यक्त किया जाने लगा और इस प्रकार कांग्रेस राश्ट्रीय असन्तोश को व्यक्त करने का षान्तिमय साधन बन गयी ।

राश्ट्रीय संस्था के रूप में स्थापना कांग्रेस की स्थापना के सम्बन्ध में इस दूसरी धारणा का प्रतिपादन किया जाता है कि कांग्रेस की स्थापना भारतवासियों के हितार्थ एक राश्ट्रीय संस्था के रूप में की गयी। यदि कांग्रेस की स्थापना के सम्बन्ध में प्रतिपादित 'अभयदीप की धारणा को स्वीकार कर लिया जाय, तो यह न केवल ह्यूम वरन् उन भारतीय नेताओं पर भी आक्षेप होगा, जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना में सहयोग दिया था। सुश्री एनी बेसेण्ट लिखती हैं कि ''राश्ट्रीय कांग्रेस का जन्म मातष्भूमि की रक्षा के हित में 17 प्रमुख भारतीयों तथा ह्यूम साहब के द्वारा हुआ था ।'' यहां पर गुरुमुख निहाल सिंह के विचार का उल्लेख करना भी उचित होगा, जिन्होंने यह लिखा है कि ''यह सम्भव है कि ब्रिटिष साम्राज्य को बचाने तथा कांग्रेस का प्रयोग एक अभयदीप की तरह करने के विचार ह्यूमं तथा बेडरबर्न के ह्दयों में हो किन्तु इस बात पर विष्वास करना असम्भव है कि दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोजषाह मेहता और रानाडे जैसे भारतीय नेता इनके हाथों में साधन मात्र थे या वे भी ब्रिटिष साम्राज्य को क्रान्ति के खतरे से बचाने का विचार रखते थे।''

इसके अतिरिक्त ह्यूम को भी जिनके द्वारा अपने जीवन का काफी बड़ा भाग भारतीय जनता के कल्याण में ही लगाया गया था, कोरा साम्राज्यवादी नहीं कहा जा सकता । यंग इण्डिया के लेखक लाला लाजपतराय भी ह्यूम के उच्च आदर्ष को स्वीकारते हुए लिखते हैंः ''ह्यूम स्वतंत्रता के पुजारी थे और उनका ह्दय भारत की निर्धनता और दुर्दषा पर रोता था वे इस बात को अच्छी तरह समझते थे किं कोई भी षासन चाहे वह देषी हो अथवा विदेषी, बिना किसी दबाव के जनता की माँगों को पूरा नहीं करता। इसलिए वे यह चाहते थे कि भारतीयों के द्वारा स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न किये जाने चाहिए। इस दिषा में प्रथम प्रयत्न संगठित होना था इसलिए उनके द्वारा संगठन का परामर्ष दिया गया।'' इन बातों के आधार पर इतिहासकार डॉ. ईष्वरी प्रसाद लिखते हैं कि ''राश्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भारतीयों के हित की दृश्टि से ही की गयी थी।

वास्तविक स्थिति – कांग्रेस की स्थापना के उद्देष्य के सम्बन्ध में जो उपरोक्त दो दृश्टिकोण व्यक्त किए गए हैं, वे दोनों आंषिक रूप से ही सत्य हैं। कांग्रेस की स्थापना की सही व्याख्या इसी रूप में की जा सकती है कि कांग्रेस की स्थापना में ब्रिटिष साम्राज्य की रक्षा की भावना तो विद्यमान थी, किन्तु इसके साथ ही कांग्रेस की स्थापना के मूल में

भारतीयों के हित का विचार और भारतीयता की भावना भी विद्यमान थी। भारतीय राजनीति में उस समय दो प्रमुख धाराएं थीं। पहले मत के लोग हिंसा के द्वारा ब्रिटिष राज्य का अन्त कर देना चाहते थे। दूसरे मत के लोग ब्रिटिष राज्य का अन्त, कम–से–कम तत्काल अन्त, नहीं चाहते थे। वे भारतीय षासन में भारतीय जनता का ऐसा प्रतिनिधित्व चाहते थे जो बढ़ते–बढ़ते इतना बढ़ जाय कि भारत ब्रिटिष ताज के अन्तर्गत स्वषासन प्राप्त कर ले।

और कांग्रेस की स्थापना में उनके सहयोगी भारतीय राजनीति की इस दूसरी धारा से सम्बद्ध थे और कांग्रेस की स्थापना देष को वैधानिक प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए ही की गयी ।

कांग्रेस : एक राश्ट्रीय संगठन 1885 ई0 में स्थापित भारतीय राश्ट्रीय कांग्रेस अखिल भारतीय स्वरूप का संगठन था। इसका उद्देष्य जाति, धर्म या वर्ण के किसी भेदभाव के बिना सभी भारतवासियों का प्रतिनिधित्व करना था । कांग्रेस का राश्ट्रीय स्वरूप इसी से स्पश्ट हो जाता है कि इसके प्रथम अध्यक्ष व्योमेषचन्द्र बनर्जी भारतीय ईसाई थे, दूसरे दादाभाई नौरोजी पारसी थे, तीसरे बदरुद्दीन तैय्यबजी मुसलमान थे और चौथे तथा पांचवे अध्यक्ष जॉर्ज यूल तथा सर विलियम वेडरबर्न अंग्रेज थे ।

इसमें सन्देह नहीं कि कांग्रेस के अधिकांष सदस्य और पदाधिकारी हिन्दू थे । इसका एक कारण यह है कि भारत की अधिकांष जनता हिन्दू है। कांग्रेस में आनुपातिक रूप में मुसलमानों की संख्या कम होने का कारण यह भी था कि सर सैयद अहमद जैसे प्रभावषाली व्यक्ति मुसलमानों को कांग्रेस से बाहर रखने का पूरा प्रयत्न कर रहे थे। लेकिन कांग्रेस ने सदैव ही मुसलमानों सहित सभी वर्गों के हितों की रक्षा का पूरा–पूरा प्रयत्न किया और इस प्रकार अपने राश्ट्रीय स्वरूप को बनाये रखा।

कांग्रेस की बढ़ती हुई षक्ति– 1885 ई. कांग्रेस के प्रथम अधिवेषन में केवल 72 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे लेकिन समय और परिस्थितियों के अनुकूल होने तथा भारतीय जनता के बढ़ते हुए राश्ट्रीय उत्साह के कारण राश्ट्रीय कांग्रेस की षक्ति में तेजी से और निरन्तर वृद्धि होती गयी। इसके दूसरे, तीसरे और चौथे अधिवेषन में क्रमषः 436, 607 तथा 1248 प्रतिनिधियों ने भाग लिया ।

यद्यपि ब्रिटिष सरकार ने 1888 से ही कांग्रेस को निर्बल करने के प्रयास प्रारम्भ कर दिए थे, लेकिन कांग्रेस की षक्ति में कमी होने के बजाय वृद्धि ही होती गयी और इसने षीघ्र ही अखिल भारतीय संस्था का रूप ग्रहण कर लिया ।

कांग्रेस के प्रति सरकार का दृश्टिकोण ब्रिटिष षासन के सहयोग से की गयी थी । प्रारम्भ के यह तथ्य है कि कांग्रेस की स्थापना तीन वर्शों में कांग्रेस के प्रति षासन का दृश्टिकोण सहयोग और सहानुभूति से पूर्ण रहा। यह स्थिति इस कारण थी कि ब्रिटिष षासन कांग्रेस को अपने लिए एक सहायक संगठन समझता था और 1887 तक यह नहीं सोच पाया था कि कांग्रेस उसके लिए कभी कोई चुनौती बन सकती है ।

परन्तु जब कांग्रेस की षक्ति में तीव्र गति से वृद्धि होने लगीय कांग्रेस उच्च वर्ग के साथ साथ सामान्य जनता से जुड़ने लगी और कांग्रेस के द्वारा सामाजिक, आर्थिक तथा प्रषासनिक सुधारों की सबल रूप में मांग की जाने लगी तब कांग्रेस के प्रति ब्रिटिष सरकार के रुख में परिवर्तन होने लगा। कांग्रेस की स्थापना में सहयोग देने वाले लार्ड डफरिन ने स्वयं अपने कार्यकाल की समाप्ति पर कांग्रेस की निन्दा करते हुए कहा कि, ''मुझे उसका भारतीय जनता के प्रतिनिधित्व का दावा बेबुनियाद लगता है। कांग्रेस तो नगण्य अल्पमत का प्रतिनिधित्व करती है !''

षांसन द्वारा इस बात की असफल कोषिष की गयी कि 1888 के कांग्रेस अधिवेषन के लिए कांग्रेस को कोई उपयुक्त स्थान ही न मिले। सरकारी कर्मचारियों का कांग्रेस– अधि वेषन में दर्षक रूप में उपस्थित होना भी निशिद्ध कर दिया गया। मुसलमानों को कांग्रेस के विरोध में संगठित होने की प्रेरणा दी गयी और षिक्षित भारतीयों में मतभेद उत्पन्न करने के भी प्रयत्न किए गए। इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि लार्ड कर्जन (1898 –1905) की सरकार ने धनी और कुलीन व्यक्तियों पर कांग्रेस से अलग रहने के लिए बहुत दबाव डाला था। रेम्जे मैकडॉनल्ड के षब्दों में, "कांग्रेस के प्रति ब्रिटिष सरकार का दृश्टिकोण प्रारम्भ में मित्रतापूर्ण था, लेकिन बाद में इसने कटु विरोध का रूप ले लिया।'' षासन के इस रवैये ने कांग्रेस की लोकप्रियता में वृद्धि ही की ।

सारांश :

राश्ट्रवाद का जागरण भारतीय राश्ट्रीय आन्दोलन विशय का एक प्रमुख तथ्य है। 16वीं सदी में भारत अपनी समषद्धि और गौरव के चरम उत्कर्श पर था इसी समषद्धि और गौरव से मंत्र मुग्ध होकर और लालायित चाहत से प्रभावित होकर यूरोपीय व्यापारी व्यापार करने हेतु भारत तथा पूर्वी देषों के साथ संबंध स्थापित करने हेतु ईस्ट इंडिया कंपनी के बैनर तले विभिन्न यूरोपीय षक्तियों ने भारतवर्श तथा अन्यपूर्वी देषों के साथ व्यापार लाभ हेतु दाँव पेच खेलना षुरू किया। अनेक यूरोपीय कंपनियों ने भारतवर्श में अपनी व्यापारिक गतिविधियों षुरू की और आपस में प्रतिस्पर्धा करने लगी विषेश रूप से फ्रांसीसी और ब्रिटिष कंपनियों में व्यापार – लाभ में एकाधिकार की लम्बी लड़ाई षुरू हुई। अन्ततः ब्रिटिष ईस्ट कंपनी ने भारतीय अर्थव्यवस्था और षासन व्यवस्था को आपसी फूट और कमजोर सैन्यबल तथा केन्द्रीय संयोजक के अभाव अपने कस्बे में ले लिया और ब्रिटिष षासनकी मजबूत नींव डालने में सफलता पाई। इस तरह भारतवर्श ब्रिटिष भारत कहलाने को बाध्य हुआ । इसके आगे भारतीय राजनीति धर्म अर्थ व्यवस्था समाज और सैन्य क्षेत्रा में अनेक ऐसी प्रवषत्तियों का उदय हुआ जिनके कारण भारतीय जनता को ब्रिटिष षासन का प्रबल विरोधी बना दिया । स्व प्रगति परीक्षण के उत्तर :

1. थियोसॉफिकल सोसायटी की स्थापना न्यूयार्क में एक रूसी महिला मेडम ब्लैवेट्स्की तथा अमरीकी कर्नल अल्काट द्वारा 1875 ई0 में की गयी थी। 1879 ई. में ये दोनों भारत आये और मद्रास प्रान्त के अडयार नामक स्थान को उन्होंने अपना मुख्यालय बनाया । विदेषी व्यक्तियों की इस संस्था द्वारा हिन्दू धर्म का गुणगान किए जाने से हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। श्रीमती बेसेण्ट इस संस्था की मुख्य कार्यकर्ता बन गयीं और ब्लैवेट्स्की, कर्नल अल्कॉट तथा श्रीमती बेसेण्ट ने अपने जोरदार लेखों और कार्यों द्वारा भारतीय राश्ट्रीयता को प्रोत्साहित किया ।

2. जाति – विमेद नीति – सन् 1857 के विद्रोह के पूर्व भारत स्थित अंग्रेजों और भारतीयों के सम्बन्ध पर्याप्त अच्छे थे, किन्तु विद्रोह के बाद ब्रिटिष षासन ने जाति–विभेद की जो नीति अपनायी, उसके परिणामस्वरूप इस मधुरता का स्थान पारस्परिक घृणा और कटुता ने ले लिया ।

अब वे (अंग्रेज) भारतीयों को 'आधे वनमानुश और आधे जंगली' (भ्सि ळिवतपससं, भ्सि छमहतव) कहने लगे। भारत में जब वे अपने उन देषवासियों के सम्पर्क में आते थे, जिन्हें विद्रोह के भयंकर अनुभव थे, तो भारतीयों के प्रति उनकी वष्णा की भावनाएँ दृढ़तर हो जाती थीं । ऐसे व्यक्तियों के लिए भारतीयों के साथ घुलना मिलना या मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित 'करना असम्भव था । मि. गैरट के अनुसार, उन्होंने अपने लिए एक विचित्र व्यवहार नीति अपनायी, जिसके तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्त थे । प्रथम, यह कि एक यूरोपियन का जीवन अनेक भारतीयों के जीवन के बराबर है। द्वितीय, प्राच्य देषवासियों पर केवल भय के आधार पर ही षासन किया जा सकता है। तष्तीय, वे यहाँ लोकहित के लिए नहीं वरन् अपने निजी लाभ और ऐष्वर्य के लिए आये है।

कांग्रेस : एक राश्ट्रीय संगठन 1885 ई0 में स्थापित भारतीय राश्ट्रीय कांग्रेस अखिल भारतीय स्वरूप का संगठन था। इसका उद्देष्य जाति, धर्म या वर्ण के किसी भेदभाव के बिना सभी भारतवासियों का प्रतिनिधित्व करना था। कांग्रेस का राश्ट्रीय स्वरूप इसी से. स्पश्ट हो जाता है कि इसके प्रथम अध्यक्ष व्योमेषचन्द्र बनर्जी भारतीय ईसाई थे, दूसरे दादाभाई नौरोजी पारसी थे, तीसरे बदरुद्दीन तैय्यबजी मुसलमान थे और चौथे तथा पांचवे अध्यक्ष जॉर्ज यूल तथा सर विलियम वेडरबर्न अंग्रेज थे।

इसमें सन्देह नहीं कि कांग्रेस के अधिकांष सदस्य और पदाधिकारी हिन्दू थे। इसका एक कारण यह है कि भारत की अधिकांष जनता हिन्दू है। कांग्रेस में आनुपातिक रूप में मुसलमानों की संख्या कम होने का कारण यह भी था कि सर सैयद अहमद जैसे प्रभावषाली

व्यक्ति मुसलमानों को कांग्रेस से बाहर रखने का पूरा प्रयत्न कर रहे थे। लेकिन कांग्रेस ने सदैव ही मुसलमानों सहित सभी वर्गों के हितों की रक्षा का पूरा–पूरा प्रयत्न किया और इस प्रकार अपने राश्ट्रीय स्वरूप को बनाये रखा।

कांग्रेस की बढ़ती हुई षक्ति– 1885 ई. कांग्रेस के प्रथम अधिवेषन में केवल 72 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे लेकिन समय और परिस्थितियों के अनुकूल होने तथा भारतीय जनता के बढ़ते हुए राश्ट्रीय उत्साह के कारण राश्ट्रीय कांग्रेस की षक्ति में तेजी से और निरन्तर वृद्धि होती गयी। इसके दूसरे, तीसरे और चौथे अधिवेषन में क्रमषः 436, 607 तथा . 1248 प्रतिनिधि ायों ने भाग लिया।

यद्यपिं ब्रिटिष सरकार ने 1888 से ही कांग्रेस को निर्बल करने के प्रयास प्रारम्भ कर दिए थे, लेकिन कांग्रेस की षक्ति में कमी होने के बजाय वृद्धि ही होती गयी और इसने षीघ्र ही अखिल भारतीय संस्था का रूप ग्रहण कर लिया ।

अभ्यास – प्रष्न

1. भारतीय राश्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के मूलभूत कारणों का विवेचन कीजिए।

2. भारतीय राश्ट्रीय आन्दोलन के उदय के प्रमुख कारणों का परीक्षण कीजिए ।

3. क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि कांग्रेस की स्थापना एक अभयदीप के रूप

में ब्रिटिष साम्राज्य की रक्षा के लिए की गयी थी?

4. कांग्रेस का जन्म कब और किन उद्देष्यों से हुआ?

इकाई–2

राजनीति शास्त्र का स्वरूप व लक्षण

उदारवादी राष्ट्रवाद

इस अध्याय के अन्तर्गत :

कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप

उदारवादी पक्ष की विचारधारां और कार्यपद्धति

उदारवादियों की सफलताएँ और भारतीय राजनीति में उनका स्थान

राश्ट्रीय आन्दोलन एवं उग्रवाद

कांग्रेस में फूट

उदारवाद तथा परिवारवाद में अन्त

☐ गांधीवादी युगं

☐ असहयोग आंदोलन की पष्ठभूमि

☐ गोलमेज सम्मेलन

अस्तर प्रस्ताव

भारत छोड़ो आन्दोलन

☐ भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947

भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति में सहायक तत्व

☐ राश्ट्रीय आन्दोलन में गाँधीजी का योगदान

अध्याय के उद्देष्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :

: कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप, इसके उदारवादी पक्ष की विचारधाराएँ और कार्य पद्धति समझ सकेंगें

: उदारवादियों को मिली सफलता के कारण तथा भारतीय राजनीति में उनका स्थान भी समझ सकेंगे।

: राश्ट्रीय आन्दोलन पर उग्रवाद की पष्ठभूमि समझ सकेंगे।

: कांग्रेस में विचार – मतभेद के कारण समझ सकेंगे।

: गाँधीवादी युग की षुरूआत कैसे हुई, असहयोग आन्दोलन कैसे षुरू हुआ, गोलमेज सम्मेलन कहाँ और क्यों हुए तथा इनकी परिणति क्या हुई इन्हें समझ सकेंगे।

: अगस्त प्रस्ताव, भारत छोड़ो आन्दोलन के तथ्यों से परिचित हो सकेंगे।

: भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के सहायक तत्व और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधीजी के समस्त योगदान से अवगत हो सकेंगे।

. परिचयः

कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप : उदारवादी राश्ट्रवाद

कांग्रेस के इतिहास के तीन काल 1885 ई0 में कांग्रेस की स्थापना के पूर्व भी भारत में ब्रिटिष इण्डिया एसोसिएषन, इण्डियन एसोसिएषन, बॉम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसिएषन और पूना की सार्वजनिक सभा आदि संस्थाओं द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में कार्य किया जा रहा था, लेकिन इनमें से कोई भी संस्था अपने कार्य और स्वरूप की दृश्टि से राश्ट्रीय नहीं थी । कांग्रेस ही ऐसी प्रथम संस्था थी, जिसके सम्बन्ध में पं. मदनमोहन मालवीय के षब्दों में कहा जा सकता है कि भारत ने अपनी आवाज इस महान् संस्था में पायी। अतः इस समय से ही बहुत–कुछ अंषों में कांग्रेस का इतिहास ही भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास बन गया

1885 ई. से लेकर 1947 ई. तक भारतीय स्वतंत्रता के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कांग्रेस द्वारा जिन विभिन्न रूपों में कार्य किया गया, उसके आधार पर कांग्रेस के इतिहास या भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन को निम्नलिखित तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) उदार या नरम राश्ट्रीयता का काल (1885–1905) – कांग्रेस के 20 वर्शों के इस प्रारम्भिक काल में उदार अथवा नरम राश्ट्रीयता की प्रधानता रही। इस युग में कांग्रेस किसी भी प्रकार एक क्रांतिकारी संस्था नहीं थी। इसके नेताओं ने ब्रिटिष सम्राट के प्रति विष्वास तथा सहयोग की नीति अपनायी तथा वे प्रार्थना पत्रों, स्मषति–पत्रों और प्रतिनिधि ज्–मण्डलों के आधार पर भारतीय जनता को राजनीतिक अधिकार दिलाने के प्रयत्न करते रहे। कांग्रेस के इस काल की सबसे बड़ी सफलता 1892 का 'भारतीय परिशद्' अधिनियम है ।

(2) उग्र राश्ट्रीयता का काल (1906–1919) – कांग्रेस ने अपने प्रथम काल में ब्रिटिष षासन की आधारभूत न्यायप्रियता में विष्वास रखते हुए प्रार्थना–पत्रों, स्मृति – पत्रों और प्रतिनिधि ा–मण्डलों की जो नीति अपनायी थी, भारतीय जनता को उनके वांछित परिणाम प्राप्त न हुए। अतः कांग्रेस के एक बहुत बड़े दुर्ग विषेशतया नव–युवकों में इस नीति के प्रति विष्वास नहीं रहा और 1906 तक कांग्रेस का नेतृत्व उग्र राश्ट्रवादियों के हाथ में आ गया। उग्र राश्ट्रवादियों ने कहा कि कांग्रेस को याचना की पद्धति छोड़कर अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए और ब्रिटिष षासन पर दबाव डालकर षासन व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन करवाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। सन् 1907 में 'सूरत विच्छेद' हुआ, जिससे कांग्रेस दो पक्षों– 'नरम दल' तथा 'गरम दल' में बँट गयी और दोनों दलों के मध्य समझौता 1915 ई. में ही हो सका। इस काल के आरम्भ में मुसलमानों ने 'मुस्लिम लीग' के रूप में अपनी अलग राजनीतिक संस्था का निर्माण किया ।

(3) राश्ट्रीय आन्दोलन का गांधी युग (1920–1947) कांग्रेस का तीसरा काल 1920–1947 तक का है। 28 वर्शों के इस काल में महात्मा गांधी न केवल कांग्रेस, वरन् राश्ट्रीय गतिविधि ायों के केन्द्र बने रहे – अतः इसे 'राश्ट्रीय आन्दोलन का गांधी युग कहा जाता है। इस काल में कांग्रेस ने पहले तो ब्रिटिष सरकार के साथ असहयोग और फिर अहिंसात्मक संघर्श की नीति अपनायी, जिसके तीन निरन्तर प्रगतिषील चरण– 'असहयोग आन्दोलन', 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' और 'भारत छोड़ो आन्दोलन' थे। इस काल के प्रारम्भ में ही नरम दल के लोग कांग्रेस से पष्थक हो गये तथा उन्होंने अपनी अलग संस्था 'अखिल भारतीय उदार संघ (।सस प्दकपं स्पइमतंस थ्मकमतंजपवद) की स्थापना कर

ली। इस काल में हिन्दू मुस्लिम मतभेद अपने चरम स्तर पर पहुँच गये। मि. जिन्ना के नेतष्त्व में मुस्लिम लीग ने 1940 ई. में पाकिस्तान की मांग की और 1947 ई. में भारतीय स्वतंत्रता के साथ–साथ भारत का विभाजन भी हो गया।

उदारवादी राश्ट्रीयता या कांग्रेस का उदारवादी पक्ष (1885–1905)

उदारवादी क्रमषः सुधार की नीति में विष्वास करते थे। इसलिए उनके द्वारा व्यवहारिक दृ श्टिकोण अपनाते हुए बहुत ऊँची माँगें नहीं की गयीं। उदारवादी राश्ट्रीयता के 20 वर्शों में कांग्रेस द्वारा की गयी प्रमुख माँगें थीं– भारतीय षासन की जांच, भारत मंत्री तथा भारत परिशद् का अन्त, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान परिशदों का विस्तार तथा सुधार, भारतीयों की उच्च नागरिक तथा सैनिक पदों पर नियुक्ति और इंग्लैण्ड से आने वाले कपड़े पर आयात. कर लगाना आदि । कांग्रेस के द्वारा इन, माँगों के लिए इंग्लैण्ड में भी प्रचार कार्य किया गया । उदार राश्ट्रवादियों (कांग्रेस के उदारवादी पक्ष) की विचारधारा और कार्य–पद्धति 1885–1905 ई. के काल में भारत के राश्ट्रीय आन्दोलन पर उदारवादियों का प्रभाव और नियन्त्रण बना रहा। इन उदारवादियों की विचारधारा का अध्ययन निम्नलिखित बिन्दुओं में किया जा सकता है :

(1) ब्रिटिष सरकार के प्रति राजभक्ति – इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक वर्शों में कांग्रेस का संचालन करने वाले उदार राश्ट्रवादी उच्च कोटि के देषभक्त थे, लेकिन वें अपनी देषभक्ति के बावजूद ब्रिटिष षासन के बड़े प्रषंसक थे। ब्रिटिष राज्य के उपकारों के प्रति उनके हृदय में कृतज्ञता का भांव था और वे ब्रिटिष साम्राज्य के प्रति राजभक्ति भी रखते थे। दूसरे अधि िवेषन में दादाभाई नौरोजी अपने सहयोगियों को सामान्य भावना को ही व्यक्त कर रहे थे, जबकि उन्होंने यह घोशणा की थी कि, ''आओ हम पुरुशों की तरह बोलें और घोशणा कर दें कि हम आचूड़ राजभक्त हैं।'' इन नेताओं के सम्बन्ध में, एनीबेसेण्ट ने कहा था कि, 'इस काल के नेता अपने को ब्रिटिष साम्राज्य की प्रजा मानने में गौरव का अनुभव करते थे ।''

(2) अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विष्वास उदारवादियों को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में अटूट विष्वास था और वास्तव में इस विष्वास ने ही उनमें राजभक्ति की भावना को जन्म दिया था। डॉ. पट्टाभि सीतारमैया के अनुसार, ''उदारवादी नेता इस बात पर विष्वास करते थे कि अंग्रेज स्वभाव से न्यायप्रिय होते हैं तथा यदि उन्हें भारतीय दृश्टिकोण का सही ज्ञान करा दिया गया, तो वे इसे स्वीकार कर लेंगे।'' 12वें अधिवेषन के सभापति – पद से रहमतुल्ला सयानी ने घोशित किया था कि ''अंग्रेजों से बढ़कर सच्चा मित्र तथा सच्ची जाति इस सूर्य के प्रकाष के नीचे नहीं बसती ।'' अन्य उदारवादी नेताओं की भी यही भावना थी ।

(3) ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध भारत के हित में समझना – अधिकांष प्रारम्भिक राश्ट्रीय नेता पष्चिमी षिक्षा के परिणाम थे और उनका विचार था कि ब्रिटिष षासन ने अंग्रेजी साहित्य, षिक्षा–पद्धति, यातायात, संचार की व्यवस्था और स्थानीय स्वायत्त षासन के रूप में हमें एक प्रगतिषील सभ्यता प्रदान की है और ब्रिटिष षासन ही आन्तरिक अषांन्ति और बाहरी आक्रमण से भारत की रक्षा करने में समर्थ है। फिरोजषाह मेहता ने कांग्रेस के छठे अधिवेषन के सभापति पद से कहा था, ''इंग्लैण्ड और भारत का सम्बन्ध इन दोनों देषों और समस्त विष्व की आने वाली पीढ़ियों के लिए वरदान होगा।''

(4) क्रमिक सुधार में विष्वास –

उदारवादी राजनीतिक क्षेत्र में क्रमबद्ध विकास की धारणा में विष्वास करते थे और इन तथ्यों से परिचित थे कि एकदम ही प्रतिनिध्यात्मक षासन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तात्कालिक रूप में वे प्रषासन में आवष्यक सुधारों, विधायी परिशदों, सेवाओं, स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं और रक्षा सेवाओं में सुधार से ही सन्तुश्ट थे और वे क्रांतिकारी परिवर्तन के विरुद्ध थे ।

(5) उदारवाद का लक्ष्य राजनीतिक स्वषासन की प्राप्ति– उदारवादी नेता यद्यपि सुधारों में विष्वास करते थे लेकिन इन वैधानिक सुधारों का अन्तिम लक्ष्य भारतीयों के लिए स्वषासन की प्राप्ति था । वे ब्रिटिष षासन के अन्तर्गत स्वषासन की स्थापना चाहते थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कांग्रेस के दूसरे अधिवेषन में ही स्वषासन की बात कही थी और 1906 के कांग्रेस अधिवेषन में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में कांग्रेस द्वारा स्वषासन के इस लक्ष्य को स्पश्ट रूप से अपनाया गया।

.

(3) भारतीयों को राजनीतिक षिक्षा – राश्ट्रीय आन्दोलन को उनकी एक अन्य देन यह है कि उन्होंने भारतीय जनता को राजनैतिक षिक्षा प्रदान की और उसमें प्रजातन्त्र तथा स्वतंत्रता के आदर्षों को प्रसारित किया। उन्होंने सभी महत्वपूर्ण प्रष्नों पर विचार विमर्ष के लिए एक संगठन प्रदान किया और इस प्रकार षासन से सम्बद्ध प्रमुख प्रष्नों पर प्रबल जनमत का निर्माण किया। उन्होंने भारतीय जनता को व्यक्तिगत स्वाधीनता, प्रतिनिध्यात्मक. संस्थाओं की स्थापना, आर्थिक और सामाजिक सुधारों और अन्त में स्वषासन की मांग करने के लिए प्रेरित किया । जनमत को प्रभावित करने और भारतीयों को राश्ट्रीय जीवन की ओर आकर्शित करने की दिषा में उनके कार्य के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उनके द्वारा भारतीय प्रष्नों के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड के जनमत को प्रभावित करने में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त की गयीं।

(4) भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का आधार तैयार करना यद्यपि उदारवादियों के द्वारा स्वयं गम्भीरतापूर्वक स्वतंत्रता की मांग या इस हेतु कोई आन्दोलन नहीं किया गया, लेकिन उन्होंने एक पष्ठभूमि तैयार की, जिसके आधार पर ही भविश्य में स्वतंत्रता हेतु विभिन्न आन्दोलन किए जा सके। कें. एम. मुन्षी लिखते हैं कि ''यदि पिछले 30 वर्शों में कांग्रेस के रूप में एक अखिल भारतीय संस्था देष के राजनीतिक क्षेत्र में कार्यरत न होती तो ऐसी अवस्था में गांधीजी का कोई महान् आन्दोलन सफल न होता ।'' प्रारम्भिक कांग्रेसियों की भीरुता और भिक्षावषत्ति को उपहास की दृश्टि से देखना अत्यन्त सुगंम है, परन्तु जैसा कि डॉ. पट्टाभि सीतारमैया लिखते हैं कि, ''जिस समय भारत के राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने पदार्पण किया, उस समय वे अकेले थे। उन्होंने जो नीतियां अपनार्थी, उनके लिए हम उन्हें दोश नहीं दे सकते। किसी भी आध गुनिक इमारत की नींव से 6 फुट नीचे जो ईंट, चूना और पत्थर गढ़े हैं, क्या उन पर कोई दोश लगाया जा सकता है? क्योंकि वही तो आधारं है जिसके ऊपर सारी इमारत खड़ी हो सकी है। सर्वप्रथम औपनिवेषिक स्वषासन, फिर साम्राज्य के अन्तर्गत होम रूल, उसके बाद स्वराज तथा सबके षीर्श पर पूर्ण स्वाधीनता की मंजिलें एक के बाद एक ही बन सकी हैं।''

(5) भारतीय परिशद् अधिनियम, 1892 – उदारवादी राश्ट्रीयता की तात्कालिक सफलता 1892 का 'भारतीय परिशद् अधिनियम था । यद्यपि यह भारतीयों को सन्तुश्ट न कर सका, लेकिन फिर भी देष के वैधानिक विकास की दिषा में यह एक निष्चित प्रगतिषील चरण था इस प्रकार उदार राश्ट्रवादी आन्दोलन अपनी समस्त कमियों के बावजूद भारत में राश्ट्रीय जागषति की दिषा में महत्वपूर्ण कदम रहा ।

राश्ट्रीय आन्दोलन एवं उग्रवाद

उग्र राश्ट्रवादी आन्दोलन का विकास (1906–1919)

भारतीय राश्ट्रीय कांग्रेस अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्शों में जिन उदार राश्ट्रवादियों के प्रभाव में थी, उनका लक्ष्य भारतीय प्रषासनिक व्यवस्था में क्रमिक सुधार करना था और वे इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु संवैधानिक साधनों के प्रयोग में विष्वास रखते थे। लेकिन 1885 ई. से 1905 ई. के बीच के काल में भारत और विदेषों में कुछ ऐसी घटनाएं घटित हुई और कुछ ऐसी षक्तियाँ क्रियाषील हुईं जिन्होंने भारतीय राश्ट्र के अपेक्षाकृत युवा वर्ग को पूर्ण स्वतंत्रता की मांग करने के लिए प्रेरित किया और संवैधानिक साधनों, विषेशतया नरम संवैध निक साध नों के प्रति अविष्वास की भावना को जन्म दिया। पूर्ण स्वतंत्रता की मांग और उसकी प्राप्ति हेतु जन आन्दोलन के मार्ग को अपनाने वाली इस धारा को ही 'उग्र राश्ट्रीयता' के नाम से जाना जाता है ।

उग्र राश्ट्रीयता (उग्रवादी राश्ट्रवाद) के उदय के कारण

उग्र राश्ट्रीयता का उदय न तो आकस्मिक था और न ही अन्य परिस्थितियों से अलग. एक पष्थक् परिवर्तन, वरन् यह तो विभिन्न घटनाओं, परिस्थितियों और षक्तियों का स्वाभाविक

परिणाम था। उग्र राष्ट्रीयता के उदय के कारणों की व्याख्या निम्नलिखित बिन्दुओं में की जा सकती हैं :

इकाई–3 राजनीति शास्त्र का क्षेत्र

(1) सन् 1892 के सुधार कानून की अपर्याप्तता संवैधानिक सुधारों की दिषा में राश्ट्रीय कांग्रेस के 7 वर्शों के प्रयत्नों का परिणाम 1892 का 'भारतीय परिशद्' अधि नियम था। लेकिन यह अधिनियम स्वयं में निहित कमियों और त्रुटियों के कारण राश्ट्रीय कांग्रेस या सामान्य भारतीयों को सन्तुश्ट नहीं कर सका। अधिनियम में निर्वाचन की व्यवस्था

स्वप्रगति की जाँच करें

1. क्या आप इस बात से सहमत हैं कि उदारवादियों ने वास्तव में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का आधार तैयार किया?

2. स्पश्ट करें कि किस तरह 1907 में विधिवत रूप से सूरत अधिवेषन में कांग्रेस दो वर्गों में बँट गई?

को बहुत घुमा फिराकर रखा गया था, इसमें गैर सरकारी सदस्यों की संख्या कम थी और परिशदों के कार्य तथा अधिकार बहुत सीमित थे। अधिनियम की उपर्युक्त त्रुटियों के कारण संवैधानिक पद्धति के आधार पर कुछ प्राप्त करने की आषा समाप्त हो गयी और अब कांग्रेस के अन्दर तथा बाहर एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ जो क्रमिक परिवर्तन के स्थान पर आध ाारभूत परिवर्तन और प्रार्थना के मार्ग के स्थान पर आन्दोलन के मार्ग को अपनाने पर जोर देने लगा ।

(2) धार्मिक पुनरुत्थानवाद और सांस्कृतिक नवजागरण – कांग्रेस के प्रारम्भिक नेता पाष्चात्य षिक्षा से प्रभावित थे और अपनी मानसिक पष्ठभूमि के कारण ब्रिटिष षासन को भारत के हित में मानते थे, लेकिन कालान्तर में धार्मिक पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप कांग्रेस में ही एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ, जो भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के गौरव से परिचित था और जिसका विष्वास विदेषी षासन की समाप्ति में था । स्वामी विवेकानन्द ने 1893 के षिकागो सर्वधर्म सम्मेलन में हिन्दू धर्म की विजय दुन्दुभी बजायी थी और अरविन्द घोश तथा तिलक आदि उग्र राश्ट्रवादी नेता धार्मिक पुनरुत्थान के ही परिणाम थे। अरविन्द घोश ने कहा था 'स्वाधीनता हेमारा लक्ष्य है और हिन्दुत्व ही हमारी यह आकांक्षा पूरी कर सकता है। धार्मिक पुनरुत्थान से प्रभावित होने के कारण ही तिलक ने भारत की स्वाधीनता के लिए हिन्दू उत्सवों और हिन्दू संगठनों पर बल दिया था। ये उग्र राश्ट्रवादी नेता भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति को अपना परम पवित्र धार्मिक कर्तव्य समझते थे।

(3) प्राकृतिक प्रकोप – 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत को अभूतपूर्व प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करना पड़ा। 1876 से 1900 तक के 25 वर्शों में देष में 18 अकाल पड़े, जिनमें सबसे अधिक भीशण 1796–97 का अकाल था जिसका प्रभाव 7 करोड़ आबादी और 70 हजार वर्गमील क्षेत्र पर पड़ा। इस भयानकतम अकाल में षासन द्वारा किए जाने वाले सहायता कार्य बहुत अधिक अपर्याप्त और धीमे थे। षासन का रुख कितना उपेक्षापूर्ण था, इसका प्रमाण यह है कि जनता तो भूखों मर रही थी, किन्तु षासन ने रानी विक्टोरिया का जयन्ती उत्सव मनाने के लिए 1897 में ही दिल्ली में षानदार दरबार लगाकर पानी की तरह

धन लुटाया था ।

अकाल की यातना से अभी मुक्ति मिली भी नहीं थी कि बम्बई प्रान्त के दक्षिणी भाग में भयंकर प्लेग फैल गया। अकाल का सामना करने में सरकार ने जितनी निश्क्रियता दिखायी थी, प्लेग का सामना करने में भी उतनी ही अधिक अविवेकपूर्ण और निर्दय सक्रियता दिखाई गयी। प्लेग कमिष्नर रैण्ड और सेना के द्वारा बीमारी वाले मकानों को जबरदस्ती गिराने और बीमारों के बिस्तर और कपड़े जलाने, रसोईघर, पूजाघर और स्त्रियों के कमरे में घुस – घुसकर लोगों को घसीटने का मनमानी व्यवहार किया गया। रामगोपाल के अनुसार, "सारा

काम इस ढंग का था जैसे दुष्मन द्वारा जीते गये किन्हीं षहरों को फूंका जा रहा हो।'' इस तरह के व्यवहार को जनता सहन नहीं कर सकती थी और इसके परिणामस्वरूप जनता में रोश इतना फैल गया कि रैण्ड और उसके एक साथी अर्यस्ट को एक नवयुवक द्वारा गोली से उड़ा दिया गया । –

(4) आर्थिक असन्तोश – लॉर्ड बेकन का यह कथन भारत के उग्र राश्ट्रवाद पर पूरे तौर से लागू होता है कि ''आर्थिक दरिद्रत्ता और आर्थिक असन्तोश क्रांति को जन्म देते हैं।'' सरकार द्वारा निरन्तर भारत–विरोधी नीति अपनायी जा रही थी। षासन द्वारा 1894 में विदेषी माल पर आयात कर समाप्त कर दिया गया. इससे देषी सामान महंगा हो गया और विदेषी सामान सस्ते दामों पर बिकने लगा। सरकार की इस नीति के कारण ही, ''स्वदेषी आन्दोलन'' चला। इसके अतिरिक्त षिक्षण संस्थाओं में वृद्धि के साथ–साथ

षिक्षित भारतीयों की संख्या में तेजी से वषद्धि हो रही थी, लेकिन षासन द्वारा षिक्षित भारतीयों को उनकी योग्यता के अनुसार पद प्रदान नहीं किए जा रहे थे। इससे भी उनमें निराषा और तीव्र असन्तोश की भावना उत्पन्न हुई। ए. आर. देसाई के अनुसार, "भारत में उग्रवाद के उदय का प्रमुख कारण षिक्षित भारतीयों में बेकारी से उत्पन्न राजनीतिक असन्तोश था । (5) भारतीयों से अंग्रेजों का कटुता और अहंकारयुक्त व्यवहार– उग्र राश्ट्रवादिता के उदय का एक अन्य कारण था– अंग्रेजों का भारतीयों के प्रति कटु व अहंकारयुक्त व्यवहार और आंग्ल–भारतीय पत्रों का भारत विरोधी दृश्टिकोण तथा प्रचार । दिन–प्रतिदिन के जीवन में भारतीयों के साथ अपमानजनक व्यवहार ही किया जाता था, अनेक बार ब्रिटिष सैनिकों और अन्य व्यक्तियों ने भारतीयों के साथ घातक मारपीट की और कई बार आहत व्यक्ति मर भी गये, लेकिन अंग्रेज अधिकारी दण्ड से बच गये या उन्हें बिल्कुल साधारण सा दण्ड दिया गया। लॉर्ड रोनाल्ड अपनी पुस्तक में इस प्रकार की दो घटनाओं के उदाहरण देते है। इन अपराधों और हत्या से भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि आंग्ल–भारतीय समाचार पत्रों द्वारा इस प्रकार के व्यवहारों को प्रोत्साहित किया जाता था। लाहौर से प्रकाषित आंग्ल–भारतीय दैनिक दी सिविल एण्ड मिलिट्री गजट तो भारतीयों को जी खोलकर गालियाँ देता था और पढ़े–लिखे भारतीयों को 'बलबलाते बी. एकृ वर्णसंकर बी. ए., गुलाम, दास जाति और कलंकी जाति जैसे अपमानजनक षब्दों से सम्बोधित करता था। इस अपमानजनक व्यवहार की भारतीयों में प्रतिक्रिया होना नितान्त स्वाभाविक था ।

(6) विदेषों में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार– ब्रिटिष उपनिवेषों, विषेशकर नेपाल और दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार असन्तोश का एक अन्य कारण था । इस दुर्व्यवहार के कारण 1903 में दक्षिण अफ्रीका से लौटकर डॉ. बी. एस. मुंजे ने दुःखपूर्वक कहा था कि ''हमारे षासक इस बात पर विष्वास नहीं करते कि हम भी मनुश्य है ।'' भारतीयों के द्वारा यह अनुभव किया गया कि उन भारतीयों के साथ भारत राश्ट्र की पराधीनता के कारण ही दुर्व्यवहार किया जा रहा है और इसकी समाप्ति का एकमात्र उपाय भारत के लिए स्वतंत्रता की प्राप्ति है।

(7) पष्चिम के क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव जब भारतीयों ने अंग्रेजी भाशा और पाष्चात्य षिक्षा पद्धति के माध्यम से मैजिनी, वर्क, गैरीबाल्डी और जार्ज वाषिंगटन के स्वतंत्रता के लिए प्रेरित करने वाले भाशण पढ़ें, अमरीका का स्वतंत्रता युद्ध, आयरलैण्ड का संघर्श, इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति का इतिहास पढ़ा तो वे स्वतंत्रता की ओर बढ़े और उनके

☐ द्वारा उग्र राश्ट्रीयता का मार्ग अपना लिया गया ।

(8) भारत के बाहर होने वाले विषेश परिवर्तन – 19वीं सदी तक पूर्व में यह ध रणा प्रचलित थी कि पष्चिम के किसी संघर्श में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। लेकिन. 1896 में अफ्रीका के एक छोटे से देष एबीसीनिया द्वारा यूरोप के विषाल देष इटली और 1904–05 में जापान के द्वारा रूस को पराजित कर दिया गया। ये असम्भव समझी जाने वाली घटनाएँ थीं और इन्होंने भारतीयों में यह विचार उत्पन्न किया कि ब्रिटेन के विरुद्ध स्वाधीनता के

संघर्श में सफलता प्राप्त की जा सकती है। पर्सिया, चीन, टर्की और आयरलैण्ड में इसी काल में चल रहे स्वतंत्रता आन्दोलनों ने भारतीयों को और अधिक प्रोत्साहित किया।

(9) बाल, लाल और पाल का नेतष्त्व – उग्र राश्ट्रीयता के उदय में बाल गंगाध पर तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल का नेतष्त्व एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण था। ये नेता अटूट देषभक्त और ब्रिटिष षासन के कट्टर षत्रु थे। तिलक कहा करते थे, ''स्वतंत्रता मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा । हमारा उद्देष्य आत्म विष्वास है, भिक्षावष्त्ति नहीं ।'' लाला लाजपतराय ने अपनी सषक्त वाणी में कहा, ''अंग्रेज भिखारी से सबसे अधिक घष्णा करते हैं और मैं सोचता हूँ कि भिखारी घष्णा का पात्र है भी । अतः हमारा यह कर्तव्य है कि हम सिद्ध कर दें कि हम भिखारी नहीं हैं।'' इन नेताओं ने भिक्षावष्त्ति का मार्ग त्यागकर आन्दोलन का मार्ग अपनाने पर जोर दिया और महाराश्ट्र, पंजाब, बंगाल तथा अन्य क्षेत्रों में जागषति की अपूर्व लहर उत्पन्न कर दी ।

(10) लार्ड कर्जन का प्रतिक्रियावादी षासन भारत में उग्रवाद के उदय के लिए यदि कोई एक कारण सबसे अधिक प्रमुख रूप से उत्तरदायी कहा जा सकता है तो वह है लार्ड कर्जन का प्रतिक्रियावादी षासन । इन्द्र विद्यावाचस्पति के षब्दों में '' 1898 से 1905 तक भारत के गवर्नर जनरल के रूप में नौकरषाही के साक्षात् प्रतिरूप लॉर्ड कर्जन . ने ब्रिटिष साम्राज्य के लिए वही कार्य किया, जो मुगल साम्राज्य के लिए औरंगजेब ने किया था।'' लॉर्ड कर्जन ने 1891 में 'कलकत्ता कॉरपोरेषन अधिनियम' पास कर कॉरपोरेषन में भारतीयों की संख्या घटाकर आधी कर दी। इसी प्रकार 1904 में 'भारतीय विष्वविद्यालय अधिनियम' (प्द्कपंद न्दपअमतेपजपमे ।बज) पास कर विष्वविद्यालय की सीनेट और सिण्डीकेट में भारतीयों का प्रतिनिधित्व कम कर दिया गया। लॉर्ड कर्जन विजयों और षानषौकत में विष्वास करते थे, इसलिए उन्होंने निर्धन जनता पर ज्यादा से ज्यादा कर लगाये और इस धनराषि को सेना पर व्यय किया गया तथा सप्तम एडवर्ड को भारत का सम्राट घोशित करने के लिए जनवरी 1903 में दिल्ली में विराट दरबार लगाया गया। 1904 के 'प्रषासकीय गुप्तता अधिनियम' (र्व्पिबपंस ैमबतमजे ।बज) के द्वारा उन्होंने समाचार पत्रों की स्वतंत्रता को और सीमित कर दिया। इसके अलावा लॉर्ड कर्जन का भारत और भारतीयों के प्रति व्यवहार बहुत अधिक अपमानजनक था। एक अवसर पर भारतीयों की योग्यता में अविष्वास व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि ''भारतीय लोग षासन का उत्तरदायित्व सम्भालने के सर्वथा अयोग्य हैं। '' 1905 में कलकत्ता विष्वविद्यालय के कुलपति पद से दिए गए दीक्षान्त भाशण में उन्होंने कहा कि 'भारतवासियों में सत्य के प्रति आस्था नहीं है और वास्तव में भारतवर्श में सत्य को कभी आदर्ष माना ही नहीं गया है।' उन्होंने कहा कि 'भारत राश्ट्र नाम की कोई वस्तु नहीं है।' लॉर्ड कर्जन द्वारा व्यक्त किए गए इन अपमानजनक षब्दों का विरोध करने के लिए ऐनी बेसेण्ट के षब्दों में, ''सारा भारत राश्ट्र एक व्यक्ति के रूप में उठ खड़ा हुआ ।''

लॉर्ड कर्जन का सबसे महत्वपूर्ण बंगाल विभाजन, 1905 (च्ंतजपजपवद व िठमदहंस) कार्य 16 अक्टूबर 1905 को किया गया बंगाल का विभाजन था । यद्यपि इस विभाजन के पक्ष में सरकार का तर्क था कि बंगाल जैसे प्रान्त पर एक ही केन्द्र से षासन नहीं किया जा सकता और सुषासन के हित में उसका विभाजन आवष्यक है लेकिन वास्तव में, जैसा कि जकारिया लिखते हैं, ''उद्देष्य और प्रभाव की दृश्टि से बंगाल के विभाजन का कार्य नितान्त धूर्त्ततापूर्ण था ।'' वास्तव में बंगाल का यह विभाजन फूट डालो और राज करो की नीति के अनुरूप किया गया था। बंगाल के विभाजन का विरोध करने के लिए बंगाल में तीव्र आन्दोलन षुरू हो गया जो षीघ्र ही लगभग सम्पूर्ण भारत में फैल गया। यद्यपि बंगाल के विभाजन में कर्जन का उद्देष्य बंगाल में बढ़ती हुई राश्ट्रीयता की भावना को कुचल देना था, लेकिन व्यवहार में इस कार्य के परिणामस्वरूप न केवल बंगाल वरन् सम्पूर्ण भारत में राश्ट्रीयता की अभूतपूर्व भावना को जन्म मिला ।

उपर्युक्त सभी कारणों के परिणामस्वरूप भारत में उग्र राश्ट्रवाद और कांग्रेस में उग्र राश्ट्रवादी पक्ष का उदय नितान्त स्वाभाविक ही था ।

कांग्रेस में फूट का आरम्भ : उदारवादी और उग्रवादी

1905 का बनारस अधिवेषन– भारतीय राजनीति में उग्रवाद के उदय से कांग्रेस संगठन का प्रभावित होना नितान्त स्वाभाविक था । 1905 के बनारस अधिवेषन में बाल गंगाध र तिलक ने व उग्र राश्ट्रवादियों के एक वर्ग ने उदारवादियों की राजनीतिक भिक्षावष्त्ति' (च्वसपजपबंस डमदकपबंदबल) की नीति की तीव्र निन्दा की और इस बात का प्रतिपादन किया कि संगठित निश्क्रिय प्रतिरोध के मार्ग को अपनाकर ही भारत के राश्ट्रीय जीवन पर विदेषी नौकरषाही के प्रभुत्व का अन्त किया जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रिटिष माल और सरकारी षिक्षण संस्थाओं का भी संगठित और निरन्तर बहिश्कार किया जाना चाहिए, लेकिन उदारवादी निश्क्रिय प्रतिरोध को न्यूनाधिक रूप में अव्यावहारिक मानते थे और उनका विचार था कि इससे राश्ट्रीय प्रगति अवरूद्ध ही होगी। उदारवादियों को अब भी ब्रिटिष राश्ट्र की न्याय भावना और संवैधानिक साधनों की प्रभावषीलता में विष्वास था । कांग्रेस के दोनों वर्गों में स्वराज्य की व्याख्या में भी भेद था ।

उदारवादियों तथा उग्रवादियों के उपर्युक्त मतभेद के कारण 1907 के सूरत अधि वेषन में कांग्रेस विधिवत रूप से दो वर्गों में बंट गयी– उदारवादी कांग्रेस तथा उग्रवादी कांग्रेस द्य

उग्र राश्ट्रवादियों की राजनीतिक विचारधारा और साधन

कांग्रेस के उग्र राश्ट्रवादी पक्ष की राजनीति

उग्र राश्ट्रवाद उदारवाद के विरुद्ध भी उतना ही बड़ा विद्रोह था जितना कि स्वयं साम्राज्यवाद के विरुद्ध । उग्र राश्ट्रवादियों की राजनीतिक विचारधारा उदारवादियों से नितान्त भिन्न और बहुत कुछ अंषों में विपरीत थी । उदारवादी समझते थे कि ब्रिटेन और भारत के अन्तिम हित समान हैं और ब्रिटिष साम्राज्य स्वयं भारत के हित में है, लेकिन उग्रवादियों के अनुसार ब्रिटेन और भारत के हित नितान्त विरोधी हैं, ब्रिटिष साम्राज्य के साथ चाहे कितना ही सहयोग क्यों न किया जाय, उसके द्वारा भारत अपने राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं स्वप्रगति की जाँच करें : कर सकता । विपिनचन्द्र पाल का मत था कि ब्रिटेन के आर्थिक हितों की दृश्टि से यह नितान्त आवष्यक था कि भारत पर उसका राजनीतिक नियन्त्रण बना रहे, अतः युद्ध के बिना भारत को स्वतंत्रता प्राप्त होना नितान्त असम्भव है। उग्र राश्ट्रवादियों को उदारवादियों की तरह ब्रिटिष राश्ट्र की न्यायप्रियता में कतई विष्वास नहीं था। दादाभाई नौरोजी और दूसरे उदारवादियों का विचार था कि ब्रिटिष राश्ट्र जैसे ही यह महसूस करेगा कि हमारी बात उचित है– उसके द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जायेगा, लेकिन इसके विपरीत लाला लाजपतराय और अन्य उग्रवादियों का विचार था कि, 'व्यापारियों का यह राश्ट्र (ब्रिटेन) केवल दबाव की भाशा ही समझता है ।'

इसके अतिरिक्त, उदारवादियों और उग्रवादियों में राजनीतिक लक्ष्य का अन्तर भी था । उदारवादियों का विचार था कि ब्रिटिष षासन में सुधार किया जा सकता है एवं क्रमिक सुध ाार ही उपयुक्त और भारत के हित में है। इसी कारण उनके द्वारा विधायी परिशदों के सुध ा र और उनकी षक्ति में वृद्धि, भारतीयों के लिए उच्च्च सरकारी पद और स्थानीय स्वषासन संस्थाओं की स्थापना आदि मांगें की जाती थीं लेकिन उग्रवादियों का विचार था कि ब्रिटिष षासन में सुधार किया ही नहीं जा सकता, उसका तो अन्त किया जाना चाहिए। सर हैनरी कॉटन के अनुसार, ''उग्रवादी भारत में सब प्रकार से मुक्त और स्वतंत्र राश्ट्रीय प्रणाली की स्थापना करना चाहते थे ।'' उनका उदारवादियों के औपनिवेषिक स्वराज्य में विष्वास नहीं था, वे पूर्ण स्वराज्य के पक्ष में थे ।

उग्रवादियों के साघन

राजनीतिक विचारधारा और लक्ष्य की दृश्टि से तो उग्रवादी उदारवादियों से भिन्न थे ही, इन दोनों में इससे भी अधिक महत्वपूर्ण अन्तर साधन

3. क्या आप इस कथन से सहमत हैं? किसी भी पराधीन देष द्वारा अपने राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति उसी समय की जा सकती हैं जब राश्ट्रीय आन्दोलन का नेतष्त्व करने वाला वर्ग त्याग करने का इच्छुक हो ?

4. क्रिप्स मिषन और क्रिप्स योजना स्पश्ट करें।

सम्बन्धी था। नेविन्सन ने तिलक को यह कहते हुए उद्धत किया है कि ''अपने उद्देष्य के कारण नहीं, वरन् उसे प्राप्त करने के उपायों के कारण हमें उग्रवादियों की उपाधि मिली है।'' उदारवादी ब्रिटिष जनता की लोकतन्त्रात्मक प्रवष्त्तियों में विष्वास करते थे और उनका विचार था कि विषुद्ध संवैधानिक साधनों के आधार पर भारत को स्वतंत्र किया जा सकता है। लेकिन उग्रवादी इन बातों को आत्म प्रवंचना मात्र समझते थे । उग्रवादियों का तर्क था कि इंग्लैण्ड जैसे स्वतंत्र और लोकतन्त्रात्मक देष में तो वैधानिकता के आधार पर राजनीतिक परिवर्तन किए जा सकते हैं लेकिन भारत जैसे पराधीन राश्ट्र मे संवैधानिक आन्दोलन के आधार पर स्वतंत्रता प्राप्त करने का स्वप्न देखना स्वयं को ही धोखा देना है। उग्र राश्ट्रवादी उदारवादियों द्वारा प्रतिपादित प्रार्थना–पत्रों, स्मषतिपत्रों और प्रतिनिधि – मण्डलों की नीति में लेषमात्र भी विष्वास नहीं करते थे और इस पद्धति के प्रति घष्णा प्रकट करते हुए इसे इसे 'राजनीतिक मिक्षावष्त्ति के नाम से पुकारते थे। 1905 में कांग्रेस के बनारस अधिवेषन में लाला लाजपतराय ने कहा थाय ''एक अंग्रेज सबसे अधिक घष्णा भिखारी से करता है । मेरा विचार है कि भिखारी है भी इस योग्य कि उससे घष्णा की जाए। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम अंग्रेजों को दिखा दें कि हम भिखारी नहीं हैं।'' विपिनचन्द्र पाल का विचार था कि ''स्वराज्य स्वावलम्बन के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है।'' वे कहा करते थे कि ''हमें अपनी राश्ट्रीय षक्तियों को इस प्रकार संगठित करना चाहिए कि कोई भी षक्ति जो हमारे विरुद्ध हो, हमारे सम्मुख झुकने को बाध्य हो जाए ।'' पुनः उनका कथन है कि, ''यदि सरकार मेरे पास आकर कहे कि स्वराज्य ले लो तो मैं उपहार के लिए धन्यवाद देते हुए कहूँगा कि मैं उस वस्तु को स्वीकर नहीं कर सकता जिसको प्राप्त करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है।'' लोकमान्य तिलक उग्रवादी दृश्टिकोण को स्पश्ट करते हुए कहते थे, ''हमारा आदर्ष दया–याचना नहीं, आत्म–निर्भरता है।'' उग्रवादी षासकों प्रति षक्ति और सहयोग की नीति अपनाने के स्थान पर 'निश्क्रिय प्रतिरोध' (चंेपअम तमेपजंदबम) के कार्यक्रम को अपनाने के पक्ष में थे। इस निश्क्रिय प्रतिरोध के सम्बन्ध में विपिनचन्द्र पाल ने कहा कि ''सरकार के कार्य को कई प्रकार से ठप्प किया जा सकता है। ऐसा सम्भव नहीं है कि प्रत्येक मजिस्ट्रेट कार्य करने से इन्कार कर दे तथा एक व्यक्ति के त्यागपत्र देने पर उसके स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति न मिले परन्तु सारे देष में यह भावना जाग्रत हो जाय तो समस्त सरकारी कार्यालयों में हड़ताल की जा सकती है। हम उस भारतीय की स्थिति जो सरकारी कर्मचारी है, ऐसी कर सकते हैं कि जैसे वह भारतीय नागरिक के सम्मान से नीचे गिर गया हो।''

बहिश्कार स्वदेषी और राश्ट्रीय षिक्षा– जिस प्रकार उग्रवादियों के अपने लक्ष्य की प्राप्ति के साधन प्रार्थनाएं, स्मषति–पत्र और प्रतिनिधि मण्डल थे, उसी प्रकार उग्र राश्ट्रवादियों के साधन बहिश्कार, स्वदेषी और षिक्षा थे, जिनमें बहिश्कार को सबसे अधिक प्रमुख कहा जा सकता है। उग्रवादियों के बहिश्कार आन्दोलन की मुख्य प्रवष्त्ति तो विदेषी , वस्तुओं के ही विरुद्ध थी, परन्तु इनकी व्याख्या में, इसमें सरकार के साथ असहयोग, सरकारी नौकरियों, प्रतिश्ठानों तथा उपाधियों का बहिश्कार भी षामिल था । उग्रवादियों की मान्यता थी कि बहिश्कार विदेषी षासन की प्रतिश्ठा और हिंतों के ऊपर एक सीधा आघात होगा । लाला लाजपतराय कहा करते थे कि ''दुकानदारों की जाति ब्रिटिष राश्ट्र को नैतिकता के ऊपर आश्रित तर्कों की अपेक्षा व्यापार में घाटा होने की बात अधिक प्रभावित कर सकती है।'' एक दूसरे स्थान पर वे बहिश्कार आन्दोलन में निहित विचारधारा को स्पश्ट करते हुए लिखते हैं, हम अपने मुख सरकारी भवनों से हटाकर, साधारणजनों की कुटियों की तरफ ले जाना चाहते हैं । बहिश्कार आन्दोलन का यही मनोवैज्ञानिक, यही नैतिक और यही आध्यात्मिक महत्व है।

इकाई 3
आंदोलन के कारण

बहिश्कार और स्वदेषी आन्दोलनों को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। कलकत्ता के ऐंग्लो–इण्डियन समाचार–पत्र 'दि इंग्लिषमैन ने लिखा था कि ''यह बिल्कुल सत्य है कि कलकत्ता के गोदामों में कपड़ा इतना भरा हुआ है कि यह बेचा नहीं जा सकता। अनेक मारवाड़ी फर्मे नश्ट हो गयी हैं और कई बड़ी से बड़ी यूरोपीय निर्यात की दुकानों को या तो बन्द करना पड़ा है या उनका व्यापार बहुत ही मन्दगति पर आ गया है। बहिश्कार के रूप में राज के षत्रुओं ने देष में ब्रिटिष हितों पर कुठाराघात करने का अत्यन्त प्रभावषाली षस्त्र पा लिया है।'' भारत के कुछ क्षेत्रों में तो बहिश्कार आन्दोलन कितना अधिक प्रबल और लोकप्रिय था इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि परीक्षार्थियों ने विदेषी कागज की कापियाँ छूने से इन्कार कर दिया, बच्चों ने विदेषी जूते पहनने या ज्वर में विदेषी दवा लेने से इन्कार कर दिया और विवाह में मिली ऐसी विदेषी भेंटें भी अस्वीकार की जाने लगीं जो भारत में भी बन सकती थीं ।''

इस बहिश्कार आन्दोलन ने भारतीय उद्योगों विषेशतः वस्त्र उद्योग को अपूर्व बल प्रदान किया और कपड़ा बुनकर उद्योग की सहायता देने के लिए एक राश्ट्रीय कोश जमा किया गया, जिसमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को एक ही सार्वजनिक सभा में 70 हजार रुपये एकत्रित करने में सफलता मिली।

उग्र राश्ट्रवादी आन्दोलन का मूल्यांकन

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उग्रवाद के जन्म और विकास ने भारत में राश्ट्रीय आन्दोलन पर बहुत स्वस्थ प्रभाव डाला। उदारवादी यद्यपि अपने देष के प्रति प्रेम रखते थे, लेकिन उनके साधन प्रभावषाली नहीं थे। उग्रवादियों ने इस सत्य को समझा कि केवल प्रार्थनाओं से स्वतंत्रता तो दूर नहीं, अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक सुधार भी प्राप्त नहीं किए जा सकते। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रभावषाली, रचनात्मक कार्यक्रम अपनाया जाना चाहिए। उनके द्वारा अपनाये गये बहिश्कार तथा स्वदेषी आन्दोलन ने जनता में नयी चेतना फूंक दी। यह आन्दोलन केवल एक उग्रवादी आन्दोलन ही नहीं रह गया, वरन् एक जनवादी आन्दोलन बन गया। 19वीं सदी तक राश्ट्रीयता उच्च षिक्षा प्राप्त सम्पन्न वर्ग की ही सम्पत्ति थी । उग्रवादियों द्वारा अपनाये गये साधनों ने राश्ट्रीय आन्दोलन के कार्यक्षेत्र में सहायता प्रदान की। यहां यह कहना असंगत न होगा कि उग्रवादियों द्वारा चलाया गया बहिश्कार तथा स्वदेषी आन्दोलन बाद में महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए आन्दोलन का बीजरूप था। उग्रवादियों का लक्ष्य न केवल राजनीतिक स्वतंत्रता वरन् भारतीय नवयुवकों के लिए सांस्कृतिक स्वतंत्रता भी प्राप्त करना था। उन्होंने एक ऐसी राश्ट्रीय षिक्षा प्रणाली की योजना बनायी जो राश्ट्र द्वारा नियंत्रित होने के साथ ही देष के हितों के अनुकूल हो तथा नवयुवकों में राश्ट्रीयता की भावना का संचार करे। उग्रवादियों का यह कार्य अत्यन्त दूरदर्षितापूर्ण था। उग्रवादी आन्दोलन के प्रभाव का प्रमाण यह है कि ब्रिटिष सरकार ने. राश्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर उग्रवादियों के हाथ में आ जाने से रोकने के लिए ही 1909

में मार्ले मिण्टो सुधार पारित किए। उग्रवादी आन्दोलन के अभाव में इन सुधारों के पारित होने में कुछ अधिक समय लग सकता था ।

किसी भी पराधीन देष द्वारा अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति उसी समय की जा सकती है जबकि राश्ट्रीय आन्दोलन का नेतष्त्व करने वाला वर्ग स्वयं त्याग करने का इच्छुक हो

। अधिकांष उदारवादी नेताओं में इस प्रकार की त्याग भावना का अभाव था, लेकिन उग्रवादी नेता प्रत्येक त्याग और कश्ट के लिए तत्पर थे। बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल वास्तविक अर्थों में लोकनायक थे। 1908 में तिलक को गिरफ्तार करने और उनके साथ किए गए अन्याय ने जनता को इतना विक्षुब्ध कर दिया था कि कई जगह दंगे हो गये। बम्बई की मिलों के मजदूरों ने सरकार के इस कार्य के विरोध में एक व्यापक हड़ताल की। लेनिन ने इस हड़ताल को भारत के श्रमिक वर्ग की पहली राजनीतिक कार्यवाही बताया था। इस प्रकार उग्रवादियों ने अब तक के वैधानिक आन्दोलन को वास्तविक राश्ट्रीय आन्दोलन और जन आन्दोलन की दिषा प्रदान की । उदारवाद तथा उग्रवाद में अन्तर

(उदारवादी तथा उग्रवादी पक्ष की राजनीति में अन्तर)

उदारवाद तथा उग्रवाद भारतीय राश्ट्रीय आन्दोलन की दो धाराएँ रही हैं । इन दोनों धाराओं का मूल उद्देष्य भारतीय जनता का हित साधन था, लेकिन यह हित साधन किस रूप में किया जा सकता है और इसके हेतु किन साधनों को अपनाया जाना चाहिए, इसके सम्बन्ध ा में इन दोनों विचारधाराओं में अन्तर रहा है। भूल उद्देष्यों की अपेक्षा साधनों के सम्बन्ध में यह अन्तर अधिक प्रमुख रूप में देखा जा सकता है। इन दोनों विचारधाराओं के अन्तर का अध्ययन निम्नलिखित बिन्दुओं में देखा जा सकता है :

(1) राश्ट्रवाद की इन दोनों धाराओं का उद्देष्य एक ही था – स्वषासन ँमस– हवअमतदउमदज) की प्राप्ति, लेकिन स्वषासन से इन दोनों के द्वारा अलग–अलग आषय लिया गया था। स्वषासन से उदारवादियों का तात्पर्य था कि क्रमिक राजनीतिक सुधारों के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए ब्रिटिष षासन की छत्रछाया में प्रतिनिध्यात्मक संसदीय संस्थाओं की स्थापना की जाय। इसके विपरीत, उग्रवादी किसी भी रूप में ब्रिटिष षासन को बनाये रखने के विरुद्ध थे। उनकी स्वराज्य की धारणा में ब्रिटिष सम्राट के प्रति भक्ति के लिए कोई स्थान न था । वे भारतीयता पर आधारित स्वराज्य तथ ब्रिटेन से षीघ्रातिषीघ्र सम्बन्ध विच्छेद के पक्ष में थे ।

(2) उदारवादियों को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में पूर्ण विष्वास था और वे ऐसा सोचते थे कि यदि अंग्रेजों को भारतीय दृश्टिकोण समझा दिया जाए, तो वे उसे स्वीकार कर लेंगे, लेकिन उग्रवादियों को अंग्रेजों की नेकनीयती तथा उदारता में जरा भी विष्वास नहीं था । श्रीमती एनी बेसेण्ट के अनुसार, ''उग्रवादियों को सरकार के अच्छे इरादों में तनिक भी विष्वास नहीं था जबकि उदारवादियों की आषा का आधार षासन की निष्छलता ँपदबमतपजल) थी।''

□

(3) उद्देष्य की अपेक्षा साधन के सम्बन्ध में इन दोनों का अन्तर अधिक महत्वपूर्ण था । तिलक कहा करते थे कि ''अपने उद्देष्य के कारण नहीं वरन् उसे प्राप्त करने के उपायों के कारण हमें उग्रवादियों की उपाधि मिली है।'' उदारवादी केवल संवैध निक साधनों का प्रयोग ही उचित समझते थे और उनके द्वारा अपनी मांगें मनवाने के लिए प्रार्थना–पत्र भेजनें, स्मषति – पत्र भेजने, भाशण देने, लेख लिखने और षिश्ट मण्डल भेजने के तरीकों का ही प्रयोग किया जाता था । उग्रवादियों का इन तरीकों की प्रभावषीलता में विष्वास नहीं था और वे इन्हें अपने आत्मसम्मान के विरुद्ध भी मानते थे इसलिए उनके द्वारा इस उदारवादी पद्धति को राजनीतिक भिक्षावषत्ति (च्वसपजपबंस डमदकपबंदबल) के नाम से पुकारा गया। वे इस राजनीतिक भिक्षावषत्ति की अपेक्षा आत्मनिर्भरता तथा जनसाधारण के बीच

कार्य में विष्वास करते थे। इस उद्देष्य से उनके द्वारा स्वदेषी माल के प्रचार, विदेषी माल– के बहिश्कार, स्वदेषी संस्थाओं के निर्माण और राजनीतिक प्रषिक्षण हेतु विविध साधनों के विकास पर जोर दिया गया ।

(4) उदारवादियों के विचार में ब्रिटेन तथा भारत के हित में मूलभूत विरोध नहीं था । वे ऐसा सोचते थे कि ब्रिटिष षासन के अन्तर्गत भारत का हित साधन सम्भव है ! इसके नितान्त विपरीत उग्रवादियों की धारणा यह थी कि ब्रिटेन तथा भारत के हित एक–दूसरे के नितान्तः विपरीत हैं, अतः ब्रिटिष षासन भारत के विकास में कभी भी सहायक हो ही नहीं.

सकता ।

(5) उदारवादी पष्चिमी सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित थे, जबकि उग्रवादी प्राचीन हिन्दू धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति तथा उनके आधार पर विकसित हिन्दू – राश्ट्रीयता के पोशक थे। उदारवाद की प्रेरणा स्रोत पष्चिम था तो उग्रवाद की प्रेरणा पूर्वी स्रोत था ।

(6) राश्ट्रीयता की इन दोनों धाराओं में यह भी अन्तर बताया जा सकता है कि उदारवादी 'आरामकुर्सी की राजनीति में विष्वास करते थे और गोखले जैसे कुछ नेताओं को छोड़कर सामान्यतः वे देषहित के लिए त्याग और कश्ट सहन करने को तत्पर नहीं थे । लेकिन उग्रवादी देष के लिए त्याग करने और कश्ट सहन करने को आवष्यक मानते थे और स्वयं इसके लिए तत्पर थे।

उदारवादी और उग्रवादी राश्ट्रीय आन्दोलन में अन्तर बताते हुए लाला लाजपतराय ने लिखा है कि ''उदारवादी ब्रिटिष षासन से अपील करते थे, जबकि उग्रवादी नेता अपने

देषवासियों और अपने ईष्वर से अपील करते थे ।''

उदारवादियों तथा उग्रवादियों में उपर्युक्त अन्तर होते हुए भी दोनों सच्चे देषभक्त थे और इस दृश्टि से वे एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् सच्चे अर्थों में एक दूसरे के पूरक थे। रामनाथ सुमन ने इस सम्बन्ध में 'हमारे राश्ट्रनिर्माता' में लिखा है, 'जब हम नरम व गरम– दोनों दलों की प्रवष्त्तियों का विष्लेशण और अध्ययन करते हैं तो स्पश्ट होता है कि हमारी राश्ट्रीयता के विकास में दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों हमारी राजनीति के स्वाभाविक उपकरण हैं। वस्तुतः वे दोनों एक ही आन्दोलन के पक्ष हैं। एक ही दीपक के दो परिणाम हैं। पहला प्रकाष का द्योतक है तो दूसरा गर्मी का। पहला बुद्धि पक्ष है, दूसरा भाव पक्ष । पहला जहां कुछ सुविधाएँ प्राप्त करना चाहता है, वहां दूसरे का उद्देष्य राश्ट्र में मानसिक परिवर्तन करना है।'' गांधीवादी युग

1909–1919 के काल में भारतीय राजनीति में तीन प्रमुख घटनाएं घटित हुई, प्रथम, होमरूल या गष्ह षासन आन्दोलन, द्वितीय, 1916 का कांग्रेस–लीग समझौता, और तष्तीय, 20 अगस्त, 1917 की मॉण्टेग्यू घोशणा । लेकिन इन घटनाओं से अधिक महत्वपूर्ण घटना थी, महात्मा गांधी का भारतीय राजनीति में प्रवेष ।

महात्मा गांधी का भारतीय राजनीति में प्रवेष

महात्मा गांधी ने अपने सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ. 1893 में दक्षिण अफ्रीका सरकार की रंगभेद की नीति का सफल विरोध करते हुए किया था। दक्षिण अफ्रीका में सफल सत्याग्रही की ख्याति प्राप्त कर चुकने के बाद जनवरी, 1915 में महात्मा जी भारत आये । भारतीय जनता गांधी जी से प्रभावित थी ही, गोखले के देहावसान, तिलक की रुग्णता और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी व विपिनचन्द्र पाल आदि नेताओं के उत्साह में कमी हो जाने के कारण भारतीय राजनीति का नेतष्त्व स्वतः ही महात्मा जी के हाथ में आ गया। अखिल भारतीय

राजनीति में प्रवेष से पूर्व महात्मा जी ने चम्पारन, खेड़ा और अहमदाबाद में सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया !

महात्मा गांधी सहयोगी से असहयोगी महात्मा गांधी के द्वारा भारतीय राजनीति में ब्रिटिष षासन के सहयोगी के रूप में प्रवेष किया गया। महात्मा जी ने भारतीय जनता से ब्रिटिष सरकार के युद्ध प्रयत्नों में जन और धन की पूरी–पूरी सहायता देने की अपील की। षासन के द्वारा भी उन्हें कैसर–ए–हिन्द की उपाधि प्रदान की गयी, किन्तु कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं

जिनके कारण महात्मा जी सहयोगी से असहयोगी हो गये और उनके द्वारा ब्रिटिष सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया गया ।

असहयोग आन्दोलन

असहयोग आन्दोलन की पष्ठभूमि

जनता में घोर निराषा और असन्तोश– युद्धकाल में भारत राश्ट्र ने ब्रिटेन को जन और धन से भरपूर सहायता दी थी और युद्ध से भारतीय राश्ट्रवाद को अपूर्व प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। अब भारतीय जनता स्वतंत्रता और लोकतन्त्र के स्वप्नं सँजोने लगी थी लेकिन कुछ

घटनाओं ने जनता की आषा को निराषा और घोर असन्तोश में बदल दिया ।

षासन के द्वारा युद्ध व्यय के रूप में जोर जबरदस्ती से और भारी मात्रा में धन की वसूली और आवष्यक वस्तुओं के मूल्य में असाधारण वृद्धि के कारण जनता का प्रत्येक वर्ग आर्थिक कश्ट से गुजर रहा था और इस स्थिति के लिए ब्रिटिष सरकार को उत्तरदायी समझ रहा था। प्लेग, इन्फ्लुएन्जा और अकाल की स्थिति में षासन की उदासीनता से घोर असन्तोश था । दुःखदायी बात यह थी कि युद्ध के प्रारम्भिक चरण में जितनी तेजी और जोर जबरदस्ती से सेना में भर्ती की गयी, अन्तिम चरण में उतनी ही तेजी से छँटनी प्रारम्भ कर दी गयी। इससे हजारों लोग बेरोजगार हो गये और जनता ने अनुभव किया कि यह सरकार घोर स्वार्थी है।

रौलट ऐक्ट ब्रिटिष सरकार युद्धकाल के बाद भी, आतंकवादी तत्वों पर नियन्त्रण के नाम पर दमनात्मक षक्तियां अपने हाथ में बनाये रखना चाहती थी। अतः भारत के सभी वर्गों के विरोध के बावजूद रौलट कमेटी की रिपोर्ट को कानूनी रूप देते हुए 'रौलट ऐक्ट' बनाया गया, जिसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार कर उसे मनमाने समय तक नजरबन्द रखा जा सकता था। 18 मार्च, 1919 को रौलट ऐक्ट पारित हुआ जिसने मोतीलाल नेहरू के षब्दों में ''अपील, वकील और दलील की व्यवस्था का अन्त कर दिया।'' जलियांवाला हत्याकाण्ड महात्माजी ने रौलट ऐक्ट के विरुद्ध 'सत्याग्रह' प्रारम्भ करने का निष्चय किया। सत्याग्रह का प्रारम्भ सार्वजनिक हड़ताल के माध्यम से करते हुए 30 मार्च, 1919 को सम्पूर्ण देष में हड़ताल करने का निष्चय किया गया, किन्तु बाद में तिथि बदलकर 6 अप्रैल कर दी गयी। 6 अप्रैल को सारे देष में षहरों और गांवों में पूर्ण और अधिकांषतया षान्तिपूर्ण हड़ताल हुई। सरकार ने कुछ स्थानों की हिंसात्मक घटनाओं को आधार बनाकर दमनचक्र प्रारम्भ करते हुए 7 अप्रैल को महात्माजी को गिरफ्तार कर लिया । पंजाब में ब्रिटिष सरकार का विरोध करने के लिए विषेश उत्साह था और पंजाब के गवर्नर माइकल ओ डायर जनता पर षक्ति प्रयोग करने के लिए बेचौन हो रहे थे। 10 अप्रैल को प्रातः अमृतसर के डिप्टी कमिष्नर ने किसी कारण से पंजाब के दो प्रसिद्ध नेताओं सत्यपाल और डॉ. किचलू को धर्मषाला में नजरबंद कर अमृतसर से निश्कासन के आदेष दे दिए। जनता ने इसका विरोध किया और स्थिति तनावपूर्ण हो गंगी । रौलट ऐक्ट और सरकार के इन कार्यों का विरोध करने के लिए 13 अप्रैल, 1919 को अमृतसर के जलियांवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा हुई। इस सभा में सैनिक षासन के प्रमुख जनरल डायर के द्वारा अनावष्यक और अन्धा–धुन्ध गोली वर्शा करायी गयी, जिसके परिणामस्वरूप कम से कम 800 व्यक्ति मरे और 2000 घायल हुए। इस हत्याकाण्ड का उद्देष्य सारे पंजाब को

. आतंकित करना था। इसके बाद भी सैनिक षासन घोशित कर अमानवीय व्यवहार और दमन जारी रखा गया । मनमानी गिरफ्तारियाँ, कोड़ों की मार और मई की तपती दोपहरी में विद्यार्थियों को 16 16 मील तक मार्च कराना दमनकारी षासन के अंग थे ।

–

प्रभाव इस दुर्घटना का राष्ट्र के मन और मस्तिश्क पर व्यापक प्रभाव पड़ा। कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपना 'सर' का खिताब छोड़ दिया और वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य षंकरन नायर ने मार्षल लॉ जारी रखने के विरोध में कार्यकारिणी से त्याग पत्र दे दिया। हत्याकाण्ड के प्रभाव के सम्बन्ध में थोम्पसन और गैरट लिखते हैं, ''अमृतसर दुर्घटना भारत–ब्रिटेन सम्बन्धों में युगान्तरकारी घटना थी, लगभग वैसी ही महत्वपूर्ण जैसा कि 1857 का विद्रोह ।''

.हण्टर कमेटी की रिपोर्ट– हत्याकाण्ड की जाँच करने के लिए 'हण्टर कमेटी' की नियुक्ति की गयी, लेकिन इस कमेटी ने हत्याकाण्ड के लिए उत्तरदायी जनरल डायर को दण्ड देने की सिफारिष करने के स्थान पर उनके कार्य को ''कर्तव्य से सत्यनिश्ठ, लेकिन गलत ध ाारणा पर आधारित'' बताते हुए उसका परोक्ष समर्थन किया। ब्रिटिष लॉर्ड सभा और आंग्ल भारतीय प्रेस ने जनरल डायर को ''ब्रिटिष साम्राज्य का रक्षक'' कहा। यह सब कुछ भारतीयों के जले पर नमक छिड़कना था और इससे उदार भारतीयों को असहनीय ठेस पहुँची ।

खिलाफत आन्दोलन – महायुद्ध में ब्रिटिष सरकार ने भारत के मुसलमानों को टर्की के सुल्तान की स्थिति बनाये रखने के सम्बन्ध में कुछ आष्वासन दिए थे, लेकिन युद्ध के बाद ब्रिटेन ने टर्की के साथ जो 'सेवर्स की सन्धि की, उसके द्वारा इन आष्वासनों को भंग कर दिया गया। इस सन्धि के द्वारा टर्की के सुल्तान के अधिकार छीन लिये गये। इससे टर्की के सुल्तान को अपना 'खलीफा' (धर्मगुरु मानने वाले भारतीय मुसलमान ब्रिटिष षासन के बहुत अधिक विरुद्ध हो गये और उन्होंने 'खिलाफत आन्दोलन' (खलीफा की सत्ता की पुनर्स्थापना का आन्दोलन) षुरू कर दिया। महात्मा गांधी ने खिलाफत आन्दोलन का समर्थन किया और हिन्दू–मुस्लिम एकता के आधार पर ब्रिटिष सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन निष्चय किया ।

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन – सितम्बर, 1920 में कलकत्ते में कांग्रेस का जो विषेश अधि िवेषन हुआ, उसमें महात्माजी ने असहयोग आन्दोलन सम्बन्धी प्रस्ताव रखा और समापति लाला लाजपतराय सहित अनेक वरिश्ठ नेताओं के विरोध के बावजूद गांधी जी का प्रस्ताव भारी बहुमत से स्वीकृत हो गया। दिसम्बर, 1920 के नागपुर अधिवेषन में गांधीजी का प्रस्ताव पुनः भारी बहुमत से स्वीकृत हुआ । अधिवेषन में एक प्रस्ताव पास कर गांधीजी को षान्तिमय और अहिंसक आन्दोलन करने के समस्त अधिकार दे दिए गए। असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम और प्रगति

सन् 1919 का वर्श भारतीय जनता के लिए असहयोग का सन्देष लेकर आया। असहयोग आन्दोलन का उद्देष्य यह था कि ब्रिटिष भारत की जो भी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाएँ हैं, उन सबका बहिश्कार कर दिया जाए और इस प्रकार सरकार की मषीनरी को बिल्कुल ठप्प कर दिया जाए।.

प्रस्ताव के अनुसार इसका कार्यक्रम निम्नलिखित था :

1. सरकारी वैतनिक तथा अवैतनिक पद एवं उपाधियों का त्याग। 2. सरकारी और अर्द्ध सरकारी स्कूलों और कालेजों का बहिश्कार। 3. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत होने वाले चुनावों का बहिश्कार ।

भारतीय षासन एवं राजनीति

4. सरकारी अदालतों का बहिश्कार ।

5. विदेषी माल का बहिश्कार ।

6. सरकारी और अर्द्ध सरकारी उत्सवों और समारोहों में उपस्थित न होना ।

भारतीयों द्वारा मैसोपोटामिया में सैनिक क्लर्क या मजदूर के रूप में कार्य करने – से इन्कार करना ।

उपर्युक्त निशेधात्मक कार्यक्रम के अतिरिक्त कार्यक्रम का सकारात्मक पक्ष भी था. जिसमें निम्न बातें मुख्य थीं :

(1) राश्ट्रीय स्कूल और कालेजों की स्थापना, (2) पारस्परिक विवाद तय करने के लिए निजी पंचायतों का उपयोग, (3) बड़े पैमाने पर स्वदेषी का प्रचार, (4) हथकरघा और बुनाई उद्योग का जीर्णोद्धार, (5) अस्पष्ष्यता का अन्त ।

'' आन्दोलन का सूत्रपात गांधीजी ने अपने केसर ए हिन्द के पदक को वापस देकर किया। सेठ जमनालाल बजाज ने अपनी राय बहादुर की उपाधि तथा 'आनरेरी मजिस्ट्रेटी छोड़ दी । स्थान स्थान पर हजारों विद्यार्थियों द्वारा सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का बहिश्कार किया गया। इन विद्यार्थियों के अध्ययन हेतु आन्दोलन के नेताओं द्वारा राश्ट्रीय षिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई जिनमें बिहार विद्यापीठ पटना, गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद, तिलक महाराश्ट्र विद्यापीठ पूना, मुस्लिम विद्यापीठ अलीगढ़ तथा काषी विद्यापीठ, काषी की स्थापना की गई। इन राश्ट्रीय विद्यालयों के स्नातकों ने देष सेवा के कार्य में प्रषंसनीय योगदान दिया । अदालतों के बहिश्कार सम्बन्धी कार्यक्रम के अन्तर्गत देष के अनेक प्रमुख वकीलों ने वकालत छोड़ दी ।

विदेषी वस्त्रों के बहिश्कार में लोगों ने अपूर्व उत्साह दिखाया । स्थान–स्थान पर विदेषी वस्त्रों की होली के अपूर्व दृश्य देखें गए। षराब और विदेषी वस्त्र की दुकानों पर पिकेटिंग की गयी। स्वदेषी को लोकप्रियता प्राप्त हुई और हाथ करघा व हाथ–बुनाई को प्रोत्साहन मिला। कांग्रेस महासमिति ने अपनी मार्च 1921 की वेजवाड़ा बैठक में एक करोड़. रुपया एकत्रित करना निष्चित किया और इस कोष में तेजी से राषि एकत्रित होने लगी । कांग्रेस महासमिति ने 30 लाख स्वयंसेवकों की सूची और 20 हजार चर्खे तैयार किए। आन्दोलन की विषेश बात हिन्दू–मुस्लिम एकता थी ।

षासन द्वारा दमन और प्रिंस ऑफ वेल्स का बहिश्कार – प्रारम्भ में आन्दोलन के प्रभाव को दूर करने के लिए सरकार ने 'अमन सभाएं स्थापित करने की चेश्टा की, परन्तु षासन की यह चेश्टा नितान्त असफल सिद्ध हुई । सरकार की समझ में नहीं आता था कि इस अद्‌भुत स्थिति का कैसे सामना किया जाए । आन्दोलन को आषा से अधिक बढ़ता देखकर सरकार ने क्रूर दमन का आश्रय लेना प्रारम्भ कर दिया। सरकार ने राजद्रोह सभा अधिनियम का खुलकर प्रयोग किया तथा आन्दोलन के नेताओं को पकड़ना षुरू कर दिया। देषबन्धु चित्तरंजनदास को मैमनसिंह में एक सभा में भाशण देने से रोक दिया गया । इसी प्रकार डॉ० राजेन्द प्रसाद तथा मौलाना मजरूल हक को आगरा जाने, याकूब हुसैन को कलकत्ता जाने और लाला लाजपतराय को पेषावर जाने से रोक दिया गया। कुछ स्थानों पर तो बिना आवष्यकता के ही अत्यधिक षक्ति का प्रयोग किया गया। इस प्रकार की घटनाओं में 'ननकाना काण्ड' सबसे प्रमुख है। 4 मार्च, 1921 को गुरुद्वारे में कुछ सिख एकत्रित हुए । यह बिल्कुल षान्तिमय समुदाय था, लेकिन यकायक उन पर धावा बोल दिया गया और गोलियाँ चलायी गयीं, जिसमें सरकार के कथनानुसार 70 मौते हुई । जनता का उत्साह बढ़ता जा रहा था और इस बढ़ते हुए उत्साह के कारण जुलाई, 1921 में विदेषी वस्त्रों के बहिश्कार आन्दोलन में तीव्रता आ गयी। षासन ने भी अपने वचनों को भुलाकर सितम्बर,

अली बन्धुओं को गिरफ्तार कर लिया। कांग्रेस महासमिति ने अपनी बैठक में अली बन्धुओं की गिरफ्तारी का विरोध किया और गिरफ्तारी के विरोध में प्रिंस ऑफ वेल्स के भारत आगमन के दिन सम्पूर्ण देष में हड़ताल करने का निष्चय किया ।

षासन द्वारा पूरी षक्ति के साथ दमन–चक्र जारी रखा गया और अब तो मारपीट, लाठी और गोली वर्शा रोजमर्रा की घटनाएं हो गयीं। सितम्बर, 1921 तकं चित्तरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, मौलाना आज़ाद और गांधी जी के अतिरिक्त सभी मुख्य नेताओं

को गिरफ्तार कर लिया गया। इस समय कुल गिरफ्तार व्यक्तियों की संख्या लगभग 60 हजार थी, लेकिन जनता का उत्साह कम होने का नाम ही नहीं ले रहा था ।

17 नवम्बर, 1921 को जब प्रिंस ऑफ वेल्स बम्बई उतरे, तो कांग्रेस के निष्चय के अनुसार बम्बई में उनका स्वागत हड़ताल से किया गया। कलकत्ता और अन्य स्थानों पर भी प्रिंस का स्वागत हड़ताल और विरोध प्रदर्षनों से ही किया गया। रजनी पामदत्त ने षब्दों में, ''जनता की नफरत का ऐसा व्यापक और सफल प्रदर्षन पहले कभी नहीं हुआ था।'' जनता के अपूर्व उत्साह और ब्रिटिष सरकार के दमन को देखते हुए आन्दोलन के अन्तर्गत कोई नवीन कदम उठाना जरूरी हो गया था । अतः 1 फरवरी, 1922 को महात्मा गांधी ने वायसराय को पत्र लिखते हुए चेतावनी दी कि यदि 7 दिन के अन्दर सरकार ने अपनी दमन–नीति में परिवर्तन नहीं किया तो बारडोली और गुण्टूर में सविनय अवज्ञा आन्दोलन' प्रारम्भ कर दिया जाएगा, जिसमें 'कर न दो का कार्यक्रम भी षामिल होगा।

'चौरीचौरा काण्ड और आन्दोलन का अन्त लेकिन 7 दिन का समय समाप्त होने के पूर्व ही एक ऐसी घटना हुई, जिसने सम्पूर्ण स्थिति को बदल दिया। 5 फरवरी 1922 को गोरखपुर जिले के चौरी–चौरा नामक ग्राम में पुलिस के बल प्रयोग से जनता ने उत्तेजित होकर थाने में आग लगा दी, जिसके फलस्वरूप थानेदार और 21 सिपाही जलकर मर गये । अहिंसावादी गांधी हिंसा के इस क्रूर प्रयोग को सहन नहीं कर सके, उन्होंने चित्तरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय और सुभाशचन्द्र बोस आदि सभी नेताओं द्वारा मना किए – जाने पर भी 11 फरवरी 1922 को आन्दोलन स्थगित कर दिया। 10 मार्च, 1922 को गांध ा पीजी गिरफ्तार कर लिए गए तथा उन पर मुकदमा चलाकर उन्हें 6 वर्श की सजा दे दी गयी।

आन्दोलन के आकस्मिक स्थगन का अन्य नेताओं द्वारा तीव्र विरोध किया जाना नितान्त स्वाभाविक था । मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय ने जेल से ही लम्बे पत्र लिखकर गांधी जी को किसी एक स्थान के पाप के कारण सारे देष को दण्ड देने के लिए आड़े हाथों लिया । सुभाश बोस ने सामान्य भावना को व्यक्त करते हुए कहा, 'ठीक उस समय जबकि जनता का उत्साह चरमोत्कर्श पर था, वापस लौटने का आदेष दे देना राश्ट्रीय दुर्भाग्य से कम न था । बहुत बड़ी संख्या में कांग्रेसियों और जनता के एक भाग द्वारा आन्दोलन के . स्थगन को राश्ट्रीय अपमान समझा गया । आन्दोलन के स्थगित होने से हिन्दू–मुस्लिम एकता पर भी विपरीत प्रभाव पड़ा।

आन्दोलन की दुर्बलताएँ आन्दोलन की सम्भवतया सबसे बड़ी दुर्बलता. राजनीति में धर्म का प्रवेष था, जिसके दूरगामी परिणाम बहुत घातक हुए। खिलाफत का प्रष्न जो एक धार्मिक प्रष्न था, उसे राश्ट्रीय आन्दोलन' के राजनीतिक मसले के साथ मिलाना दुर्भाग्यपूर्ण था। गांध ीजी ने हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए ऐसा किया था, लेकिन इसने भारतीय राजनीति में ध ार्मिक कट्टरता को प्रवेष प्रदान किया और इसका दूरगामी प्रभाव 'हिन्दू–मुस्लिम तनाव' के रूप में प्रकट हुआ। मंजूमदार ठीक ही लिखते हैं कि ''गांधीजी द्वारा हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिए चुना गया आधार बहुत कमजोर था !''

5. वास्तव में, भारतीय स्वतंत्रता किसी एक तत्व का परिणाम नहीं, वरनं अनेक तत्वों का सामूहिक परिणाम थी – इस वक्तव्य को स्पश्ट करें।

आन्दोलन से भारतीयों में जिन उच्च्य आषाओं ने जन्म लिया था उनमें से किसी एक भी के पूरे हुए बिना आन्दोलन के स्थगन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव अच्छा नहीं हुआ। बोस लिखते हैं कि एक वर्श में स्वराज्य प्राप्त करने का वचन न केवल अविवेकपूर्ण. वरन् बालक सदृष भी था।'' जन मनोवष्त्ति का ध्यान रखते हुए हिंसा की छुट पुट घटनाओं को गांधीजी के द्वारा स्वाभाविक समझा जाना चाहिए था। इसके अतिरिक्त, ये घटनाएं षासन द्वारा किए गए दमनात्मक कार्यों की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुई थीं और इस रूप में इन घटनाओं का उत्तरदायित्व षासन पर डाला जाना चाहिए था ।

आन्दोलन को सहसा स्थगित कर देना अबुद्धिमत्तापूर्ण ही था। साधारण अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि यदि यह आन्दोलन कुछ समय तक और चलता रहा तो सरकार के लिए सुधारों की नवीन और सारपूर्ण योजना की घोशणा आवष्यक होती।

आन्दोलन का महत्व – उपर्युक्त दुर्बलताओं के होते हुए भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि असहयोग आन्दोलन भारतीय स्वतंत्रता की दिषा में एक महत्वपूर्ण कदम था।

(1) इसने राश्ट्रीय आन्दोलन को एक जन आन्दोलनों का रूप प्रदान कर दिया। इसने जनता में अपूर्व त्याग और साहस की भावना का संचार किया। अब तक. देषभक्ति या राश्ट्रीयता कुछ गिने चुने व्यक्तियों की विरासत समझी जाती थी, महात्मा गांध और असहयोग आन्दोलन के प्रभाव से यह सर्वसाधारण की सम्पत्ति बन गयी । असहयोग आन्दोलन पहला जन आन्दोलन था और इसने भारतीय जनता को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाया द्य महात्माजी और कांग्रेस की यह एक और आष्चर्यजनक सफलता थी। असहयोग आन्दोलन की महत्ता के सम्बन्ध में कूपलैण्ड लिखते हैं, ''उन्होंने (गांधीजी) ने वह काम किया जो तिलक भी नहीं कर सके थे। उन्होंने राश्ट्रीय आन्दोलन को एक 'क्रांतिकारी आन्दोलन के रूप में परिवर्तित कर दिया। उन्होंने स्वतंत्रता के लक्ष्य की ओर बढ़ना सिखाया। उन्होंने राश्ट्रीय आन्दोलन को क्रांतिकारी ही नहीं. अपितु जनप्रिय भी बनाया। अभी वह नगरों के बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित था, अब वह ग्रामों की जनता तक पहुँच गया ।''

(2) आन्दोलन के द्वारा साधारण जनता को निर्भीकता प्रदान की गयी। पहले. जनता सरकार का विरोध करने में बहुत घबराती थी, जेलों से डरती थी। इस आन्दोलन का

☐ परिणाम यह निकला कि जनता निर्भीक हो गयी और सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने से नहीं 'डरने लगी। अंब सार्वजनिक सभाओं में सरकार की आलोचना करना साधारण बात हो गयी और बच्चे बच्चे के मुंह से स्वराज्य षब्द सुनाई देने लगा ।

(3) इस आन्दोलन का एक लाभ यह हुआ कि जब तक आन्दोलन चलता रहा, ब्रिटिष सरकार जनता का पूर्ण सहयोग करने के लिए प्रयत्नषील रही। इस हेतु उसने 1919 के सुधारों को उदारतापूर्वक कार्यान्वित किया और उदारवादियों को अपना हर तरह का सहयोग दिया।

(4) कांग्रेस ने जो रचनात्मक कार्यक्रम अपनाया जैसे खादी, चर्खा कातना, राश्ट्रीय षिक्षण संस्थाओं का संचालन और विदेषी माल के बजाय स्वदेषी माल को अपनाना, इससे भी देष को बड़ा भारी लाभ हुआ। सुभाशचन्द्र बोस आन्दोलनों की सफलताओं को स्वीकार करते हुए लिखते हैं । 1921 के वर्श ने निस्सन्देह एक सुव्यवस्थित दलीय संगठन प्रदान किया। इसके पूर्व कांग्रेस एक वैधानिक दल और मुख्यतया बात करने वाली संस्था थी । महात्माजी ने इसे नया विधान दिया और देषव्यापी बनाया । उन्होंने इसे एक क्रांतिकारी संगठन के रूप में भी परिवर्तित कर दिया । ''

सविनय अवज्ञा आन्दोलन :

1923–28 की भारतीय राजनीति– इस काल की भारतीय राजनीति में तीन प्रमुख स्थितियाँ उत्पन्न हुई, प्रथम, स्वराज्य दल की स्थापना, उसके कार्य और इतिश्री, द्वितीय, साइमन कमीषन और तष्तीय, सर्वदलीय सम्मेलन और नेहरू रिपोर्ट द्य

सविनय अवज्ञा आन्दोलन और गोलमेज सम्मेलन

सविनय अवज्ञा आन्दोलन की पष्ठभूमि –

कलकत्ता कांग्रेस (1928)– कांग्रेस का अल्टीमेटम – नेहरू रिपोर्ट के सम्बन्ध ज में कांग्रेस के नेताओं में काफी मतभेद थे। जवाहरलाल नेहरू और सुभाशचन्द्र बोस के नेतृत्व में युवक

दल इस रिपोर्ट को केवल पूर्ण स्वतंत्रता के आधार पर ही स्वीकार करने को तत्पर था, लेकिन मोतीलाल नेहरू के नेतष्त्व में पुरानी पीढ़ी इसे पूर्ण रूप से स्वीकार करना चाहती थीं। ऐसी स्थिति में गांधीजी ने मध्यस्थता करते हुए प्रस्ताव प्रेष किया। यह प्रस्ताव ब्रिटिष षासन के लिए एक अल्टीमेटम के रूप में था। प्रस्ताव का एक महत्वपूर्ण अंष इस प्रकार थाः ''यदि ब्रिटिष संसद इस विधान को ज्यों का त्यों 31 दिसम्बर, 1929 तक या उससे पहले स्वीकार कर ले, तो कांग्रेस इस विधान को अपना लेगी बषर्ते कि राजनीतिक स्थिति में कोई परिवर्तन न हो। लेकिन यदि उस तिथि तक ब्रिटिष संसद उसे स्वीकार न करे। या इसके पहले ही अस्वीकार कर दे तो कांग्रेस देष को करबन्दी की सलाह देकर तथा अन्य उपायों के आधार पर जिन्हें वह बाद में निष्चित करेगी, अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन चलायेगी।''

कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया ।

इंग्लैण्ड में मजदूर दल की सरकार, लेकिन स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं

☐ मई 1929 में इंग्लैण्ड में मजदूर दल की सरकार स्थापित हुई। भारतीयों को मजदूर दल की सरकार से बहुत आषाएँ थीं। लेकिन मजदूर दल की इस सरकार पर अनेक भारत–विरोध

दबाव थे, इस कारण भारत के सम्बन्ध में स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

1929 का लाहौर अधिवेषन और पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव सरकार के दृश्टिकोण से भारतीय नेताओं को यह निष्चय हो गया था कि ब्रिटिष सरकार उस समय तक भारत को स्वराज्य न देगी, जब तक वह इसके लिए मजबूर न हो जाय । अतः भारी निराषा और क्षोभ के वातावरण में पण्डित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में दिसम्बर 1929 को लाहौर में कांग्रेस का अधिवेषन प्रारम्भ हुआ। अधिवेषन में 31 दिसम्बर की रात्रि को 12 बजे रावी नदी के तट पर भारत का तिरंगा झण्डा फहराकर पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया गया। प्रस्ताव का महत्वपूर्ण भाग इस प्रकार था – ''यह कांग्रेस घोशित करती है कि वर्तमान स्थिति में कांगेस का गोलमेज सम्मेलन में भाग लेना निरर्थक है। कांग्रेस के विधान की पहली धारा में 'स्वराज्य' षब्द का अर्थ पूर्ण स्वाधीनता है। नेहरू कमेटी की रिपोर्ट वापस ली जाती है तथा यह कांग्रेस अपने सदस्यों और राश्ट्रीय आन्दोलन में लगे हुए अन्य व्यक्तियों से अनुरोध करती है कि वे अपना सारा ध्यान देष के लिए पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति में लगायें । '' नयी कार्यसमिति ने निष्चय किया कि प्रतिवर्श 26 जनवरी का दिन 'स्वाधीनता दिवस के रूप में मनाया जाय। इस दिन पढ़े जाने वाले घोशणा–पत्र से स्वाधीनता को भारतीय जनता का जन्मसिद्ध अधिकार घोशित किया गया था ।

देष की आन्तरिक स्थिति जिस समय कांग्रेस के द्वारा पूर्ण स्वाधीनता का उपर्युक्त घोशणा पत्र स्वीकार किया गया, उस समय देष की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति भी बहुत अधिक खराब और उत्तेजनापूर्ण थी। राजनीति में नवयुवक वर्ग अधिक सक्रिय था ।

इस समय विष्व के दूसरे देषों के समान भारत भी आर्थिक मन्दी का षिकार हुआ । "कृशि सम्बन्धी उपज के भव 50 प्रतिषत से अधिक गिर गये थे और किसानों की हालत इतनी तंग थी कि वे एक गज कपड़ा व एक बोतल लैम्प का तेल भी नहीं खरीद सकते थे। सीधा–सादा तथ्य यह था कि वे कर लगान और ऋण अदा करने में असमर्थ थे।'' व्यावसायिक और औद्योगिक वर्गों में रुपये की नयी दर के कारण तीव्र असन्तोश था। सरकार ने रुपये की कीमत 18 पेंस से बढ़ाकर 18 पेंस कर दी थी। इस परिवर्तन से इंग्लैण्ड को बहुत अधिक लाभ हुआ। भारत के उद्योगपतियों और व्यापारियों ने कांग्रेस का समर्थन किया तथा उसके कोश में 1920 ई. से भी अधिक मुक्तहस्त होकर दान दिया । औद्योगिक क्षेत्र में कार्य कर रहे मजदूर भी बहुत अधिक असन्तुश्ट और उत्तेजित थे, क्योंकि षासन के दमन के कारण उन्हें बहुत अधिक कश्ट उठाने पड़ रहे थे। सरकार ने मार्च 1929 में मजदूर संगठन के सबसे अधिक प्रभावषाली नेताओं को गिरफ्तार करके उन पर शड्यन्त्र का अभियोग लगाया,

जो षिथिलतापूर्वक लगातार 4 वर्श तक चलता रहा और जिसमें 27 श्रमिक नेताओं को राजद्रोह के अपराध में दीर्घ कारावास का दण्ड दिया गया । सरकार के इस कार्य से श्रमिक वर्ग के असन्तोश में अत्यधिक वृद्धि हुई । इसी समय सरदार भगतसिंह और बटुकेष्वरदत्त के क्रांतिकारी कार्यों और लाहौर शड्यन्त्र अभियोग के कारण भी भारत का राजनीतिक वातावरण अत्यधिक उत्तेजनापूर्ण हो गया था ।

इस प्रकार 1930 के प्रारम्भ में चारों ओर अत्यधिक उत्तेजना का वातावरण था और इस बात के चिन्ह विद्यमान थे कि यदि महात्मा गांधी अहिंसात्मक आन्दोलन का श्रीगणेष न करते, तो बहुत अधिक दुर्दषा व नौकरषाही दमन—चक्र के कारण भारत में हिंसक क्रांति का सूत्रपात हो जाता। गांधीजी इस बात से अवगत थे, अतः उन्होंने स्थिति में सुधार या स्थिति को नियन्त्रित करने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए। इस स्थिति में भारत के ग्राम— ग्राम और नगर — नगर में 26 जनवरी, 1930 को पूर्ण स्वाधीनता दिवस बहुत उत्साहपूर्वक मनाया

गया।

कांग्रेस का आन्दोलन छेड़ने का निर्णय — कांग्रेस कार्यकारिणी की एक बैठक 14 से 16 फरवरी, 1930 तक साबरमती में हुई । कांग्रेस कार्यकारिणी ने स्थिति का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और एक प्रस्ताव पास कर महात्मा गांधी को उसे सविनय अवज्ञा आन्दोलन करने के संपूर्ण अधिकार दे दिए।

यद्यपि कार्यकारिणी ने गांधीजी को आन्दोलन प्रारम्भ करने के सम्पूर्ण अधिकार दे दिए थे, किन्तु षान्तिवादी और समझौते में विष्वास करने वाले के नाते गांधीजी ने वायसराय को एक और मौका दिया। अपने साप्ताहिक पत्र 'यंग इण्डिया' के एक लेख में उन्होंने वायसराय को निम्नलिखित 11 षर्तें बतायीं और आष्वासन दिया कि यदि सरकार उन्हें मान. ले तो सविनय अवज्ञा आन्दोलन का नाम भी नहीं सुनना पड़ेगा :

1. पूर्ण नषाबन्दी हो ।

2. मुद्रा विनिमय में एक रुपया एक षिलिंग चार पेंस के बराबर माना जाए।

3. मालगुजारी आधी कर दी जाए और उसे विधानमण्डल के नियंत्रण में रखा जाए।

4. नमक पर लगने वाला कर बन्द हो ।

5. सैनिक व्यय कम हो और षुरू में आधा कर दिया जाए।

6. षासन व्यय में कमी करने के लिए अधिकारियों के वेतन आधे या उससे कम कर दिए जाएं ।

7. विदेषी वस्त्रों पर तट कर लगाया जाए, ताकि देषी उद्योग का संरक्षण हो ।

8. तटीय व्यापार संरक्षण कानून पारित किया जाए।

9. हत्या या हत्या की चेश्टा में दण्डित बन्दियों को छोड़कर षेश सभी राजनीतिक बन्दी रिहा कर दिए जाएं, सभी मुकदमे वापस लिए जाएँ और भारत से निर्वासित किए गए. सभी लोगों को आने दिया जाए।

10. खुफिया पुलिस तोड़ दी जाय या इसे जन— नियंत्रण में रखा जाए।

11. आत्म—रक्षा के लिए बन्दूक आदि हथियारों के लाइसेंस दिए जाएँ ।

षासन ने पत्र का सहानुभूतिपूर्वक उत्तर देने के बजाय कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी प्रारम्भ कर दी। ऐसी स्थिति में महात्मा गांधी के सामने आन्दोलन प्रारम्भ करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचा।

ऋऋऋऋऋऋऋऋऋऋ

सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रारम्भ : डाण्डी यात्रा महात्मा जी ने अब आन्दोलन चलाने के ढंग पर विचार करना प्रारम्भ किया और यह निष्चय किया कि सर्वप्रथम स्वयं वे डाण्डी समुद्र तट पर षासन की आज्ञा प्राप्त किए बिना नमक बनायेंगे और इस प्रकार कानून का उल्लंघन करेंगे।

11 मार्च, 1930 को साबरमती के मैदान में 75 हजार व्यक्तियों ने एकत्रित होकर प्रण किया कि जब तक भारत स्वाधीन नहीं हो जाता तब तक न तो हम स्वयं चौन लेंगे न सरकार को चौन लेने देंगे।

12 मार्च, 1930 को महात्मा गांधी और उनके द्वारा चुने गये 79 कार्यकर्ता साबरमती आश्रम से डाण्डी समुद्र तट की ओर चल पड़े। दो सौ मील की लम्बी यात्रा पैदल चलकर 24 दिनों में तय की गयी और यह पैदल यात्रा 'महान आन्दोलन का महान प्रारम्भ थी। बल्लभ भाई पटेल आगे चले और उन्होंने महात्माजी के आगमन के लिए जनता को तैयार किया। महात्मा गांधी 5 अप्रैल, 1930 को डाण्डी पहुँचे और 6 अप्रैल को उन्होंने डाण्डी समुद्र–तट पर स्वयं नमक कानून का उल्लंघन कर सत्याग्रह का श्रीगणेष किया । सविनय अवज्ञा आन्दोलन का कार्यक्रम – गांधीजी का उपर्युक्त कार्य भारत के विभिन्न भागों में विषाल पैमाने पर सविनय अवज्ञा के षुरू किए जाने का संकेत चिन्ह था ! 6 अप्रैल को महात्मा गांधी ने आन्दोलन के लिए निम्न कार्यक्रम निर्धारित किया– गाँव–गाँव' को नमक बनाने के लिए निकल पड़ना चाहिए। बहनों को षराब, अफीम और विदेषी कपड़े की दुकानों पर धरना देना चाहिए। विदेषी वस्त्रों को जला देना चाहिए। हिन्दुओं को अस्पृष्यता त्याग देनी चाहिए, विद्यार्थी सरकारी षिक्षण संस्थाएं छोड़ दें और सरकारी नौकरी से त्याग पत्र दे दें।'' 4 मई को महात्माजी की गिरफ्तारी के बाद कर–बन्दी को भी आन्दोलन के कार्यक्रम में सम्मिलित कर लिया जाय ।

आन्दोलन का उत्कर्श और सरकार का दमन चक्र महात्माजी द्वारा नमक कानून का उल्लंघन किए जाने के षीघ्र बाद ही आन्दोलन पूरे जोर में आ गया और इसके सम्पूर्ण देष को अपने प्रभाव में ले लिया। मध्य प्रान्त में 'जंगल कानून और कलकत्ता में 'राजद्रोह सभा अधिनियम का उल्लंघन किया गया। संयुक्त प्रान्त, मद्रास, मध्य प्रान्त, बम्बई और बंगाल में षासन की अनुमति प्राप्त किए बिना अवैधानिक नमक बनाना प्रारम्भ कर दिया गया । विदेषी वस्त्र और अन्य सामान का बहिश्कार व षराब की दुकानों पर धरना भी सफलतापूर्वक प्रारम्भ कर दिया गया । आन्दोलन प्रारम्भ होने के एक माह के अन्दर 200

पटेल और पटवारियों ने त्याग–पत्र दे दिए और सैकड़ों अन्य सरकारी नौकरों ने भी ऐसा ही किया। विदेषी वस्त्र के बहिश्कार को महान सफलता प्राप्त हुई। आन्दोलन की विषेश बात यह थी कि भारतीय स्त्रियों ने अपने परम्परागत संकोच का त्याग कर बहिश्कार, पिकेटिंग और स्वदेषी प्रचार में आन्दोलनकारियों के साथ मिलकर कार्य किया। अकेले दिल्ली में लगभग 1,700 महिलाएं षाराब की दुकानों पर धरना देने के अपराध में गिरफ्तार की गयीं। 4 मई को गांधीजी की गिरफ्तारी पर बम्बई, कलकत्ता और अन्य स्थानों पर सम्पूर्ण और स्वेच्छापूर्वक हड़ताल हो गयी। बम्बई में जी.आई.पी. और बी. सी. आई. के कारखाने के मजदूर भी काम छोड़कर हड़ताल में सम्मिलित हो गये ।

आन्दोलन के प्रारम्भ होने के पहले ब्रिटिष सरकार के जिम्मेदार अधिकारियों ने आन्दोलन की टेकनीक का उपहास किया था, आन्दोलन के गति पकड़ने पर वह कुछ समय के लिए वह हतप्रभ सी हो गयी। लेकिन कुछ समय बाद ही उसने निर्ममतापूर्वक दमन प्रारम्भ कर दिया। प्रदर्षनों और सार्वजनिक सभाओं को निर्दयतापूर्वक तितर–बितर किया जाने लगा

और अब लाठी प्रहार दिन प्रतिदिन की घटना हो गयी। धारासना में 2,500 स्वयंसेवकों ने नमक के गोदाम पर चढ़ाई की और वे पाषविक लाठी प्रहार के षिकार हुए। ''जमीन पीड़ा से कराहते हुए आदमियों से पट गयी थी। किसी का कन्धा टूट गया था और किसी की खोपड़ी। लोगों के सफेद कपड़े खून से तर बतर थे।'' 'न्यूफ्रीमैन' के सम्वाददाता वेब मिलर धारासना के दृश्य और पुलिस की ज्यादतियों का वर्णन करते हुए लिखते हैं, '' 18 वर्श तक 20 देषों में सम्वाद – संग्रह के काम में मैंने असंख्य उपद्रव, संघर्श, गली कूचों में जमकर हुई लड़ाइयां और विद्रोह, देखे हैं । लेकिंन ६ रासना जैसे रोंगटे खड़े कर देने वाले मर्मभेदी दृश्य मैंने कभी नहीं देखे। कभी–कभी ऐसी पीड़ा के दृश्य होते कि मुझे थोड़ी देर तक के लिए आंखें हटा लेनी पड़तीं । स्वयंसेवकों का अनुषासन आष्चर्यजनक था, लगता था कि उन्होंने गांधीजी की अहिंसा को घोलकर पी लिया है।'' धारासना के बाद बडाला के नमक डिपो पर धावा बोलते समय भी स्वयंसेवकों ने इसी प्रकार से लाठी प्रहार सहन किया ।

कभी कभी पुलिस बिलकुल मामूली–सी बातों पर छात्रों का पीछा करती हुई उनकी कक्षाओं में घुस जाती थी और उन्हें वे उनके अध्यापकों को लाठियों का षिकार बनाती थी । कांग्रेस को अवैध संगठन घोशित कर दिया गया था और एक वर्श में ही लगभग 90 हजार सत्याग्रहियों को जेल में ठूंस दिया गया। महिलाओं के साथ भी इसी प्रकार की कठोरता का बर्ताव किया गया। देष को अध्यादेष षासन के अधीन कर दिया गया था और एक के तुरन्त बाद दूसरे दमनमूलक कानूनों का बोलबाला था । करबन्दी आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने सम्पत्ति के बलात् ग्रहण, हरण और नीलाम का सहारा लिया था। पुलिस के जुल्मों के परिणामस्वरूप कई गाँव बिलकुल उजड़ गये ।

पुलिस के दमन कार्य की प्रतिक्रिया के रूप में कुछ स्थानों पर जनता ने भी हिंसात्मक कार्यवाहियां कीं। षोलापुर में एक उत्तेजित भीड़ ने थाने जला दिए तथा कुछ चौकीदारों को मार डाला। संगठित कार्यकर्ताओं ने व्यवस्था स्थापित करने में सफलता प्राप्त की, लेकिन पुलिस ने 25 व्यक्तियों को भूनकर और सैकड़ों को घायल करके प्रतिषोध लिया । पेषावर में अप्रैल 1930 में इससे भी भयंकर घटनाएँ हुई और 24 अप्रैल से 4 मई तक पेषावर. में अंग्रेजी हुकूमत नहीं रही। इस अवधि में षान्तिपूर्ण व अनुषासित खुदाई खिदमतगारों ने व्यवस्था कायम रखी। इसके बाद सैनिक दस्तों ने पुनः षहर पर अधिकार कर लिया और अनेक खुदाई खिदमतगारों को मषीन गनों से धराषायी कर दिया। इस दौरा में महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि एक गढ़वाली प्लाटून ने अपने निहत्थे मुस्लिम देषवासियों पर

गोली चलाने से इन्कार कर दिया। आन्दोलन का दुःखदायी तथ्य यह था कि भारतीय मुसलमान उत्तर–पष्चिमी सीमा प्रान्त को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में इस आन्दोलन से अलग ही रहे। प्रथम गोलमेज सम्मेलन और गांधी इरविन समझौता

साइमन कमीषन द्वारा भारतीय समस्याओं को सुलझाने के लिए गोलमेज सम्मेलन का सुझाव दिया गया था। नवम्बर 1930 में लन्दन में हुए प्रथम गोलमेज सम्मेलन का कांग्रेस द्वारा बहिश्कार किया गया। ब्रिटिष षासन ने अब इस तथ्य को समझ लिया था कि राश्ट्रीय कांग्रेस के सहयोग के बिना भारत की कोई भी समस्या हल नहीं हो सकती। अतः सम्मेलन के पष्चात् जयकर तथा सप्रू के हस्तक्षेप से 5 मार्च, 1931 को 'गांधी–इरविन समझौता' हुआ जिसके द्वारा कांग्रेस ने आन्दोलन बन्द करने और दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने का निष्चय किया और षासन द्वारा आन्दोलन में गिरफ्तार व्यक्तियों को छोड़ने और उनकी सम्पत्ति वापस करने का वचन दिया गया।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (सितम्बर 1931)

कांग्रेस के सर्वाधिकार प्राप्त प्रतिनिधि के रूप में महात्मा गांधी दूसरे गोलमेज सम्मेलन में सम्मिलित हुए लेकिन महात्माजी के समस्त प्रयत्नों के बावजूद ब्रिटिष षासन की अनुदारता और मि. जिन्ना की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण भारत की राजनीतिक समस्या का कोई हल नहीं निकाला जा सका। सम्मेलन 1 दिसम्बर, 1931 ई. को समाप्त हो गया । यह

सम्मेलन पूर्णतया असफल रहा। वस्तुतः ब्रिटिष सरकार भारतीय समस्या का हल निकालने के लिए तनिक भी उत्सुक नहीं थी ।

इकाई 4
रा"Vh; dkxzl dk mn;

विलिंगडन का रुख इतना कठोर था कि गांधीजी के सामने सविनय अवज्ञा आन्दोलन फिर से षुरू करने के अलावा कोई रास्ता नहीं रहा। इस बार षासन का दमन चक्र बहुत ही अधिक कठोर था । लाठी प्रहार, गोली वर्शा, सम्पत्ति की जब्ती और सामूहिक जुर्माने नित्य के कार्यक्रम हो गये । गांधीजी को बन्दी बना लिया गया, कांग्रेस को अवैध ा संगठन घोशित कर दिया गया और समाचार–पत्रों पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिए गए। 1932 के अन्त तक राजनीतिक बन्दियों की संख्या 2 लाख 20 हजार तक पहुँच गयी।
अत्यधिक दमन के कारण आन्दोलन की षक्ति कम होती जा रही थी। सरकार ने 8 मई, 1933 को गांधीजी को रिहा कर दिया था। 10 मई 1933 को महात्माजी ने आन्दोलन 11 सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया। 14 जुलाई 1933 को जन–आन्दोलन रोक कर व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन षुरू किया जो 9 माह तक चलता रहा। 7 अप्रैल, 1934 को इसे भी स्थगित कर दिया गया। अब गांधी जी के नेतृत्व पर पुनः आक्षेप हुए। कुछ दिनों बाद सरकार ने कांग्रेस पर से प्रतिबन्ध उठा लिया। 1934 के बम्बई अधिवेषन में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास कर कांग्रेसियों को धारासभाओं में प्रवेष करने की इजाजत दे दी। तृतीय गोलमेज सम्मेलन
गोलमेज परिशद का तीसरा और अन्तिम अधिवेषन नवम्बर, 1932 में प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में राश्ट्रीय कांग्रेस और इंग्लैण्ड के मजदूर दल द्वारा भाग नहीं लिया गया, इसलिए इसका कोई महत्व नहीं है। सम्मेलन में कट्टर राजभक्तों ने भारत के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। सम्मेलन में उन बातों को पुश्ट किया गया, जो प्रथम दो सम्मेलनों में निष्चित की गयी थीं।

पष्ठभूमि 1935 के अधिनियम की क्रियान्विति और उसका प्रभाव ब्रिटिष संसद के द्वारा 1935 ई. में भारत के लिए भारतीय षासन अधिनियम, 1935' पारित किया गया। कांग्रेस में इस बात पर मतभेद थे कि इस अधिनियम के आधार पर होने वाले चुनावों में भाग लिया. जाये या नहीं, लेकिन अन्त में कांग्रेस ने चुनाव में भाग लिया। 1937 के चुनाव परिणाम कांग्रेस के लिए बहुत उत्साहवर्द्धक थे। 1937 में ही 11 में से 8 प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों का निर्माण हुआ और कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के द्वारा अनेक जनहितकारी कार्य किये गये । युद्ध का प्रारम्भ, वायसराय द्वारा भारत की ओर से युद्ध की घोशणा और प्रांतों के कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों का त्यागपत्र

3 सितम्बर, 1939 ई. को द्वितीय विष्व युद्ध प्रारम्भ हुआ । ग्रेट ब्रिटेन युद्ध से अलग नहीं रह सकता था, अतः लोकतन्त्र और स्वतंत्रता की रक्षा के नाम पर इंग्लैण्ड ने जर्मनी के विरूद्ध युद्ध की घोशणा कर दी। इस स्थिति में भारत के वायसराय ने भारतीय नेताओं, कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों या केन्द्रीय विधानसभा से परामर्ष लिए बिना ही भारत की ओर से जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोशणा कर दी। भारतीय नेताओं द्वारा वायसराय के इस अषोभनीय और अपमानजनक कार्य का विरोध किया जाना नितान्त स्वाभाविक था । कांग्रेस चाहती थी कि ब्रिटिष सरकार युद्ध के उद्देष्य स्पश्ट करे और आष्वासन दे कि युद्ध के बाद भारत को स्वतंत्रता दे दी जायेगी। ब्रिटिष षासन द्वारा ऐसा कोई भी आष्वासन न दिये जाने पर कांग्रेस कार्य समिति ने 22 अक्टूबर, 1939 को प्रस्ताव पास कर प्रान्तों के कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों को त्यागपत्र देने के लिए कहा और आठ प्रान्तों के कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने तुरन्त अपने त्यागपत्र दे दिये ।

अगस्त प्रस्ताव (8 अगस्त, 1940)

गवर्नर जनरल लॉड लिनलिथगो ने गर्वनर जनरल की कार्यकारिणी के विस्तार का सुझाव प्रस्तुत करते हुए कांग्रेस से षासन के साथ सहयोग करने के लिए आग्रह किया । लेकिन यह प्रस्ताव नितान्त असन्तोशजनक था और कांग्रेस के द्वारा इसे अस्वीकार कर दिया

गया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह अगस्त प्रस्ताव जवाहरलाल नेहरू और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी जैसे नेताओं के क्रियाकलापों के लिए, जो भारत की प्रतिरक्षा में सक्रिय सहयोग देना चाहते थे और जिनके नेतष्त्व में कांग्रेस ने पहले महात्मा गांधी के युद्ध प्रयत्न सम्बन्धी षान्तिवाद और असहयोग सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया था, एक तीव्र आघात था । अतः कांग्रेस ने पुनः महात्मा गांधी को मार्गदर्षन के लिए आमंत्रित किया। इस प्रकार कांग्रेस ने पुनः असहयोग के मार्ग को ग्रहण कर लिया । महात्मा गांधी ब्रिटिष सरकार के विरुद्ध भारतीय भावनाओं को व्यक्त करना चाहते थे, लेकिन इसके साथ ही वे ब्रिटिष सरकार . के सम्मुख उत्पन्न संकट की स्थिति से अनुचित लाभ उठाने के पक्ष में नहीं थे। अतः उन्होंने सामूहिक कार्यवाही के स्थान पर सीमित पैमाने पर व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह केवल प्रतीकात्मक विरोध था और इसका उद्देष्य नैतिक विरोध

की अभिव्यक्ति मात्र था । इस सत्याग्रह में अहिंसा के पालन पर विषेश बल दिया गया था और सामूहिक कार्यवाही को प्रत्येक रूप में निशिद्ध कर दिया गया था।

गांधीजी के विष्वस्त अनुयायी विनोबा भावे को प्रथम सत्याग्रही के रूप में चुना गया और उनके द्वारा 17 अक्टूबर, 1940 को पवनार में यह आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। विनोबा जी का अनुकरण पण्डित नेहरू नें किया। षीघ्र ही व्यक्तिगत सत्याग्रह का राश्ट्रव्यापी आन्दोलन प्रारम्भ हो गया । सत्याग्रह आन्दोलन का स्वरूप प्रतीकात्मक ही था, फिर भी मई 1941 तक लगभग 1,400 सत्याग्रही जेल पहुँच गये। इनमें 6 प्रान्तों के भूतपूर्व मुख्यमंत्री, 29 मंत्री और 290 प्रान्तीय विधानमण्डलों के सदस्य थे।

सत्याग्रहियों की रिहाई और सत्याग्रह का स्थगन – 7 दिसम्बर, 1941 को अमरीकी जहाज पर्ल हार्बर पर आक्रमण करने के साथ ही जापान भी युद्ध में सम्मिलित हो गया। उसने फिलीपाइन द्वीपसमूह, हिन्दचीन, मलाया आदि पर आधिपत्य कर आगे बढ़ना जारी रखा। इससे युद्ध भारत के दरवाजे तक पहुँच गया, ऐसी स्थिति में प्रेसीडेण्ट रूजवेल्ट ने ब्रिटिष सरकार से आग्रह किया कि सत्याग्रहियों को रिहा कर भारत में सद्भावनापूर्ण वातावरण तैयार करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। दिसम्बर 1941 में पं. जवाहरलाल नेहरू और मौलाना आजाद को रिहा कर दिया गया। अंतर्राश्ट्रीय स्थिति अधिकाधिक गम्भीर होती जा रही थी और भारत की सुरक्षा भी संकट में थी, इसलिए दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में बारडोली में कांग्रेस कार्यसमिति की जो बैठक हुई, उसमें व्यक्तिगत सत्याग्रह को स्थगित कर दिया गया और सम्भावित संकट में देष की रक्षा के लिए उचित संगठन स्थापित करने का निष्चय किया गया।

क्रिप्स मिषन और क्रिप्स योजना

युद्ध के प्रारम्भिक चरण में ब्रिटेन और मित्र राश्ट्रों की स्थिति बिगड़ती जा रही थी । 1941 में जब जापानी सेनाएं बर्मा में भारत की सीमा तक आ पहुँचीं, तो ब्रिटिष सरकार को चिन्ता हुई। ब्रिटिष सरकार ने सोचा कि जापान के संम्भावित आक्रमण से भारत की रक्षा का कार्य भारत की राजनीतिक षक्तियों के सहयोग से ही सम्भव हैं। अतः प्रधानमंत्री चर्चिल ने राजनीतिक गतिरोध दूर करने के लिए मार्च 1942 में सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा । मई 1942 में क्रिप्स के द्वारा अपनी योजना पेष की गयी, जिसके दो भाग थेः अन्तरिम योजना और दीर्घकालीन योजना। योजना में युद्ध समाप्ति पर भारत को स्वतंत्रता देने की बात कही गयी थी लेकिन युद्ध होते रहने तक सुरक्षा विभाग ब्रिटिष षासन के अधिकार में रखने के लिए कहा गया। उस समय युद्ध की स्थिति ऐसी थी कि किसी भी दीर्घकालीन योजना की अपेक्षा तत्कालीन योजना में ही अधिक रुचि हो सकती थी और कांग्रेस सुरक्षा विभाग के

सम्बन्ध में क्रिप्स योजना के प्रबन्ध को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी । गांधीजी ने क्रिप्स योजना को दिवालिया बैंक के नाम भविश्य की तिथि में भुनने वाले चौक' (च्वेज–कंजमक बीमुनम वद ं बर्तीपदह इंदा) की संज्ञा दी थी। कांग्रेस तथा भारत के अन्य राजनीतिक दलों ने क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया।

'भारत छोड़ो' आन्दोलन के कारण

आन्दोलन के कारण

(1) क्रिप्स मिषन की असफलता और निराषा एवं व्यग्रता का वातावरण क्रिप्स प्रस्तावों को एकदम वापस लिए जाने और सर क्रिप्स को एकदम इंग्लैण्ड बुलाये जाने से भारत में घोर निराषा के वातावरण और इस विचार को जन्म मिला कि क्रिप्स मिषन

से सम्बन्धित सम्पूर्ण क्रियाकलाप एक राजनीतिक धूर्तता मात्र थी, जिसका उद्देष्य अपने युद्ध सहयोगियों– अमरीका और चीन को सन्तुश्ट करना और पूर्व अनुमानित असफलता का उत्तरदायित्व भारतीय जनता पर डाल देना था। यह स्वाभाविक ही था कि क्रिप्स मिषन की असफलता का भारत–ब्रिटेन सम्बन्धों पर विपरीत प्रभाव पड़ता। आजाद के षब्दों में,. "मिषन का एकमात्र कार्य भारत ब्रिटेन सम्बन्धों पर अत्यधिक तीव्र आघात था । ''

(2) बर्मा में भारतीयों के प्रति अमानवीय व्यवहार बर्मा पर जापान की विजय के बाद बर्मा से जो भारतीय षरणार्थी आ रहे थे, उन्होंने भारत आकर अपनी दुःखभरी कहानियाँ सुनायीं । अंग्रेजों और भारतीयों को बर्मा से भारत आने के लिए अलग–अलग मार्ग दिये गये थे। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिशद के सदस्य मि. अणे और पं. हृदयनाथ कुंजरू मि. डाम के साथ बर्मा में भारतीयों की स्थिति देखने के लिए गये। उन्होंने बाद में एक वक्तव्य में कहा कि, ''भारतीय षरणार्थियों से ऐसा अपमानजनक व्यवहार किया जा रहा है, जैसे वे किसी घटिया जाति से सम्बन्धित हो।'' गांधीजी को इस जानकारी से बहुत दुःख हुआ ।

(3) पूर्वी बंगाल में भय और आतंक का राज्य – इस समय पूर्वी बंगाल में भय और आतंक का राज्य था। सरकार ने वहां सैनिक उद्देष्य के लिए अनेक किसानों की भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया था। इसी प्रकार सैकड़ों देषी नावों को नश्ट कर दिया गया, जिनसे हजारो परिवार पलते थे। षासन के इन कार्यों से लोगों के दुःख बहुत बढ़ गये ।

(4) षोचनीय आर्थिक स्थिति और षासन में अविष्वास □ इस समय वस्तुओं के दाम अत्यधिक बढ़ जाने के कारण लोगों की परेषानियाँ बहुत बढ़ गयीं थीं । युद्ध की स्थिति और वस्तुओं के दाम बेतहाषा बढ़ते जाने के कारण लोगों का कागज के नोटों से विष्वास उठता जा रहा था । मध्यम वर्ग की स्थिति विषेश रूप से ऐसी ही थी ।

(5) जापानी आक्रमण का मय और ब्रिटिष रक्षा व्यवस्था में भारतीयों का अविष्वास जापान के द्वारा सिंगापुर, मलाया और बर्मा में अंग्रेजों को पराजित कर दिया गया था और प्रतिक्षण भारत पर जापानी आक्रमण का भय था । महात्मा गांधी और अन्य भारतीय नेताओं का विचार था कि अंग्रेज भारत की रक्षा करने में असमर्थ हैं। इसके साथ ही वे यह सोचते थे कि अंग्रेज षासक के रूप में भारत छोड़कर चले जायें, तो षायद जापान का आक्रमण न हो। 'हरिजन' में अपने एक लेख में उन्होंने लिखा था, ''भारत के लिए उसके परिणाम कुछ भी क्यों न हों भारत और ब्रिटेन की वास्तविक सुरक्षा, समय रहते इंग्लैण्ड के भारत छोड़ देने में ही है ।''

आन्दोलन का विचार और वर्धा प्रस्ताव (जुलाई 1942)

जुलाई 1942 में कांग्रेस कार्य समिति की वर्धा में जो बैठक हुई, उसमें गांधी जी के इन विचारों का समर्थन किया गया कि भारतीय समस्या का हल अंग्रेजों के भारत छोड़ देने में ही है। 14 जुलाई को कार्य समिति ने इस आषय का प्रस्ताव पास किया, जो 'वर्धा प्रस्ताव' के नाम से प्रसिद्ध है।

‘वर्धा प्रस्ताव के उपरान्त वर्धा प्रस्ताव के उपरान्त जनता में यह भावना जाग्रत हुई कि कांग्रेस की ओर से अति षीघ्र ही जन आन्दोलन की घोशणा की जायेगी, किन्तु कांग्रेस ने जन आन्दोलन की घोशणा के पहले आवष्यक तैयारी कर लेना उचित समझा । कांग्रेसी नेता जन जागृति को और अधिक प्रबल बनाने के प्रयत्न में लगे रहे। 1 अगस्त, 1942 को इलाहाबाद में तिलक दिवस मनाया गया। इस अवसर पर पं. नेहरू ने अपने भाशण में

कहा कि ‘‘हम आग के साथ खेलने जा रहे हैं’’। इसी समय बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने व्यक्त किया, ‘‘हमको इस बार गोली खाने और तोप का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए। भारत सरकार कांग्रेस की इस प्रक्रिया से उदासीन नहीं थी। उसने सम्भावित जन–आन्दोलन को कुचलने का निष्चय कर लिया था ।’

8 अगस्त, 1942 का भारत छोड़ों प्रस्ताव वर्धा प्रस्ताव के निष्चय के अनुसार 7 अगस्त को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेषन आरम्भ हुआ । ’ न केवल भारत वरन् सम्पूर्ण संसार की निगाहें इस अधिवेषन पर लगी हुई थीं । भविश्य के इतिहास तथा घटनाओं ने इस अधिवेषन को ऐतिहासिक अधिवेषन की संज्ञा प्रदान की। इस समिति ने पर्याप्त विचार–विमर्ष के उपरान्त ‘भारत छोड़ो प्रस्ताव पास किया, जिसमें कहा गया गया था कि, ‘‘यह समिति कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के 14 जुलाई, 1942 के प्रस्ताव का समर्थन करती है तथा उसका यह विष्वास है कि बांद की घटनाओं ने इसे और भी औचित्य प्रदान कर दिया और इस बात को स्पश्ट कर दिखाया है कि भारत में ब्रिटिष षासन का तत्काल ही अन्त, भारत के लिए और मित्र राश्ट्रों के आदर्ष के लिए अत्यन्त आवष्यक है। इसी के ऊपर युद्ध का भविश्य एवं स्वतंत्रता और प्रजातंत्र की सफलता निर्भर है।’’

क्योंकि कांग्रेस इस बात से परिचित थी कि अंग्रेज भारत छोड़कर आसानी से नहीं जायेंगे, अतः एक जन–आन्दोलन के संचालन का निष्चय किया गया। लेकिन इस आन्दोलन की तिथि की घोशणा नहीं की गयी थी, क्योंकि गांधीजी आन्दोलन छेड़ने से पूर्व एक बार सरकार से अन्तिम बात कर लेना चाहते थे। गांधीजी ने इस समय कांग्रेस कार्य समिति के सम्मुख 70 मिनट तक भाशण दिया। पट्टाभि सीतारमैय्या के षब्दों में, ‘वास्तव में गांधीजी उस दिन एक अवतार और पैगम्बर की प्रेरक षक्ति से प्रेरित होकर भाशण दे रहे थे ।’’ अपने इस दिव्य भाशण के अन्त में गांधीजी ने भारतवासियों को करो या मरो (क्व वत क्पम) का इतिहास – प्रसिद्ध सन्देष दिया, जिसका तात्पर्य यह था कि. भारतवासियों द्वारा स्वाधीनता प्राप्ति के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया जाना चाहिए उन्होंने यह नितान्त स्पश्ट कर दिया था कि वे यह नहीं चाहते थे कि उनके द्वारा की गयी कार्यवाही हिंसात्मक हो ।

अगस्त क्रांति एवं षासन का दमन – कांग्रेस द्वारा संचालित पिछले दो आन्दोलनों में कांग्रेस द्वारा आन्दोलन किये जाने के बाद ही ब्रिटिष सरकार ने दमन चक्र प्रारम्भ किया था, लेकिन इस बार आन्दोलन और दमन–चक्र का क्रम विपरीत हो गया। गांधीजी ने ‘भारत छोड़ो प्रस्ताव पारित करते हुए कहा था कि आन्दोलन प्रारम्भ करने से पूर्व वे एक बार वायसराय महोदय से बातचीत करेंगे लेकिन सरकार ने गांधीजी को इस प्रकार की बातचीत का अवसर ही नहीं दिया। 9 अगस्त को प्रातः काल ही महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के अन्य नेता गिरफ्तार कर लिये गये। गांधीजी तथा श्रीमती सरोजनी नायडू को पूना के आगाखां महल में बन्दी बनाया गया और कांग्रेस कार्यसमिति के अन्य सदस्यों को अहमदनगर दुर्ग में बन्दी बनाया गया। इसके उपरान्त एक दो दिन में ही प्रान्तीय नेताओं को भी कारागार में डाल दिया गया। महात्मा गांधी और कांग्रेस के दूसरे नेताओं को बन्दी बनाने से पूर्व 8 अगस्त की रात्रि को षासन द्वारा एक विज्ञप्ति प्रसारित की गयी, जिसमें कांग्रेस द्वारा अपनाये जाने वाले कार्यक्रम का उल्लेख था। षासन ने इस विज्ञप्ति को समाचार पत्रों में प्रकाषित करते हुए कहा कि इस कार्यक्रम के कारण ही नेताओं को गिरफ्तार करने की आवष्यकता हुई। इस विज्ञप्ति के अनुसार रेल की पटरियों को तोड़ा जाना, टेलीफोन व टेलीग्राम के तारों को तोड़ा जाना कार्यक्रम का अंग था ।

'षासन द्वारा भारतीय नेताओं को कारावास में डाल दिये जाने से जनता अवाक् सी रह गयी । जनता षासन की नीति से ऊब तो पहले ही चुकी थी, मार्ग निर्देषन के अभाव में. जनता के इस विरोध ने व्यापक जन–विदोह का रूप धारण कर लिया, जनता ने सरकार की नीति का विरोध करने के अभिप्राय से जुलूस निकाले, सभाएँ कीं तथा हड़तालों का आयोजन किया। सरकार ने प्रदर्षनकर्ताओं के साथ कठोर व्यवहार किया और कहीं–कहीं तो गोलियों का प्रयोग भी किया गया। सरकार के दमन चक्र के कारण षान्तिपूर्ण ढंग से विरोध व्यक्त करने के सभी साधन बन्द हो गये। जनता ने बाध्य होकर हिंसात्मक कार्य करने प्रारम्भ किये । संचार साधन भंग कर दिये गये और रेलवे व पुलिस स्टेषन जला दिये गये । जमषेदपुर, बम्बई व अहमदाबाद के मजदूरों ने हड़तालें की और लगभग एक सप्ताह के लिए बम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली, मद्रास, बंगलौर व अमृतसर में सार्वजनिक जीवन बिलकुल ठप्प हो गया। कई स्थानों पर ब्रिटिष षासन का बिलकुल अन्त हो गया और वहाँ समानान्तर सरकारें स्थापित हो गयीं। संयुक्त प्रान्त में बलिया तथा बस्ती जिले में, बम्बई में सतारा में, बंगाल के मिदनापुर जिले में और बिहार के कुछ भागों में ऐसा ही हुआ। उस समय की स्थिति को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि ब्रिटिष षासन का भारत से षीघ्र अन्त हो जायेगा । '1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन ने कितना उग्र रूप धारण कर लिया था, इसका कुछ अनुमान उन आँकड़ों से लगाया जा सकता है जो फरवरी 1943 में भारत सरकार के युद्ध सदस्य सर रैजीनाल्ड मैक्सवेल ने केन्द्रीय विधानसभा में प्रस्तुत किये थे । इन आँकड़ों के अनुसार 1942 के आन्दोलन में पुलिस और सेना द्वारा 538 बार गोलियां चलायी गयीं जिसके परिणामस्वरूप 940 व्यक्ति मारे गये और 1,360 घायल हुए। 69,229 व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया। 220 के लगभग रेलवे स्टेषन नश्ट कर दिये गये, 550 के लगभग डाकखानों पर हमला हुआ जिनमें से 50 बिलकुल जला डाले गये और 200 को भारी नुकसान पहुँचा । 3,500 स्थानों पर तार और टेलीफोन की लाइनों को काटा गया। 70 थाने और अन्य 85 सरकारी भवनों को जलाकर धराषायी कर दिया गया ।''

षासन द्वारा सर्वत्र आन्दोलन का बहुत अधिक कठोरतापूर्वक दमन किया गया। माइकेल ब्रेचर के षब्दों में, "संक्षेप में, सर्वत्र सरकारी दमन बहुत अधिक कठोर था । 1857 के बाद भारत में ब्रिटिष राज्य के विरुद्ध सबसे बड़े विद्रोह का सामना करने के लिए पुलिस राज्य स्थापित किया गया।'' इस प्रकार के अमानवीय दमन ने खुले विद्रोह को दबाने में सफलता प्राप्त की, लेकिन आन्दोलन भूमिगत हो गया और जयप्रकाष नारायण, डॉ० राम मनोहर लोहिया, अरुणा आसफ अली और अच्युत पटवर्धन जैसे समाजवादी नेताओं द्वारा इसका संचालन किया जाने लगा ।

विभिन्न दलों की प्रतिक्रिया इस आन्दोलन का समर्थन भारत के लगभग सभी राजनीतिक दलों द्वारा किया गया। समाजवादी नेताओं ने तो आन्दोलन के सम्बन्ध में पूर्णतः कांग्रेस का साथ दिया लेकिन साम्यवादियों द्वारा देष के लिए घातक नीति अपनायी गयी और उनके कार्यों ने सिद्ध कर दिया कि उनकी भक्ति अपनी मातष्भूमि के स्थान पर तथाकथित सर्वहारावर्ग की भूमि के प्रति ही है। 1939 में जबकि युद्धं प्रारम्भ हुआ भारतीय साम्यवादियों द्वारा ब्रिटिष युद्ध प्रयत्नों की निन्दा करते हुए इसे 'साम्राज्यवादी युद्ध की संज्ञा दी गयी, लेकिन 1941 में जैसे ही सोवियत रूस मित्र राश्ट्रों की ओर से सम्मिलित हुआ, भारतीय साम्यवादियों के लिए कल तक का साम्राज्यवादी युद्ध 'लोक युद्ध' (च्मवचसम्' . ॅत) में परिणत हो गया। साम्यवादी दलों ने लीग के साथ गठबन्धन कर उनकी पाकिस्तान सम्बन्ध ी योजना के पक्ष में विचार प्रकट किये तथा कांग्रेस को आन्दोलन स्थगित करने की सलाह दी। साम्यवादियों के ये कार्य राश्ट्रीय आन्दोलन की पीठ में छुरा भोंकने के समान थे ।

मुस्लिम लीग ने कहा कि ''इस आन्दोलन का लक्ष्य भारतीय स्वतंत्रता नहीं, वरन् भारत में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करना है और इस कारण यह आन्दोलन मुसलमानों के लिए घातक है।'' मि. जिन्ना ने कहा कि कांग्रेस के साथ उसी समय सहयोग किया जा सकता है जबकि कांग्रेस पाकिस्तान निर्माण की बात स्वीकार कर ले द्य

न केवल साम्यवादी दल और मुस्लिम लीग वरन भारत के अन्य कुछ दलों द्वारा भी भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध किया गया । उदारवादी नेता तेज बहादुर सप्रू के द्वारा वर्धा

प्रस्ताव को 'अविचारित और असामयिक बताया गया और दलित वर्गों के नेता डॉ. अम्बेडकर ने गांधीजी द्वारा संचालित आन्दोलन को 'अनुत्तरदायित्व और पागलपन भरा कार्य' बताया। हिन्दू महासभा के नेता सावरकर के द्वारा भी गांधी की नजरबन्दी के दिन ही हिन्दुओं से अपील की गयी कि उनके द्वारा कांग्रेस के आन्दोलन में सहयोग न दिया जाय ।

आन्दोलन के परिणाम

भारत छोड़ो आन्दोलन महात्मा गांधी द्वारा अब तक किये गये आन्दोलनों में सबसे भीशण और भारतीय स्वतंत्रता के लिए किया गया महानतम प्रयास था । आन्दोलन का उद्देष्य भारत के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करना था और इस बात को स्वीकार करना होगा कि आन्दोलन द्वारा तत्काल ही भारत की स्वतंत्रता प्राप्त न कर सकने या जिसे आन्दोलन की असफलता कहा जाता है, के कारण इस प्रकार थे :

(1) आन्दोलन के संगठन में कमियाँ – भारत छोड़ो आन्दोलन एक जन–आन्दोलन था और इस प्रकार के जन–आन्दोलन को सफल बनाने के लिए व्यापक तैयारियाँ की जानी चाहिए थीं। आन्दोलन के नेताओं द्वारा अपनी रणनीति निष्चित कर ली जानी चाहिए थी और इसके पूर्व कि षासन उनको गिरफ्तार करे, उन्हें अज्ञात स्थान में चला जाना चाहिए था । वस्तुतः इस प्रकार की कोई तैयारी नहीं की गयी थीं। ऐसी स्थिति में जब षासन द्वारा दमनकार्य की पहल की गयी, तो आन्दोलनकारी हतप्रभ रह गये और प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी के कारण आन्दोलन नेतृत्वविहीन हो गया ।

(2) सरकारी नेताओं और उच्च वर्गों की वफादारी भारत छोड़ो आन्दोलन तत्काल ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति में इसलिए भी असफल रहा कि देषी रियासतों के नरेष, 'सेना, पुलिस, उच्च सरकारी अधिकारी तथा कर्मचारी आन्दोलन काल में सरकार के प्रति पूर्ण वफादार बने रहे और इससे षासन कार्य बेरोकटोक चलता रहा ।

(3) आन्दोलनकारियों की तुलना में षासन की कई गुना षक्ति वस्तुतः आन्दोलन की तात्कालिक असफलता अवष्यम्भावी थी क्योंकि आन्दोलनकारियों की तुलना में षासन की षक्ति कई गुना थीं। आन्दोलनकारियों की न तो कोई गुप्तचर व्यवस्था थी और न ही एक संस्थान से दूसरे सथान को सन्देष भेजने के साधन थे। उनकी आर्थिक षक्ति भी ब्रिटिष षासन की तुलना में बहुत कम थी ।

आन्दोलन का एक अवांछनीय परिणाम लीग की षक्ति में बहुत अधिक वृद्धि के रूप में सामने आया ।

आन्दोलन का महत्व यद्यपि भारत छोड़ो आन्दोलन अपने मूल लक्ष्य भारत से ब्रिटिष षासन की समाप्ति को तात्कालिक रूप से प्राप्त नहीं कर सका, लेकिन इस आन्दोलन ने भारत की जनता में एक ऐसी अपूर्व जागृति उत्पन्न कर दी जिससे ब्रिटेन के लिए भारत पर लम्बे समय तक षासन कर सकना सम्भव नहीं रहा। ए. जी. बनर्जी के षब्दों में, ''इस विद्रोह के परिणामस्वरूप अधिराज्य की पुरानी मांग सर्वथा समाप्त हो गयी और उसका स्थान पूर्ण स्वतंत्रता की मांग ने ले लिया।'' इस सम्बन्ध डॉ० ईष्वरी प्रसाद लिखते हैं, ''अगस्त क्रांति अत्याचार और दमन के विरुद्ध भारतीय जनता का विद्रोह था और इसकी तुलना फ्रांस के इतिहास में बेस्टिले के पतन या सोवियत रूस की अक्टूबर क्रांति से की जा सकती है। यह क्रांति जनता में उत्पन्न नवीन उत्साह तथा गरिमा की सूचक थी।''

इस आन्दोलन से उत्पन्न चेतना के परिणामस्वरूप ही 1946 ई. में जलसेना का विद्रोह हुआ, जिसने भारत में ब्रिटिष षासन पर भयंकर चोट की। इस आन्दोलन तथा कुछ अन्य तत्वों के परिणामस्वरूप ही युद्ध के बाद अमरीका तथा इंग्लैण्ड में लोकमत इतना अधि क भारत के पक्ष में हो गया कि इंग्लैण्ड को विवष होकर भारत छोड़ना पड़ा। इस प्रकार यह निष्चित तथ्य है कि भारत छोड़ो आन्दोलन ने भारतीय स्वतंत्रता के लिए पृश्ठभूमि तैयार की ।

ब्रिटेन में मजदूर दल की सरकार

जुलाई 1945 में ब्रिटेन में जो आम चुनाव हुए उनमें मजदूर दल को आषातीत सफलता प्राप्त हुई और चर्चिल के स्थान पर मजदूर दल के नेता मि. एटली इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री बने । नये प्रधानमंत्री एटली ने भारतीय समस्या को हल करने का दृढ़ निष्चय किया ।

भारत में चुनाव और चुनावपरिणाम

1945 में भारत में भी चुनाव हुए और

चुनाव में राश्ट्रीय कांग्रेस तथा अन्य सभी राजनीतिक दलों ने भी भाग लिया। कांग्रेस को निर्वाचन में आषातीत सफलता प्राप्त हुई। इसने लगभग सभी सामान्य और मुस्लिम स्थानों पर अधिकार कर लिया। लेकिन चुनाव परिणाम का एक दूसरा पक्ष भी था और वह यह था कि बंगाल, पंजाब तथा सिन्ध के मुस्लिम बहुत प्रान्तों में जनता का समर्थन कांग्रेस को नहीं वरन् मुस्लिम लीग को प्राप्त हुआ था ! इस प्रकार भारत के मुसलमान तेजी से लीग की ओर झुक रहे थे। .

सेना में व्रिदोह – भारतीय सेना में भी ब्रिटिष षासन से असन्तोश बढ़ता जा रहा था और इस असन्तोश का विस्फोट 18 फरवरी, 1946 को बम्बई में हुआ, जबकि जलसेना के द्वारा खुला विद्रोह कर दिया गया। विद्रोह अन्य बन्दरगाहों में स्थित नौ सेना में भी फैल गया और बम्बई के तीन लाख मजदूरों ने भी उनकी सहानुभूति में हड़ताल कर दी, लेकिन थोड़े समय बाद कांग्रेस और लीगी नेताओं के हस्तक्षेप से स्थिति षान्त हो गयी। विद्रोह ने ब्रिटिष सम्मान को आघात पहुँचाने के साथ विदेषी षासकों को यह भी समझा दिया कि अब भारत को और अधिक समय तक परतन्त्र नहीं रखा जा सकेगा ।

केबिनेट मिषन योजना– ब्रिटिष सरकार ने मार्च 1946 में सर पैथिक लारेंस, सर स्टैफर्ड क्रिप्स और सर ए. बी. एलेक्जेण्डर का तीन सदस्यीय कमीषन भारत भेजा। मिषन द्वारा भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच समझौता कराने का फैसला किया गया लेकिन जब इस प्रयास में सफलता प्राप्त नहीं हुई तो 15 मई को केबिनेट मिषन की ओर से अपनी योजना पेष की गयी। केबिनेट मिषन योजना को भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा स्वीकार कर लिया गया। योजना के अनुसार भारत के नवीन संविध न का निर्माण करने हेतु संविधानसभा के सदस्यों का प्रान्तीय विधानसभा के सदस्यों द्वारा चुनाव किया गया।

अन्तरिम सरकार का निर्माण – केबिनेट मिषन योजना के आधार पर सितम्बर 1946 में पं. नेहरू की अध्यक्षता में अन्तरिम सरकार का निर्माण हुआ। पहले तो मुस्लिम

लीग द्वारा केबिनेट योजना को स्वीकार कर लिया गया था, लेकिन बाद में कांग्रेस और लीग में मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण लीग ने योजना को अस्वीकार कर दिया। अक्टूबर 1946, मैं लीग अन्तरिम सरकार में षामिल हुई, किन्तु लीग द्वारा षासन को दृढ़ता प्रदान करने के स्थान पर सरकार में प्रवेष कर सरकार को असफल करने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया गया।

माउण्टबेटन योजना षीघ्रातिषीघ्र सत्ता हस्तान्तरण करने हेतु लॉर्ड वैवल के स्थान पर लॉर्ड माउण्टबेटन को भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया और उन्होंने 23 मार्च, 1947 को अपने पद का कार्यभार संभाला। लार्ड माउण्टबेटन भारतीय नेताओं से बातचीत करने के बाद इस निश्कर्श पर पहुँचे कि भारतीय समस्या का एकमात्र हल पाकिस्तान की स्थापना को स्वीकार कर लेना ही है। कांग्रेस ने भी परिस्थितियों के दबाव से भारतीय समस्या के इस दुःखद हल को स्वीकार कर लिया। लार्ड माउण्टबेटन के द्वारा 3 जून, 1947 को अपनी योजना 'माउण्टबेटन योजना' प्रस्तावित की गयी। इस योजना में प्रमुख रूप से दो बातें थीं– प्रथम, 1947 में ही भारत को सत्ता का हस्तान्तरण और द्वितीय, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान

इस प्रकार के दो राज्यों में भारत का विभाजन । लीग तथा कांग्रेस, दोनों के ही द्वारा इस योजना को स्वीकार कर लिया गया । .

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947

ब्रिटिष पार्लियामेण्ट में 4 जुलाई, 1947 को 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम' प्रस्तावित किया गया, जो षीघ्र ही 18 जुलाई, 1947 को स्वीकृत हो गया। भारत मन्त्री ने अधिनियम के महत्व पर प्रकाष डालते हुए कहा था, ''हमारे देष के विधान निर्माण के इतिहास में यह अधिनियम अद्वितीय है। इससे पूर्व कभी भी संसार की आबादी के इतने बड़े भाग ने केवल एक विधान द्वारा पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त नहीं की।'' इस अधिनियम में कुल 20 धाराएँ थीं, जिनमें कुछ प्रमुखं निम्नलिखित हैंः

. (1) दो अधिराज्यों की स्थापना— इस अधिनियम द्वारा भारत का विभाजन कर पाकिस्तान की स्थापना कर दी गयी। यह निष्चय किया गया कि 15 अगस्त, 1947 को भारत और पाकिस्तान नामक दो अधिराज्य बना दिये जायेंगे और उनको ब्रिटिष सरकार सत्ता सौंप देगी ।

(2) संविधानसभाओं को सत्ता सौंपना— यह व्यवस्था की गयी कि ब्रिटिष 'सरकार दोनों अधिराज्यों की संविधान सभाओं को सत्ता का उत्तरदायित्व सौंप देगी। उनको अपनी इच्छानुसार संविधान का निर्माण करने की स्वतंत्रता होगी। इस प्रकार संविधानसभाएँ सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न होंगी ।

(3) दोनों के लिए अलग अलग गवर्नर जनरल— भारत और पाकिस्तान दोनों अधिराज्यों में एक एक गवर्नर जनरल होगा, जिसकी नियुक्ति उनके मंत्रिमण्डल की सलाह से की जायेगी। गवर्नर जनरल और प्रान्तों के गवर्नर भविश्य में केवल वैधानिक षासक होंगे।

'(4) संविधानसभा का विधानमण्डल के रूप में कार्य करना— जिस समय तक संविधानसभाएं संविधान का निर्माण नहीं कर लेती हैं, उस समय तक वे विधानमण्डल के रूप में भी कार्य करती रहेंगी और उनकी विधायिनी षक्तियों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होगा। 15 अगस्त, 1947 के उपरान्त ब्रिटिष संसद द्वारा पारित कोई अधि नियम इन अधिराज्यों पर उनके विधानमण्डलों की स्वीकृति के बिना लागू नहीं होगा।

(5) प्रान्तीय विधानमण्डल – जिस समय तक नवीन विधान के अनुसार प्रान्तों में निर्वाचन नहीं होते हैं, उस समय तक प्रान्तों में इस समय के विधानमण्डल ही कार्य करते रहेंगे।

(6) भारत मंत्री के पद का अन्त – भारत मंत्री का पद समाप्त कर दिया जायेगा, क्योंकि 15 अगस्त, 1947 के उपरान्त ब्रिटिष संसद का भारत और पाकिस्तान पर कोई नियन्त्रण नहीं रहेगा।

˘ (7) 1835 के भारतीय षासन अधिनियम द्वारा षासन जिस समय तक वर्तमान संविधानसभा द्वारा नया संविधान बनाकर तैयार नहीं किया जाता है, उस समय तक 1935 के भारतीय षासन अधिनियम द्वारा ही षासन होगा, पर परिवर्तित परिस्थितियों के कारण उसमें कुछ आवष्यक परिवर्तन कर दिये गये। अधिनियम में ऐसे परिवर्तन किये गये. कि अन्तरिम काल में इन दोनों राज्यों का षासन लोकतन्त्रीय पद्धति के आधार पर किया जां सके ।

(8) देषी रियासतों पर 'सर्वोपरिता' का अन्त – जहाँ तक देषी रियासतों का प्रष्न है, उन पर ब्रिटेन की सर्वोपरिता का अन्त कर दिया गया और उनको किसी भी अधि राज्य में सम्मिलित होने व अपने भावी सम्बन्धों का निष्चय करने की स्वतंत्रता प्रदान की गयी।

1947 का भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम वास्तव में अंग्रेजों की एक भव्य और गौरवपूर्ण विदाई थी। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था, ''भारत पर ब्रिटिष प्रभुत्व का काल आज समाप्त होता

है और अब ब्रिटेन के साथ हमारा अपना सम्बन्ध समानता, पारस्परिक सद्भावना और पारस्परिक लाभ के आधार पर रहेगा ।''

15 अगस्त, 1947 को 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के अनुसार भारतीय महाद्वीप पर ब्रिटिष षासन का अन्त हुआ, भारत व पाकिस्तान– दो स्वतंत्र अधिराज्य अस्तित्व में आये। कांग्रेस चाहती थी कि दोनों के गवर्नर जनरल एक ही रहे, ताकि संक्रमण काल (ज्तंदेपजपवदंस चमतपवक) की समाप्ति षान्तिमय ढंग से हो सके लेकिन पाकिस्तान द्वारा इस प्रकार का प्रस्ताव स्वीकार न किये जाने के कारण भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड माउण्टबेटन तथा पाकिस्तान के गवर्नर जनरल जिन्ना बने ।

भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति में सहायक तत्व

15 अगस्त, 1947 को भारतीय सत्ता का हस्तान्तरण भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त गौरवमयी घटना है। यह विदेषी षासन के एक युग का अन्त ही नहीं वरन् लम्बे और कश्टदायक संघर्श के बाद भारतीय राश्ट्र का पुनर्जन्म था। सत्ता के हस्तान्तरण के सम्बन्ध ा ज में अनेक व्यक्तियों का विचार है कि प्रधानमंत्री लार्ड एटली और ब्रिटेन की मजदूर दलीय सरकार की उदारता के कारण 1947 में भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। एक दूसरे पक्ष द्वारा इस बात का भी प्रतिपादन किया जाता है कि भारतीय स्वतंत्रता 1885 में स्थापित राश्ट्रीय कांग्रेस के प्रयत्नों का ही परिणाम थी, लेकिन इनमें से किसी भी विचार को पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता । वस्तुतः भारतीय स्वतंत्रता विभिन्न परिस्थितियों के दबाव का परिणाम थी। 1947 तक भारत में परिस्थितियाँ ऐसी हो गयी थीं कि राजनीतिक दृश्टि से सत्ता हस्तान्तरण में देरी करना सम्भव ही नहीं था। अमरीकन कूटनीतिज्ञ विलियम फिलिप्स इस सत्य को व्यक्त करते हुए ही लिखते हैं कि जुलाई 1945 में जब मजदूर दल की सरकार का निर्माण हुआ, तो उसने उन तथ्यों को देखा जो नितान्त

स्पश्ट थे।'' भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति में सहायक तत्वों की विवेचना निम्नलिखित बिन्दुओं रूपों में की जा सकती है :

(1) भारतीय राश्ट्रीय आन्दोलन की षक्ति – द्वितीय विष्वयुद्ध के प्रारम्भ में राश्ट्रीय चेतना अपने चरमोत्कर्श पर थी और 1942 का विद्रोह अत्यन्त स्पश्ट षब्दों में ब्रिटेन को भारत छोड़ देने की चेतावनी ही था । गांधी जी के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' ने भारतीय जनता को 'करो या मरो का सन्देष दिया था। इस प्रकार सम्पूर्ण देष में राश्ट्रीय जागृति व्याप्त हो गयी थी और आजाद हिन्द सेना के नायकों पर अभियोग और सैनिक विद्रोह की घटनाओं ने इस राजनीतिक जागृति का परिचय दे दिया था। ब्रिटिष राजनीतिज्ञों ने, जो अपनी व्यवहार कुषलता और राजनीतिक दूरदर्षिता के लिए प्रसिद्ध है, ऐसी स्थिति में सम्मानपूर्वक भारत छोड़ देना ही उचित समझा। मौलाना आजाद के अनुसार, 'स्वतंत्रता की तीव्र इच्छा के सम्बन्ध में अब कोई भी बात गुप्त नहीं रही थी।''

द्वितीय विष्वयुद्ध के पूर्व

(2) युद्ध के बाद इंग्लैण्ड की कमजोर स्थिति इंग्लैण्ड प्रथम श्रेणी का राश्ट्र था, लेकिन द्वितीय विष्वयुद्ध के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड की स्थिति बहुत अधिक निर्बल हो गयी। उसकी अर्थव्यवस्था को भीशण आघात पहुंचा था और उसकी सैनिक षक्ति कम हो गयी। ब्रिटिष षक्ति के इस ह्रास के कारण अब ब्रिटेन इस स्थिति में नही रहा कि वह भारत पर नियन्त्रण बनाये रखने के आर्थिक और सैनिक भार को सहन कर सके। इंग्लैण्ड की कमजोर स्थिति इंग्लैण्ड को भारत छोड़ने के लिए बाध्य करने वाला बहुत सबल तथ्य था । माइकेल ब्रेचर के अनुसार, ''इंग्लैण्ड की कमजोर स्थिति भारत के पक्ष में इतना सरल तथ्य था कि 1945 में यदि अनुदार दल सत्तारूढ़ होता, तो वह भी भारतीय स्वतंत्रता के प्रष्न को टाल नहीं सकता था।''

(3) इंग्लैण्ड का जनमत भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में– 1940 के बाद ब्रिटिष जनमत भारत के पक्ष में हो गया था। ब्रिटेन के चुनावों में मजदूर दल के जीतने का कारण यह भी था

कि मजदूर दल भारतीय हित से सहानुभूति रखता था । ब्रिटेन की प्रजातन्त्रात्मक सरकार अपने देष के जनमत की उपेक्षा नहीं कर सकती थी और इसीलिए उसे भारत को स्वतंत्रता प्रदान करनी पड़ी।

(4) साम्यवाद का डर – इंतिहास बताता है कि किसी देष की जनता पर अधिक अत्याचार करने पर वह साम्यवाद की ओर प्रवष्त हो सकती है। ब्रिटिष सरकार साम्यवाद के प्रसार के विरुद्ध थी और इसीलिए उसने भारत में साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए भारत को षीघ्र ही स्वतंत्रता प्रदान करना आवष्यक समझा।

(5) इंग्लैण्ड पर अंतर्राश्ट्रीय दबाव– दूसरे विष्वयुद्ध के समय अमरीका के अमरीकी राश्ट्रपति रूजवेल्ट, चीनी च्यांगकाई षेक और आस्ट्रेलिया के विदेष मंत्री डॉ० इबाट के द्वारा ब्रिटेन पर भारत को स्वतंत्रता देने के लिए जोर डाला गया था। ब्रिटेन को युद्ध जीतने में अमरीका द्वारा बहुत अधिक सहायता प्रदान की गयी थी और जब युद्ध के बाद अमरीका द्वारा ब्रिटेन पर भारत की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में दबाव डाला गया, तो ब्रिटेन के लिए अमरीका की बात को अस्वीकार करना सम्भव नहीं रहा ।

(6) 1945 के चुनाव में मजदूर दल की विजय– मजदूर दल सदैव से ही भारत के प्रति सहानुभूति रखता था और 1940 के बाद उसका विचार था कि अब भारत को षीध ही स्वतंत्रता प्रदान कर दी जानी चाहिए। 1945 के चुनाव में जब मजदूर दल के हाथ में सत्ता आ गयी, तो उन्होंने अपनी घोशणाओं को कार्यरूप प्रदान कर दिया। वी.पी. मेनन

में लिखते हैं, ''भारत को सत्ता के षीघ्र हस्तान्तरण का मुख्य कारण 1945 ई. में इंग्लैण्ड में मजदूर दल द्वारा निरपेक्ष. बहुमत प्राप्त करके सत्ता ग्रहण करना था ।''

. (7) सैनिक विद्रोह– 1857 से लेकर 1945 तक भारतीय सेना ने ब्रिटिष षासन का कभी भी विरोध नहीं किया था, लेकिन 1946 में बम्बई में सेना द्वारा ब्रिटिष षासन के विरुद्ध एक विद्रोह किया गया। जब ब्रिटिष सरकार ने देखा कि भारतीय सेना भी उनके विरुद्ध हो रही है तो उन्होंने भारत छोड़ देने में ही अपना कल्याण समझा । वी.पी. मेनन कें षब्दों में, ''इन घटनाओं ने अंग्रेजों की आँखें खोल दीं और उन्होंने समझ लिया कि भारतीय राश्ट्रवाद को अब सेना में प्रवेष से नहीं रोका जा सकता है। भारतीय सेना अब राश्ट्रवाद की' ओर झुकने लगी थी और भारत में इतनी ब्रिटिष सेनाएँ नहीं थीं कि सब जगह भेजी जा सकतीं ।''

(8) माउण्टबेटन योजना स्वीकार करना– जब लीग और कांग्रेस दोनों के द्वारा माउण्टबेटन योजना को स्वीकार कर लिया गया तो भारतीय स्वतंत्रता के मार्ग की. साम्प्रदायिक बांधा भी नश्ट हो गयी और इसलिए भारत को सरलतापूर्वक स्वतंत्रता प्रदान की जा सकीं।

वास्तव में, भारतीय स्वतंत्रता किसी एक तत्व का परिणाम नहीं, वरन् अनेक तत्वों का सामूहिक परिणाम थी। डॉ. पट्टाभि सीतारमैया ठीक ही लिखते हैं कि ''भारतीय स्वतंत्रता समय की गति और परिस्थितियों के दबाव का परिणाम थी।'' स्वतंत्रता के बाद डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने लार्ड माउण्टबेटन के प्रति धन्यवाद प्रस्ताव प्रस्तावित करते हुए कहा था, ''जहाँ स्वतंत्रता की प्राप्ति काफी सीमा तक हमारे अपने त्याग और बलिदानों के फलस्वरूप हुई है वहीं वह विष्व – षक्तियों और घटनाओं का भी परिणाम है। इसके साथ ही यह ब्रिटिष जाति के लोकतन्त्रात्मक आदर्षों और ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुरूप ही है ।'' गांधीजी का राश्ट्रीय आन्दोलन में योगदान भारत के राश्ट्रीय आन्दोलन में गांधीजी का सर्वाधिक योगदान रहा है। उन्होंने सन् 1919 में कांग्रेस और राश्ट्रीय आन्दोलन का नेतष्त्व संभाला और उसके बाद वे जीवनपर्यन्त राश्ट्रीय आन्दोलन के प्राण बनें रहे। राश्ट्रीय आन्दोलन में गांधीजी का योगदान इस बात से

स्पश्ट है कि गांधीजी द्वारा राश्ट्रीय आन्दोलन में प्रवेष किये जाने के बाद से राश्ट्रीय आन्दोलन के काल को 'गांधी युगं से नाम से पुकारा जाने लगा। उन्होंने असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन और भारत छोड़ो आन्दोलन आदि– एक के बाद एक

राष्ट्रीय आन्दोलनों का संचालन करते हुए भारत को स्वतंत्रता की ओर अग्रसर किया और भारतीय जनता के द्वारा उन्हें 'राश्ट्रपिता के नाम से सम्बोधित किया गया। राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका योगदान निम्न तथ्यों के आधार पर स्पश्ट किया जा सकता है :

(1) राष्ट्रीय आन्दोलन को जन आन्दोलन का रूप देना– भारतीय राजनीति में महात्मा गांध ी के आगमन के पूर्व उदारवादियों के द्वारा प्रार्थना पत्रों, स्मषित पत्रों और प्रतिनिधि – मण्डलों की नीति और मार्ग अपनाते हुए भारतीय जनता के लिए कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता था। बाल, लाल और पाल की त्रिमूर्ति से इसे नयी दिषा देने का प्रयत्न किया, लेकिन उनके समय तक भी राजनीति बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग तक ही सीमित रही। महात्मा गांधी के द्वारा पहली बार जन–जन को राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ . जोड़ने का कार्य किया गया। अंग्रेज लेखकं कूपलैण्ड स्वीकार करते हैं कि ''उन्होंने वह काम किया, जो तिलक भी नहीं कर सके थे। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रांतिकारी आन्दोलन और जनता का आन्दोलन बना दिया ।''

(2) आन्दोलन को नया रूप प्रदान करना 1919 के पूर्व राश्ट्रीय आन्दोलन की दो प्रमुख ध ाराएं थीं। उदारवादियों द्वारा राजनीतिक भिक्षावषत्ति का मार्ग अपनाया जा रहा था और वे क्रांति अनुवदारवादी बल पर भारत में ब्रिटिष साम्राज्य की समाप्ति के लिए प्रयत्नषील थे। गांधीजी ने इन दोनों ही मांगों की अपूर्णताओं को समझा और आदर्षों एवं परिस्थितियों को दृश्टि में रखते हुए 'अहिंसात्मक क्रांति के मार्ग का प्रतिपादन किया । महात्मा गांधी के नेतष्त्व में विष्व के महानतम साम्राज्यवादी राज्य के विरुद्ध अहिंसात्मक आन्दोलन किया गया और इसके बल पर राश्ट्रीय स्वतंत्रता का लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की गयी। महात्मा गांधी का वह कार्य विष्व इतिहास के लिए नयी चीज था ।

(3) नवीन कार्यक्रम का प्रतिपादन – महात्माजी के द्वारा भारत के राश्ट्रीय आन्दोलन को एक नवीन कार्यक्रम प्रदान किया गया। अपने असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलन के अन्तर्गत उनके द्वारा इस बात का प्रतिपादन किया गया कि भारतीय जनता के द्वारा अपने आपको ब्रिटिष षासन की षिक्षण संस्थाओं, नौकरियों, अदालतों, उत्सवों और दरबारों से अलग कर लिया जाना चाहिए, विदेषी माल का बहिश्कार किया जाना चाहिए और ब्रिटिष सरकार को कर नहीं दिये जाने चाहिए। इस प्रकार के कार्यक्रम का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने भारतीय जनता से कहा कि यदि जनता ब्रिटिष षासन को सहयोग देना बन्द कर दें, तो भारत में ब्रिटिष षासन ठप्प हो सकता है।

(4) रचनात्मक कार्यक्रम का प्रतिपादन महात्मा गांधी द्वारा संचालित राश्ट्रीय आन्दोलन का उद्देष्य केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति ही नहीं, वरन् एक नवीन और सभी दिषाओं में उत्थानकारी भारत का अभ्युदय था। उन्होंने भारतीय जनता की गिरी हुई सामाजिक, ध ार्मिक और आर्थिक स्थिति का अध्ययन किया और इन क्षेत्रों में उसे उन्नत करने का प्रयास किया। इस हेतु उन्होंने कई रचनात्मक कार्यक्रम चलाये जैसे–नारियों का उत्थान, गष्ह उद्योग का प्रचार, नये चर्खे चलाना और मद्य निशेध, आदि। वे अपने इन रचनात्मक कार्यक्रमों के आधार पर एक सर्वोदय समाज की स्थापना करना चाहते थे । (5) राश्ट्रीय आन्दोलन की बाधाएँ – साम्प्रदायिकता और अस्पष्भयता के अन्त का कार्य – गांधीजी के द्वारा राश्ट्रीय आन्दोलन की दो सबसे बड़ी बाधाएँ – साम्प्रदायिकता और अस्पष्भयता के अन्त का कार्य किया गया। वे अस्पष्भयता को हिन्दू समाज का कलंक मानते थे और इस बात को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे कि दलित वर्गों को समाज के अन्य वर्गों से पष्थक रखते हुए उन्हें हीन समझा जाय। वे साम्प्रदायिकता को भारतीय जीवन का विश मानते थे और उनके द्वारा सदैव ही हिन्दू–मुस्लिम एकता पर बल दिया गया। साम्प्रदायिकता के विश को समाप्त करने के प्रयत्नों में ही 30 जनवरी 1948 को उनके द्वारा अपने जीवन की आहुति दे दी गयी ।

. (6) राजनीति का अध्यात्मीकरण करना राजनीति को महात्मा गांधी की स्थायी और सबसे अधिक महत्वपूर्ण देन है राजनीति का अध्यात्मीकरण द्य गांधीजी वास्तव में एक आध्यात्मिक सन्त थे जिनके द्वारा तत्कालीन भारतीय जीवन की विषेश परिस्थितियों के कारण राजनीति

में प्रवेष कर राजनीति का अध्यात्मीकरण किया गया । राजनीति के सम्बन्ध में वे कहते थे, जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, वे यह नहीं समझते कि ध र्म का अर्थ क्या है, धर्म से पष्थक कोई राजनीति नहीं हो सकती । धर्म से पष्थक राजनीति तो मष्त्यु जाल है क्योंकि यह आत्मा का हनन करती है ।''

वास्तव में, गांधीजी एक महामानव थे और भारत का राश्ट्रीय आन्दोलन बहुत कुछ सीमा तक गांधीजी के कार्यों का लेखा–जोखा है। 30 जनवरी, 1948 को उनकी मष्त्यु पर डॉ० स्टेनले ने लिखा है, 'हत्यारे ने गोलियाँ महात्मा गांधी और उनके विचारों का अंन्त करने के लिए चलायी थीं. परन्तु उनका फल यह हुआ कि वे विचार स्वच्छन्द हो गये और मानव जाति की थाती बन गये। मष्त्यु में वे अपने जीवन की अपेक्षा अधिक बलषाली हो गये ।''

सारांष :

वास्तव में, गांधीजी एक महामानव थे और भारत का राश्ट्रीय आन्दोलन बहुत कुछ सीमा तक गांधीजी के कार्यों का लेखा–जोखा है। 30 जनवरी, 1948 को उनकी मष्त्यु पर डॉ० स्टेनले ने लिखा है, 'हत्यारे ने गोलियाँ महात्मा गांधी और उनके विचारों का अन्त करने के लिए चलायी थीं, परन्तु उनका फल यह हुआ कि वे विचार स्वच्छन्द हो गये और मानव जाति की थाती बन गये । मष्त्यु में वे अपने जीवन की अपेक्षा अधिक बलषाली हो गये ।''

स्व. प्रगति परीक्षणके उत्तर

1. 4. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का आधार तैयार करना – यद्यपि उदारवादियों के द्वारा स्वयं गम्भीरतापूर्वक स्वतंत्रता की मांग या इस हेतु कोई आन्दोलन नहीं किया गया, लेकिन उन्होंने एक पष्श्ठभूमि तैयार की, जिसके आधार पर ही भविश्य में स्वतंत्रता हेतु विभिन्न

☐ आन्दोलन किए जा सके। के. एम. मुन्षी लिखते हैं कि ''यदि पिछले 30 वर्शों में कांग्रेस के रूप में एक अखिल भारतीय संस्था देष के राजनीतिक क्षेत्र में कार्यरत न होती तो ऐसी अवस्था में गांधीजी का कोई महान् आन्दोलन सफल न होता ।'' प्रारम्भिक कांग्रेसियों की भीरुता और भिक्षावष्त्ति को उपहास की दृश्टि से देखना अत्यन्त सुगम है, परन्तु जैसा कि डॉ. पट्टाभि सीतारमैया लिखते हैं कि, ''जिस समय भारत के राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने पदार्पण किया, उस समय वे अकेले थे। उन्होंने जो नीतियां अपनायीं, उनके लिए हम उन्हें दोश नहीं दे सकते। किसी भी आध निक इमारत की नींव से 6 फुट नीचे जो ईंट, चूना और पत्थर गढ़े हैं, क्या उन पर कोई दोश लगाया जा सकता है? क्योंकि वही तो आधार है जिसके ऊपर सारी इमारत खड़ी हो सकी है। सर्वप्रथम औपनिवेषिक स्वषासन, फिर साम्राज्य के अन्तर्गत होम रूल, उसके बाद स्वराज तथा सबके षीर्श पर पूर्ण स्वाधीनता की मंजिलें एक के बाद एक ही बन सकी है। ''

2. 1905 का बनारस अधिवेषन– भारतीय राजनीति में उग्रवाद के उदय से कांग्रेस संगठन का प्रभावित होना नितान्त स्वाभाविक था। 1905 के बनारस अधिवेषन में बाल गंगाध र तिलक ने व उग्र राश्ट्रवादियों के एक वर्ग ने उदारवादियों की 'राजनीतिक भिक्षावष्त्ति (च्वसपजपबंस डमदकपबंदबल) की नीति की तीव्र निन्दा की और इस बात का प्रतिपादन किया कि संगठित निश्क्रिय प्रतिरोध के मार्ग को अपनाकर ही भारत के राश्ट्रीय जीवन पर विदेषी नौकरषाही के प्रभुत्व का अन्त किया जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रिटिष माल और सरकारी षिक्षण संस्थाओं का भी संगठित और निरन्तर बहिश्कार किया जाना चाहिए, लेकिन उदारवादी निश्क्रिय प्रतिरोध को न्यूनाधिक रूप में अव्यावहारिक मानते थे और उनका विचार था कि इससे राश्ट्रीय प्रगति अवरूद्ध ही होगी। उदारवादियों को अब भी ब्रिटिष राश्ट्र की न्याय भावना और संवैधानिक साधनों की प्रभावषीलता में विष्वास था। कांग्रेस के दोनों . वर्गों में स्वराज्य की व्याख्या में भी भेद था ।

उदारवादियों तथा उग्रवादियों के उपर्युक्त मतभेद के कारण 1907 के सूरत अधि विषन में कांग्रेस विधिवत् रूप से दो वर्गों में बंट गयी– उदारवादी कांग्रेस तथा उग्रवादी कांग्रेस द्य

किसी भी पराधीन देष द्वारा अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति उसी समय की जा सकती हैं जबकि राश्ट्रीय आन्दोलन का नेतष्त्व करने वाला वर्ग स्वयं त्याग करने का इच्छुक हो । अधिकांष उदारवादी नेताओं में इस प्रकार की त्याग भावना का अभाव था, लेकिन उग्रवादी नेता प्रत्येक त्याग और कश्ट के लिए तत्पर थे। बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल वास्तविक अर्थों में लोकनायक थे। 1908 में तिलक को गिरफ्तार करने और उनके साथ किए गए अन्याय ने जनता को इतना विक्षुब्ध कर दिया था कि कई जगह दंगे हो गये । बम्बई की मिलों के मजदूरों ने सरकार के इस कार्य के विरोध में एक व्यापक हड़ताल की। लेनिन ने इस हड़ताल को भारत के श्रमिक वर्ग की पहली राजनीतिक कार्यवाही बताया था। इस प्रकार उग्रवादियों ने अब तक के वैधानिक आन्दोलन को वास्तविक राश्ट्रीय आन्दोलन और जन आन्दोलन की दिषा प्रदान की।

क्रिप्स मिषन और क्रिप्स योजना

युद्ध के प्रारम्भिक चरण में ब्रिटेन और मित्र राश्ट्रों की स्थिति बिगड़ती जा रही थी । 1941 में जब जापानी सेनाएं बर्मा में भारत की सीमा तक आ पहुँचीं, तो ब्रिटिष सरकार को चिन्ता हुई । ब्रिटिष सरकार ने सोचा कि जापान के सम्भावित आक्रमण से भारत की रक्षा का कार्य भारत की राजनीतिक षक्तियों के सहयोग से ही सम्भव है। अतः प्रधानमंत्री चर्चिल ने राजनीतिक गतिरोध दूर करने के लिए मार्च 1942 में सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा । मई 1942 में क्रिप्स के द्वारा अपनी योजना पेष की गयी, जिसके दो भाग थेः अन्तरिम योजना और दीर्घकालीन योजना। योजना में युद्ध समाप्ति पर भारत को स्वतंत्रता देने की बात कही गयी थी लेकिन युद्ध होते रहने तक सुरक्षा विभाग ब्रिटिष षासन के अधिकार में रखने के लिए कहा गया। उस समय युद्ध की स्थिति ऐसी थी कि किसी भी दीर्घकालीन योजना की अपेक्षा तत्कालीन योजना में ही अधिक रुचि हो सकती थी और कांग्रेस सुरक्षा विभाग के सम्बन्ध में क्रिप्स योजना के प्रबन्ध को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। गांध जी ने क्रिप्स योजना को दिवालिया बैंक के नाम भविश्य की तिथि में मुनने वाले चौक (च्वेज—कंजमक बीमुनम वद ॅ बतौपदह इंदा) की संज्ञा दी थी। कांग्रेस तथा भारत के अन्य राजनीतिक दलों ने क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया।

माउण्टबेटन योजना स्वीकार करना जब लीग और कांग्रेस दोनों के द्वारा माउण्टबेटन योजना को स्वीकार कर लिया गया तो भारतीय स्वतंत्रता के मार्ग की साम्प्रदायिक बाधा भी नश्ट हो गयी और इसलिए भारत को सरलतापूर्वक स्वतंत्रता प्रदान की जा सकीं।

वास्तव में, भारतीय स्वतंत्रता किसी एक तत्व का परिणाम नहीं, वरन् अनेक तत्वों का सामूहिक परिणाम थी। डॉ. पट्टाभि सीतारमैया ठीक ही लिखते हैं कि ''भारतीय स्वतंत्रता' समय की गति और परिस्थितियों के दबाव का परिणाम थी ।'' स्वतंत्रता के बाद डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने लार्ड माउण्टबेटन के प्रति 'धन्यवाद प्रस्ताव प्रस्तावित करते हुए कहा था, ''जहाँ स्वतंत्रता की प्राप्ति काफी सीमा तक हमारे अपने त्यागों और बलिदानों के फलस्वरूप हुई है, वहीं वह विष्व – षक्तियों और घटनाओं का भी परिणाम है। इसके साथ ही यह ब्रिटिष जाति के लोकतन्त्रात्मक आदर्षों और ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुरूप ही है ।''

अभ्यास

प्रष्न

1. 1857 के स्वतंत्रता संग्राम का अंग्रेजी हुकूमत पर क्या प्रभाव पड़ा ?

2. भारत में राश्ट्रवाद के उदय के क्या कारण थे? वर्णन करें?

3. अंग्रेजों द्वारा भारतीय राश्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना किये जाने के क्या उद्देष्य थे?

4. भारतीय राश्ट्रीय कॉंग्रेस के उदारवादी पक्ष की व्याख्या करें।

5. उग्र राश्ट्रीयता के उदय के कारणों की विस्तष्त समीक्षा करें।

6. असहयोग आन्दोलन के कारण एवं परिणामों की विवेचना करें।

7. गोलमेज सम्मेलनों के प्रस्तावों और परिणामों पर टिप्पणी लिखें।

8. भारत छोड़ो आन्दोलन ने भारत में अंग्रेजों के प्रस्थान का बिगुल बजा दिया। इस कथन की समीक्षा करें।

9. भारतीय राश्ट्रीय प्राप्ति में कौन–कौन से तत्व सहायक थे? व्याख्या करें।

माड्यूल 2
भारतीय संविधान और उसके स्त्रोत
इकाई 5
भारतीय संविधान और उसके स्त्रोत

इस अध्याय के अन्तर्गत :परिचय
कैबिनेट मिषन योजना और भारतीय संविधानसभा के जन्म,

संगठन एंव कठिनाइयाँ .

पूर्ण प्रभुत्व संपन्न संविधानसभा

संविधान का गठन, इसके स्रोत, प्रथाएँ एवं परंपराएँ

संविधान की प्रस्तावना

भारतीय संविधान की विषेशताएँ

भारतीय संविधान का एकात्मकता की ओर झुकाव

एकात्मक तत्व

अध्याय के उद्देष्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :

: 'कैबिनेट मिषन योजना और भारतीय संविधानसभा के जन्म, संगठन एंव कठिनाइयों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे जान सकेंगे कि भारतीय संविधानसमा किस तरह पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न संविधानसभा बन सका ।

भारतीय संविधान की विषेशताएँ समझ सकेंगे।

: जान सकेंगे कि भारतीय संविधान का एकात्मकता की ओर सुझाव कैसे हैं?

: भारतीय संविधान की एकात्मक तत्व को समझ सकेंगे।

परिचय :

'संविधान' किसी राज्य के अन्तर्गत उन मौलिक सिद्धान्तों का संकलन है जिनके द्वारा सरकार का संगठन होता है। इसके द्वारा सरकार की षक्तियों और षासितों के अधिकारों तथा सम्बन्धों की व्यवस्था की जाती हैं। लॉर्ड ब्राइस के कथनानुसार, "संविधान उन नियमों के संकलन को कहते हैं जो किसी राज्य की सरकार की बनावट तथा राज्य एवं नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य को निष्चित करता हो । सरकार के तीन अंग होते हैं कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका । संविधान का कामं होता हैं कि वह इन तीनों की बनावट, कार्य, अधिकार आदि निष्चित करे।''.

संविधानसभा की मांग 26 जनवरी, 1950 के पूर्व भारत में इस प्रकार का कोई संविधान नहीं था । हमारे देष का षासन ब्रिटिष पार्लियामेंट द्वारा निर्मित 1934 के अधिनियम में थोड़े परिवर्तन के बाद एक डोमिनियन संविधान के अनुसार चलता था। लेकिन भारत में संविध

ाान निर्माण का काम भी चल रहा था। भारतीय राश्ट्रीय आन्दोलन के साथ भारतीय जनता भारत के संविधान के लिए एक संविधानसभा की माँग बहुत दिनों से कर रही थी । जिस समय यह माँग की जा रही थी उस समय भारत में ब्रिटिष संसद के बनाये हुए संविध आन के अनुसार षासन चल रहा था। जब देष के भीतर स्वराज्य की माँग प्रबल हुई तो उसका स्वाभाविक प्रयोजन था कि भारत के लिए संविधान बनाने का अधिकार भारत की. जनता के प्रतिनिधियों को होना चाहिए। 1935 के अधिनियम की घोशणा से पहले ही गाँधीजी ने भारत के लिए एक प्रतिनिधिसभा का प्रस्ताव देष और सरकार के समक्ष रखा था जो देष के लिए संविधान बनाने का काम करती । काँग्रेस ने 1934 में संविधानसभा बनाने के बारे में एक माँग और प्रस्ताव पेष किया। 1935 में जब भारत सरकार अधिनियम की घोशणा की गयी तो काँग्रेस उससे बहुत अप्रसन्न हुई और उसने अपने फैजपुर अधिवेषन में 1936 में एक प्रस्ताव पास में किया जिसमें उसने संविधानसभा का उल्लेख किया, ''काँग्रेस का लक्ष्य भारत में एक वास्तविक लोकतंत्रात्मक राज्य की स्थापना करना है, जिसमें सत्ता सम्पूर्ण जनता को सौंप दी जाय और सरकार उसके प्रभावषाली नियंत्रण में रहे। ऐसे राज्य की स्थापना केवल एक ऐसी संविधानसभा द्वारा ही हो सकती है जो अन्तिम रूप से देष के संविधान का निर्णय कर सके ।

काँग्रेस ने 1939 में द्वितीय महायुद्ध षुरू होने पर पुनः यह माँग दुहराई और सरकार को कहा कि यदि भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न संविधानसभा बनाने का अधिकार दिया जाय तो भारत युद्ध में अँग्रेजों का साथ दे सकता है। काँग्रेस कार्यसमिति ने अपने एक प्रस्ताव में कहा कि ''एक स्वतंत्र देष का संविधान बनाने के लिए संविधानसभा ही एकमात्र लोकतांत्रिक मार्ग है तथा जो लोग लोकतंत्र और स्वतंत्रता में विष्वास करते हैं वे इससे इन्कार नहीं कर सकते।'' इस सम्बन्ध में बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि ''अगर इसे स्वीकार किया जाय– जैसा कि होना चाहिए – कि राजनीतिक और राश्ट्रीय रूप से भारतीय ही अपने भाग्य के एकमात्र निर्णायक हों और इसलिए अपना विधान तैयार करने की उन्हें पूरी आजादी हो तो इससे यह अर्थ निकलता है कि ऐसा एक राश्ट्रीय पंचायत (संविध नसभा) द्वारा ही हो सकता है। ''महात्मा गाँधी ने भी इस विचार का समर्थन किया और उन्होंने 'हरिजन' के 25 नवम्बर, 1939 के अंक में लिखा कि ''सिर्फ राश्ट्रीय पंचायत ही एक ऐसा संविधान बना सकती है जो देषी हो और जो ठीक–ठीक और पूरी तरह जनमत का प्रतिनिधित्व कर सके।''

कैबिनेट मिषन योजना और भारतीय संविधानसभा का जन्म द्वितीय

विष्वयुद्ध की समाप्ति पर जुलाई, 1945 में ब्रिटेन में आम चुनाव हुआ। इसमें मजदूर दल विजयी हुआ और उसी की सरकार बनी। इस दल ने चुनाव के पहले ही यह घोशणा की थी कि यदि वह विजयीं होगा तो भारत को स्वतंत्र कर देगा। 19 फरवरी, 1946 को मजदूर –– सरकार की ओर से एक घोशणा हुई। इसमें कहा गया था कि भारत का राजनीतिक गतिरोध दूर करने के लिए ब्रिटिष मंत्रिमंडल के तीन सदस्यों का एक षिश्टमंडल भारत जायेगा। मार्च, 1946 में षिश्टमंडल भारत पहुँचा। भारतीय समस्या के समाधान के लिए इसने एक योजना प्रस्तुत की जिसे कैबिनेट मिषन योजना कहते है । इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं 1. षिश्टमंडल ने भारत के विभाजन को असम्भव बतलाकर उसका विरोध किया । 2. देष के षासन के लिए एक संघ कार्यम हो जिसका वैदेषिक सम्बन्ध, सुरक्षा और यातायात पर नियंत्रण रहे। षेश विशयों में प्रान्त एकदम स्वतंत्र रहें। 3. भारत के लिए संविध न तैयार करने के लिए एक संविधानपरिशद की स्थापना हो । 4. जब तक नया संविध ाान नहीं बन जाता तब तक षासन चलाने के लिए अस्थायी सरकार बने जिसमें कॉग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों के प्रतिनिधि षामिल

संविधान का जन्म कैबिनेट मिषन योजना में अनेक बातें कहीं गयी थीं । पर इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात भारत के लिए एक संविधानसभा के संगठन से सम्बद्ध थी । कैबिनेट मिषन योजना में सम्पूर्ण भारत के लिए एक संविधान बनाने के लिये एक संविध नसभा के निर्माण की व्यवस्था की गयी थी। समस्त भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए संविध

ाानसभा का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होना उचित होता, लेकिन इसमें अत्यधिक विलम्ब होने का भय था । अतः षिष्ट मंडल ने यह प्रस्ताव रखा कि सविधानसभा का निर्वाचन प्रान्तीय विधानमंडलों द्वारा हो । भारतीय नेताओं ने प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया ।

संविधानसभा का संगठन कैबिनेट मिषन योजना के अनुसार, संविधान निर्माण के लिए संविध ाानसभा के संगठन तथा निर्माण का निष्चय किया गया। संविधानसभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा होना तय किया गया था । सदस्यों के निर्वाचन का आधार जनसंख्या और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण था । ऐसा निष्चित '' किया गया था कि प्रति दस लाख व्यक्तियों पर एक सदस्य का चुनाव हो । जिस संविध नसभा का निर्माण इस निर्वाचनों के फलस्वरूप होना था वह पूर्णप्रभुत्व सम्पन्न संस्था न थी और उसकी षक्तियाँ सीमित थीं यह संविधानसभा ब्रिटिष संसद के अधीन थी। इसके कार्य के लिए भी एक निर्दिश्ट विधि की व्यवस्था थी। जुलाई में संविधानसभा के सदस्यों का चुनाव हुआ। इसमें सभी राजनीतिक दलों ने भाग लिया। यहाँ यह स्मरण रखना आवष्यक है कि ये निर्वाचन केवल ब्रिटिष भारत के 296 स्थानों के लिए ही थे। इसमें काँग्रेस को 21.1 तथा मुस्लिम लीग को 73 स्थान प्राप्त हुए थे ।

संविधानसभा की कठिनाइयाँ संविधानसभा की प्रथम बैठक 9 दिसम्बर, 1946 को हुई। आरम्भ में ही इसके समक्ष कई कठिनाइयाँ आयीं। सबसे पहले यह प्रष्न उपस्थित हुआ कि सभा के प्रथम अधिवेषन की अध्यक्षता कौन करेगा। इस सम्बन्ध में वायसराय लॉर्ड वेवेल का कहना था कि चूँकि संविधानसभा का निर्माण ब्रिटिष सरकार ने किया है इसलिए उसका पहला अध्यक्ष नियुक्त करने का अधिकार वायसराय को होना चाहिए। पंडित जवाहरलाल का कहना था कि संविधानसभा एक प्रभुता सम्पन संस्था थी, अतः वायसराय को इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं है। आखिरकार संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रांस की परंपरा के अनुसार सभा के सबसे वयोवष्द्ध सदस्य डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा को अध्यक्ष बनाया गया। बाद में 19 दिसम्बर को डॉ. राजेंद्र प्रसाद सभा के स्थायी अध्यक्ष नियुक्त हुए। संविध

स्वप्रगति की जाँच करें :

1. भारतीय संविधान का निर्माण किस तरह हुआ और इसे किस तारीख से सारे देष में लागू कर दिया गया ।

2. भारतीय संविधान के अन्तर्गत

कुछ प्रथाएँ भी हैं। क्या आप इन्हें स्पश्ट कर सकते हैं?

ैनसभा का अधिवेषन नयी दिल्ली में विधानसभा भवन के पुस्तकालय हॉल में हो रहा था जिसके अन्दर की दीवारों पर पुराने गवर्नर–जनरलों के चित्र लटक रहे थे । संविधानसभा के सदस्यों को यह बहुत अटपटा लग रहा था कि इस प्रकार वे उन लोगों के चित्रों के साक्ष्य में भारत के नये संविधान को तैयार करें जो देष में विदेषी षासन के प्रतीक थे। इस समस्या का भी समाधान हो गया, उन चित्रों को वहाँ से उतारकर कहीं अन्यत्र पहुँचा दिया गया। संविधानसभा के समक्ष कुछ और वैधानिक और राजनीतिक कठिनाइयाँ थीं। पहला प्रष्न तो यह था कि क्या संविधानसभा संविधान बनाते समय मिषन–योजना के उन अंषों से बँधी हुई थी कि वह केवल चार विशय ही संघीय सरकार को देंगी और षेश प्रान्तो को । दूसरा प्रष्न यह था कि क्या प्रान्तों का समूहीकरण कैबिनेट मिषन योजना के अनुसार अनिवार्य था। इस बारे में वायसराय ने कॉग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद को यह आष्वासन दिया था कि समूहीकरण अनिवार्य नहीं है । परन्तु मुस्लिम लीग उसे अनिवार्य मानती थी । बाद में ब्रिटिष सरकार ने भी इस विचार का समर्थन किया। एक और कठिनाई यह थी कि लीग संविध ाानसभा में नहीं आ रही थी और यह भी ज्ञात नहीं हो पा रहा था कि अन्ततः वह आयेगी या नहीं। इस कारण संविधानसभा अपने काम को किस प्रकार आगे बढ़ा सकेगी, इसके बारे में सबके मन में सन्देह था। परन्तु संविधानसभा अपने काम सें जुट गयी और वह 3 जून 1947 को देष के विभाजन से पहले अपने तीन अधिवेषन कर चुकी थी, उसकी विविध

समितियों आदि का निर्माण हो चुका था और पहले अधिवेषन में ही 13 दिसम्बर को पंडित जवाहरलाल ने उसके सामने उद्देष्य सम्बन्धी प्रस्ताव रखा जो स्वीकार कर लिया गया । उस प्रस्ताव में कहा गया था कि संविधानसभा एक प्रभुतासम्पन्न सभा है और उसकी सत्ता को कोई चुनौती नहीं दे सकता है तथा यदि कोई चुनौती देगा तो हम उसे स्वीकार करते हैं और उपनी स्थिति पर सुदृढ़ हैं। उसमें यह भी कहा गया कि यह प्रस्ताव देष की जनता के प्रति एक पवित्र प्रतिज्ञापत्र है। पहले अधिवेषन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रस्ताव यह पारित किया गया कि संविधानसभा को बिना उसके कुल सदस्यों के दो तिहाई बहुमत के अन्य किसी प्रकार विघटित नहीं किया जा सकेंगा। इस प्रकार सभा ने अपनी प्रभुता स्थापित कर ली।

पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न संविधानसभा कैबिनेट मिषन योजना द्वारा जिस संविध नपरिशद् का उद्भव हुआ था, उसकी सबसे बड़ी कमी यह थी कि वह पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न परिशद् नहीं थी । उस पर कुछ ऐसी पाबन्दियाँ लगी हुई थीं जिनके कारण उसका स्वरूप ब्रिटिष संसद की अध ीनस्थ संस्था–सा हो गया था। उदाहरण के लिए, कैबिनेट मिषन योजना में उल्लिखित षासन की किसी महत्वपूर्ण रूपरेखा में वह परिवर्तन नहीं कर सकती थी। सभा का यह स्वरूप तुरंत ही बदल गया और वह पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न संविधानसभा हो गयी। 15 अगस्त, 1947 को दोनों देष स्वतंत्र हो गये। साथ ही, कैबिनेट मिषन योजना के अनुसार निर्मित संविधानसभा को दो भागों में विभाजित कर दिया गया। इन संविधानसभाओं को अपने–अपने राज्य के लिए संविधाननिर्माण कार्य के अतिरिक्त उपनिवेषों की संसद के रूप में सभी प्रकार के विधि निर्माण के भी पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गये। भारतीय संविध

नपरिशद् अब एक पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न संविधानसभा बन गयी ।

संविधान का निर्माण

.ऊपर बताया जा चुका है कि संविधानसभा की पहली बैठक 9 दिसम्बर 1946 को हुई। सभा ने अपने काम में सुगमता लाने के लिए अनेक समितियों का निर्माण किया। तत्पष्चात् संविध ाान का प्रारूप (कतंजि) तैयार करने के लिए संविधान परिशद् ने 29 अगस्त, 1947 को डॉ. बी. आर. अम्बेदकर की अध्यक्षता में एक प्रारूप समिति बनायी । इस समिति ने काफी सोच समझकर संविधान का प्रारूप तैयार किया जो फरवरी, 1948 इसे

संविधान परिशद् में पेष किया गया। 144 दिनों तक इस प्रारूप पर विचार होता रहा और उसमें 2473ः संषोधन पेष किये गये। 26 नवम्बर, 1949 को संविधान अन्तिम रूप में कई संषोध ानों के बाद स्वीकार कर लिया गया। स्वीकृत संविधान में 395 धाराएँ तथा 8 परिषिश्ट थीं। 26 जनवरी, 1950 के दिन हमारा यह संविधान सारे देष में लागू कर दिया गया। इस प्रकार, विष्व के राजनीतिक रंगमंच पर एक पूर्ण स्वतंत्र और संप्रभुसत्तासम्पन्न गणतंत्र का प्रादुर्भाव हुआ ।

संविधान के स्रोत

1935 का अधिनियम

1935 का अधिनियम वर्तमान भारतीय संविधान का एक

मुख्य स्रोत है। इस दोनों में ये समानताएँ हैं.

1. दोनों का रूप संघीय है तथा दोनों में ही केंद्र को अधिक षक्ति प्रदान की गयी है। जिन सूचियों के आधार पर संघ तथा राज्यों में षक्ति–विभाजन किया गया है – उनमें भी समानता है। दोनों में ही संसदीय षासन–प्रणाली की व्यवस्था की गयी है।

2. दोनों ही विस्तष्त हैं तथा न केवल केंद्रीय सरकार के मुख्य अंगों तक ही अपने को सीमित रखते हैं, वरन् दोनों में ही प्रान्तीय षासनों के सम्बन्ध में भी व्यवस्था का उल्लेख मिलता है।

3. दोनों ही संविधानों में तथा कुछ राज्यों में द्विसदनात्मक विधानमंडल की व्यवस्था –की गयी ।

4. दोनों में ही संकटकाल में राज्य अथवा राज्यों में सविधान को विफल घोशित करके केंद्र उनका षासन प्रबन्ध अपने हाथ ले सकता है।

5. 1935 के अधिनियम में प्रान्तीय गवर्नरों की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। कार्यपालिका के प्रमुख होते हुए भी वे भारत सरकार के नियंत्रण में थे तथा उन्हें स्वविवेकानुसार काम करने का अधिकार दिया गया था। नवीन संविधान में राज्यपालों की नियुक्ति राश्ट्रपति द्वारा होती है तथा वे उसके प्रसादपर्यन्त अपने पद पर बने रह सकते हैं। वे प्रान्तों में केंद्रीय षासन का प्रतिनिधत्व करते हैं तथा उन्हें भी कुछ स्वविवेक षक्तियाँ दी गयी हैं।

इन समानताओं के अतिरिक्त दोनों में कुछ विभिन्नताएँ भी हैं। ये निम्नलिखित हैं–

1. 1935 का षासन – अधिनियम एक विदेषी षासन द्वारा भारतीयों पर बलात् लादा गया था तथा उसके निर्माण में भारतीयों का कोई हाथ न था। नवीन संविधान भारतीय जनता के प्रतिनिधियों द्वारा बनाया गया।

2. 1935 का अधिनियम भारतीय षासन पर अन्तिम षक्ति ब्रिटिष संसद को प्रदान करता था, परन्तु अब भारतीय संसद सर्वोच्च हुई तथा किसी प्रकार के नियंत्रण के अधीन नहीं रही।

3. 1935 के अधिनियम में अविषिश्ट षक्तियाँ गवर्नर जनरल के हाथ में थीं अर्थात् वही इस बात का निर्णायकं था कि कौन सी अवषिश्ट षक्ति केन्द्र को दी जाय तथा कौन–सी प्रान्तों के हाथ में रहे। नवीन संविधान ने अवषिश्ट षक्तियाँ संघीय षासन को प्रदान कीं ।

4. 1935 के अधिनियम में नागरिकों को कोई मूल अधिकार नहीं प्रदान किये गये थे। नवीन संविधान में नागरिकों को मूल अधिकार प्रदान किये गये जो न्यायालय द्वारा लागू कराये जा सकें।

5. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत मताधिकार सीमित थाय पर अब प्रत्येक वयस्क को मताधि ाकार प्राप्त हुआ।.

6. नवीन संविधान में साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली का अन्त कर दिया गया तथा एक ध र्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की घोशणा की गयी।

7. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत जिस संघीय षासन की स्थापना होती, उसकी स्थापना होना अथवा न होना देषी राज्यों की स्वेच्छा पर निर्भर था तथा चूँकि उन्होंने संघीय षासन की स्थापना में कोई रुचि नहीं दिखायी थी, अतः अधिनियम का संघीय भाग कार्यान्वित न किया जा सका। नवीन संविधान में देषी राज्यों का एकीकरण कर उन्हें विभिन्न राज्यों में षामिल कर दिया गया। पुराने अधिनियम के अन्तर्गत देषी रियासतों की जनता को स्वषासन सम्बन्धी कोई अधिकार नहीं दिया गया था, परन्तु अब देषी राज्यों की जनता भारत की जनता बन गयी तथा उसे भी बिना किसी प्रकार के भेदभाव के समान अधिकार प्रदान किये गये ।

8. 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित सर्वोच्च न्यायालय देष का उच्चतम न्यायालय नहीं था तथा कुछ मामलों में उसके निर्णय के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील हो सकती थी। अब भारत का सर्वोच्च न्यायालय देष का सबसे बड़ा न्यायालय हुआ ।

संसदीय अधिनियम भारत के संविधान ने संसद एवं राज्यों के विधानमंडलों को कई प्रकार के कानून बनाने का अधिकार दिया जो व्यवहार में संवैधानिक कानून ही हैं। इसी अधिकार के अन्तर्गत संसद ने 1956 एवं 1960 में कानून द्वारा राज्यों का पुनर्गगठन किया । विध ाानपरिशद् का निर्माण एवं अन्त विधानसभा के प्रस्ताव पर संसद ही करती है। उदाहरण के लिए, बम्बई राज्य की विधानपरिशद् का अन्त भारतीय संसद ने ही किया। तत्पष्चात्

आवष्यकता होने पर संसद ने विधानसभा के प्रस्ताव पर उसे पुनः स्थापित कर दिया । लोकसभा के सदस्यों की संख्या कितनी होगी, इसका निर्णय भी संसद ही करती है। संविध्ा न भारतीय राश्ट्रपति एवं संसद को नियम बनाने के सिलसिले में कई तरह के अधिकार भी देता है। जैसे संघीय संसद अपने सदन की कार्यप्रणाली के लिए नियम भी बनाती है। राश्ट्रपति को नियम बनाने का भी अधिकार है। वह इसी प्रकार अध्यादेष भी जारी कर सकता है। अतः संवैधानिक कानून के साथ सम्बन्ध रखने वाले विशयों पर जो कानून भारत की संसद या राज्यों के विधानमंडल बनायें या जो अध्यादेष राश्ट्रपति जारी करे और राश्ट्रपति द्वारा इन विशयों के सम्बन्ध में जो भी नियम, विनियम और आदेष निर्धारित किये जाएँ – वे सब भारत के संवैधानिक कानून के अभिन्न अंग हैं।

.विगत वर्शों में भारतीय संसद ने कुछ ऐसे अधिनियमों का निर्माण किया है जो संवैध निक महत्व के हैं। 1950 का जनप्रतिनिधित्व अधिनियम और उसके संषोधन, 1955 का भारतीय नागरिकता अधिनियम और 1946 का राज्य पुनर्गठन अधिनियम को भी भारतीय संविधान के अंग बन चुके हैं।

ब्रिटिष संविधान के कुछ नियम जो भारतीय संविधान के अंग मान लिये गये हैं– हमारे संविध्ाान के बुनियादी सिद्धान्त ब्रिटिष संविधान से लिये गये हैं। यद्यपि उसके नियम हमारे संविध्ाान के अंग नहीं हैं तथापि एक तो हम प्रेरणा और स्पश्टीकरण के लिए उनकी ओर देखते हैं तथा दूसरे, कहीं कहीं हमारे संविधान में यह कहा गया कि ब्रिटिष संविधान के नियम हमारा मार्गदर्षन करेंगे। उदाहरण के लिए, संविधान में अनुच्छेद 105 की धारा 5 में कहा गया है कि जब तक भारतीय संसद कोई नियम निर्धारित न करें तब तक भारतीय संसद के दोनों सदनों, उनके सदस्यों तथा समितियों की षक्तियाँ, विमुक्तियाँ (पउउनदपजपमे) और उनके विषेशाधिकार वही होंगे जो संविधान आरम्भ होने के समय ब्रिटिष. संसद के सदनों, उनके सदस्यों व उनकी समितियों को प्राप्त थे। इससे यह संकेत भी मिलता है कि संविध्ाानिर्माताओं ने यद्यपि इसके बारे में नियम बनाने की षक्ति संसद को दी है, परन्तुं उन्होंने ब्रिटिष नियमों के लिए अपनी पसन्द भी प्रकट कर दी है। न्यायालयों द्वारा लेख. जारी किये जाने के बारे में भी इसी प्रकार के कुछ नियम स्वीकृत कर लिये गये हैं।

न्यायिक निर्णय भारतीय संविधान से उन न्यायिक निर्णयों का भी बोध हो जाता है जिनका जन्म संविधान की व्याख्या करने के सिलसिले में हुआ । संविधान के षब्दों के अर्थ विभिन्न कालों में विभिन्न हो सकते हैं। फिर भी, सर्वोच्च न्यायालय की व्याख्या सर्वमान्य होती है। इसका कारण यह है कि किसी भी देष के सांवैधानिक कानूनों के अर्थ तथा उस देष के संविध्ाान की सभी धाराएँ पूर्णतः स्पश्ट नहीं होती। यदि संविधाननिर्माण के समय इनके अर्थ पूर्णतः स्पश्ट कर दिये जाये तो भी समय के बदलने पर इनके अर्थ में गड़बड़ी हो जाती है तथा सर्वोच्च न्यायालय को उन धाराओं की व्याख्या करनी पड़ती है। ये व्याख्याएँ भी संविधान की अन्तिम अंग हो जाती हैं। भारतीय संविधान भी इससे नहीं बचा है। कई न्यायिक निर्णय एवं संविधान की व्याख्याएँ प्रकाष में आ चुकी हैं। इस प्रकार, न्यायिक निर्णय भी भारतीय संविधान के अभिन्न अंग हैं।

प्रथाएँ एवं परम्पराएँ

:संविधान लिखित हो अथवा अलिखित, कालान्तर में कुछ

प्रथाओं का विकास हो ही जाता है। संविधान चाहे कितना भी सुस्पश्ट क्यों न हो या कितना भी विषाल क्यों न बनाया जाय, परन्तु उसके अतिरिक्त भी कुछ प्रथाएँ एवं परम्पराएँ चल ही पड़ती हैं। भारत की षासन–प्रणाली भी कुछ महत्वपूर्ण मौलिक प्रथाओं पर आधृत है। यहाँ यह स्पश्ट कर देना अधिक उचित होगा कि यद्यपि षासन–संचालन प्रथा या परम्परा के उन अलिखित नियम के द्वारा तो होता है, परन्तु इसके पीछे कोई भी कानूनी आधार नहीं है। फिर भी, यह राज्य के लिए एक आदत है जिसके अनुसार वह अपने षासन को चलाता है। मुनरों ने ठीक ही कहा है, ''व्यक्ति के लिए आदत का जो स्थान है वही राज्य के लिए प्रथाओं

का है।'' इक्कीस वर्श के जीवन में भारतीय संविधान में कुछ ऐसी ही परम्पराएँ एक चल पड़ी हैं। ये परम्पराएँ एवं प्रथाएँ भी भारतीय संविधान का अभिन्न अंग बन चुकी हैं। उदाहरण के लिए, संविधान में कहीं यह बात नहीं कही गई है कि राश्ट्रपति किसी मंत्री को प्रधानमंत्री के कहने पर हटा देगा । संविधान में तो कहा गया है कि कोई भी मंत्री राश्ट्रपति के इच्छाकाल तक ही अपने पद पर रह सकेगा। परन्तु एक परम्परा चल पड़ी है कि कोई भी मंत्री प्रधानमंत्री की इच्छा के विरुद्ध (यद्यपि राश्ट्रपति उसे चाहे) रहकर उसके मंत्रिमंडल में नहीं रह सकता। इसलिए ष्यामाप्रसाद मुखर्जी, अम्बेडकर या देषमुख को प्रधानमंत्री से असहमत होकर हट जाना पड़ा।

संविधान की प्रस्तावना

प्रत्येक देष के संविधान की एक प्रस्तावना होती है जिसमें उस देष के संविधान के आदर्षों की झाँकी मिलती है। किसी देष के संविधान की प्रस्तावना उसी उद्देष्य को पूरा करती है जो किसी पुस्तक की प्रस्तावना करती है। वस्तुतः किसी देष के संविधान की प्रस्तावना सम्पूर्ण संविधान की कुंजी होती हैं। पालन्दे के षब्दों में, ''प्रस्तावना – जो संविधान का अंग नहीं है– संविधान के स्रोत, आदर्ष, लक्ष्य और राजनीतिक ढाँचा आदि की घोशणा करती है ।'' अन्य देषों के संवधान की ही तरह हमारे भारतीय संविधान की भी एक प्रस्तावना है जिसके सम्बन्ध में पालन्दे ने ठीक ही लिखा है, ''भारतीय संविधान की प्रस्तावना उन आदर्षों एवं लक्ष्यों की षानदार घोशणा है जिन्हें भारतीय जनता ने अपने सामने रखा है और जिन्हें वह उस राजनीतिक ढाँचे के द्वारा प्राप्त करना चाहती है जिसे उसने जानबूझकर अपने लिए रचा है।''

हमारे संविधान की प्रस्तावना की सबसे बड़ी विषेशता यह है कि यह स्वतंत्र भारत के लिए गाँधीजी की विचारधारा पर आधष्त है। जब 1931 में राश्ट्रपिता महात्मा गांधी द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए लंदन–यात्रा कर रहे थे तो जहाज पर ही एक समाचारपत्र के संवाददाता के प्रष्न का उत्तर देते हुए उन्होंने भारत के भावी संविधान से सम्बद्ध अपना विचार इन षब्दों व्यक्त किया था, ''मैं एक ऐसे संविधान के लिए प्रयत्न करूँगा जो भारत को सब तरह के दासत्व और आश्रय से मुक्त कर दे और यदि आवष्यकता हो

तो उसे पाप करने का भी अधिकार दे। मैं एक ऐसे भारत के लिए प्रयत्न करूँगा जिसमें गरीब से गरीब व्यक्ति भी महसूस करे कि यह उसका देष है, जिसके निर्माण में उसकी प्रभावषाली आवाज है, जिसमें न तो उच्चवर्ग रहेगा और न निम्नवर्ग, जिसमें सब जातियाँ पूरे मेलजोल से रहेंगी। ऐसे भारत में न तो छुआछूत के अभिषाप के लिए गुंजाइष हो सकती है और न नषीले द्रव्यों एवं औशधियों के लिए। महिलाओं के वे ही अधिकार होंगे जो पुरुशों के हैं। क्योंकि हमें संसार के षेश देषों के साथ षांतिपूर्वक रहना है– न किसी का षोशण करना है और न भ्रमित होना है। इसलिए हमारी इतनी छोटी सेना होगी जितनी कि कल्पना की जा सकती है। विदेषी हो या देषी, उस प्रत्येक व्यक्ति के हितों की रक्षा की जाएगी जो कोटि–कोटि मूक जनता के हितों से टकराता न हो। व्यक्तिगत रूप से मैं विदेषी और देषी के बीच भेदभाव से घृणा करता हूँ यह है मेरे स्वप्नों का भारत ।''

वस्तुतः, हमारे संविधान की प्रस्तावना में गाँधीजी की यही विचारधारा देखने को मिलती है। एम० वी० पायली ने ठीक ही कहा है, ''यह कहना अतिषयोक्ति नहीं होगा कि सिर्फ प्रस्तावना में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण संविधान में स्वतंत्र भारत के सम्बन्ध में गाँधीजी की विचारधारा गूँजती है।'' हमारे संविधान की प्रस्तावना इस प्रकार है–

''हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विष्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिश्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राश्ट्र की एकता सुनिष्चित कराने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़संकल्प होकर अपनी इस संविधानसभा में आज तारीख 28 नवम्बर,

1949 को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।''. हमारे संविधान की प्रस्तावना का महत्व कई दृश्टिकोणों से है जिनमें निम्नलिखित

मुख्य हैं : सार्वजनिक सम्प्रभुता – सर्वप्रथम हमारे संविधान की प्रस्तावना इसकी घोशणा करती है कि समस्त सत्ता और षक्तियों का स्रोत जनता होगी। हमारे संविधान की प्रस्तावना 'हम भारत के लोग' से प्रारम्भ होती है। यहाँ अमेरिका और आयरलैंड के संविधान से प्रभावित होकर इस तरह के षब्दों का प्रयोग किया गया है। हमारी प्रस्तावना में कहा गया है कि 'हम भारत के लोग संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित तथा आत्मार्पित करते हैं जिससे स्पश्ट हो जाता है कि संविधान का निर्माण भारत की जनता ने किया है। भारत की जनता समस्त राजनीतिक सत्ता का स्रोत है। हमारे संविधान का निर्माण जनता के प्रतिनिधि ायों द्वारा जनता के नाम से किया गया है। इस तरह हमारी प्रस्तावना से यह प्रकट होता है कि भारत में सार्वजनिक सम्प्रभुता स्थापित की गयी हैं। डॉ. अम्बेडकर ने संविधानसभा में बोलते हुए ठीक ही कहा था, ''मै कहता हूँ कि यह प्रस्तावना उसी की व्यवस्था करती है जो प्रत्येक सदस्य की इच्छा हैं और वह यह कि इस संविधान की मूल षक्ति और सम्प्रभुता जनता में रहनी चाहिए।''

संवैधानिक कानून – जो देष का मौलिक कानून होता है के अतिक्रमण का अधि कार न तो किसी सरकार को है और न किसी राजनीतिक दल को ही । संसद और राज्य विध ाानमंडल द्वारा बने कानून को संविधान के अनुसार ही होना चाहिए। अतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि भारतीय जनता में ही सम्प्रभुता निहित है और सिर्फ जनता ही अपने प्रत्यक्ष प्रतिनिधियों द्वारा संविधान संषोधन कर सकती है।

सर्वप्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य हमारी प्रस्तावना में कहा गया है कि भारतीय संविध ाान द्वारा सर्वप्रभुत्वसम्पन्न लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना की गई है। सर्वप्रथम यह समझना है कि सर्वप्रम्भुत्वसम्पन्न का क्या अर्थ होता है? 'सर्वप्रभुत्व' का अर्थ है– वह सर्वोच्च षक्ति जो अपने क्षेत्र में पूर्णरूपेण अनियंत्रित होती है। कूले का कहना है

कि ''वह राज्य सर्वप्रभुत्वसम्पन्न कहलाता है जहाँ उसके अपने ही क्षेत्र में उस सर्वोच्च और पूर्ण षक्ति का वास होता है जो अन्य किसी को अपने से बढ़कर नहीं मानती ।'' इस तरह, भारत के संविधान की इस प्रस्तावना से स्पश्ट हो जाता है कि भारत में भी एक ऐसी राजनीतिक सत्ता की स्थापना की गयी है जिसके ऊपर भारत की सीमा के अन्दर कोई दूसरी सत्ता विराजमान नहीं है। भारत सिर्फ आन्तरिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि बाह्य क्षेत्र में भी पूर्णतः स्वतंत्र और सार्वभौम ॑(वअमतमपहद) है। वह किसी देष या राज्य के कानूनी नियंत्रण से मुक्त है। यह सही हैं कि भारत अभी भी राश्ट्रमंडल का सदस्य है जिसकी प्रध ाान ब्रिटेन की रानी हैं, परन्तु उसकी सदस्यता से भारत के सार्वभौम राज्य के अधिकार पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं आता। वर्तमान समय में राश्ट्रमंडल सिर्फ राश्ट्रों के स्वतंत्र संघ के रूप में हैं, और भारत की इच्छा पर निर्भर है कि वह इसका सदस्य रहे या नहीं। पं. नेहरू ने ठीक ही कहा था, ''हम लोग राश्ट्रमंडल में इसी कारण सम्मिलित है कि हम लोग सोचते हैं कि यह हम लोगों के लिए लाभदायक होगा और बहुत से कारण हैं कि हम संसार में तरक्की करना चाहते हैं ।

इस तरह स्पश्ट हो जाता है कि राश्ट्रमंडल की सदस्यता हमारी इच्छा पर निर्भर है तथा इससे हमारी सार्वभौम सत्ता बची रहती है। किसी लेखक ने ठीक ही लिखा है, ''इस प्रकार राश्ट्रमंडल का सदस्य होने के बावजूद भारत सार्वभौम है, क्योंकि राश्ट्रमंडल की सदस्यता बनाये रखने के निष्चय करने का अधिकार ही बताता है कि भारत सार्वभौम राज्य है।'' दूसरी बात यह है कि हमारे संविधान की प्रस्तावना द्वारा यह घोशणा की गयीं है कि भारत एक लोकतंत्रात्मक राज्य होगा। लोकतंत्र का अर्थ है – ऐसी षासन व्यवस्था जिसमें उस राज्य की जनता भी भाग ले । यों, लोकतंत्र भी दो तरह का होता है– प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, परन्तु इन दिनों सामान्यतः अप्रत्यक्ष लोकतंत्र का ही रूप देखने को मिलता है। अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में साधारणतः ये बातें देखने को मिलती हैं, :

1. सभी वयस्कों को बिना किसी भेदभाव के मताधिकार प्राप्त रहता है।

2. निशपक्ष निर्वाचन की व्यवस्था रहती है।

3. जनता को विचार, अभिव्यक्ति, संघ–निर्माण आदि की कुछ मौलिक स्वतंत्रताएँ प्राप्त

रहती हैं।

4. राजनीतिक संस्थाओं का निर्वाचन निष्चित अवधि के लिए होता है और इस अवधि में

यह संस्थाएँ जनमत के प्रति जिम्मेदार होती हैं

हम लोगों ने भारत में अप्रत्यक्ष लोकतंत्र की ही स्थापना की है और इसमें उपर्युक्त सभी बातें देखने को मिलती हैं। हमारे संविधान की धारा 325 और 326 वयस्क मताधिकार को परिभाशित करती हैं जिसके आधार पर ही हमारी सभी राजनीतिक संस्थाओं का निर्वाचन होता है। संविधान की धारा 324 में स्पश्ट कह दिया गया है कि निर्वाचन का अधीक्षण, निर्देषन और नियंत्रण केन्द्र द्वारा होगा ताकि निशपक्ष न्याय की व्यवस्था की जा सके। हमारे नागरिकों को मौलिक स्वतंत्रताएँ भी प्रदान की गयी हैं।

विधायिका का निर्वाचन भी प्रत्यक्ष ढंग से जनता द्वारा निष्चित अवधि के लिए होता है। कार्यपालिका जनता के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होती है। बहुत से विधेयकों को जनमत जानने के लिए प्रसारित किया जाता है। इस तरह हमारे संविधान द्वारा राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना की गयी है । परन्तु 'लोकतंत्र' षब्द में आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र भी आ जाते हैं। हमारी प्रस्तावना में इसी अर्थ में 'लोकतंत्र' षब्द का प्रयोग किया गया है।

भारत में इस तरह लोकतंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना की गयी है। 'गणतंत्र उस षासन–व्यवस्था को कहते हैं जहाँ राजतंत्र नहीं होता और राज्य का प्रधान निर्वाचित व्यक्ति होता है। हमारे राज्य का प्रधान राश्ट्रपति है (धारा 52) जिसका निर्वाचनं' जनता के

स्वप्रगति की जाँच करें :

3. भारतीय संविधान की एक प्रमुख विषेशता–धर्मनिरपेक्षता है? क्या आप भारतीय संविध पान के परिप्रेक्ष्य में इसे स्पश्ट

करेंगें ।

4. क्या आप इस बात से सहमत

हैं कि भारतीय संविधान में कठोरता और लचीलेपन का अपूर्व मिश्रण है?

प्रतिनिधियों द्वारा होता है। संविधान की धारा 55 द्वारा राश्ट्रपति के निर्वाचन के तरीके स्पश्ट कर दिये गये हैं । यहाँ गणतंत्र को स्पश्ट करने के लिए हम अपने संविधान की तुलना ब्रिटेन के संविधान से कर सकते हैं। ब्रिटेन को प्रजातांत्रिक राज्य कहा जा सकता है, परन्तु गणराज्य नहीं, क्योंकि उस राज्य का प्रधान वंषगत राजा होता है।

इस तरह हमारी प्रस्तावना में घोशित 'सर्वप्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य की महत्ता स्पश्ट हो जाता है।

धर्मनिरपेक्ष राज्य – हमारी प्रस्तावना द्वारा भारत को 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' के रूप में घोशित किया गया है हमारी प्रस्तावना के ये षब्द 'दृढ़ निष्चय करकें भारत की ध् धर्मनिरपेक्षता की ओर ही संकेत करते हैं। यह बात तब और स्पश्ट हो जाती है जब प्रस्तावना को लेकर हमारी संविधानसभा में हुए वार्तालाप के बारे में हम जानकारी प्राप्त करते हैं। श्री. एच. बी. कामथ ने अपना एक प्रस्ताव संविधानसभा में रखा और कहा कि प्रस्तावना को 'ईष्वर के नाम

पर षब्द से षुरू होना चाहिए। इसके विरोधी लोगों ने इसे हमारे संविधान के लिए अनुपयुक्त समझा क्योंकि हमारे संविधान निर्माताओं का उद्देष्य भारत में एक धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र की स्थापना था । हमारा राज्य धारा 25 से 28 द्वारा नागरिकों को धर्म का अधिकार देता है। किन्तु सिर्फ धर्म के आधार पर नागरिकों में किसी तरह का भेदभाव नहीं करता (म रा 15, 16, 29 और 30) । 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' का अर्थ ही होता है कि राज्य धर्म के सम्बन्ध ज में तंटस्थता की नीति अपनायेगा ।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना हमारे संविधान द्वारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना की घोशणा की गयी है। हमारे देष में केवल राजनीतिक प्रजातंत्र की ही नहीं बल्कि सामाजिक और आर्थिक न्याय की भी स्थापना की गयी है, जो सच्चे प्रजातंत्र का सहगामी होता है। श्री अल्लादी कृशणस्वामी अय्यर ने इसकी महत्ता बतलाते हुए कहा है, ''यद्यपि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की अभिव्यक्ति से देष में किसी खास राजनीतिक षासन व्यवस्था का बोध नहीं होता है, लेकिन वर्तमान समय में हर प्रजातांत्रिक राज्य का जो मौलिक लक्ष्य है उसकी ओर यह संकेत करता है।''

यद्यपि 'सामाजिक न्याय की परिभाशा हमारे संविधान में कहीं देखने को नहीं मिलती लेकिन संविधान द्वारा की गयी विभिन्न व्यवस्थाओं से स्पश्ट हो जाता है कि हमारे यहाँ सामाजिक न्याय स्थापित करने की कोषिष की गयी है। धारा 14 द्वारा सामाज के हर वर्ग के लोगों को कानून के समक्ष समानता का अधिकार दिया गया है, धारा 15 द्वारा धर्म, जाति, वंष, लिंग और जन्मस्थान आदि का भेदभाव मिटाया गया है। छुआछूत को धारा 17 के द्वारा मिटाया गया है तथा धारा 18 के द्वारा उपाधियों का अन्त कर दिया गया है ताकि समाज में किसी तरह के अन्याय की स्थापना नहीं हो सकें। हमारे संविधान के 16 वें अध्याय में अनुसूचित जातियों, आदिम जातियों और कुछ अन्य जातियों के लिए विषेश व्यवस्था की गयी है ताकि सामाजिक अन्याय का अन्त हो सके, क्योंकि उपर्युक्त जातियाँ बहुत दिनों से षोशित थीं ।

राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों के अन्तर्गत यह कहा गया है कि प्रत्येक नागरिक को जीविका के साधन प्राप्त करने का अधिकार होगा। इसी तरह मौलिक सम्पत्तियों के उचित वितरण और नियंत्रण की व्यवस्था, मजदूरों के जीवन स्तर तथा मजदूरी से सम्बद्ध व्यवस्था आदि आर्थिक न्याय की स्थापना का प्रयत्न नीतिनिर्देषक तत्वों में है। धारा 19 द्वारा नागरिकों को दिया गया यह अधिकार कि वे कोई भी पेषा, व्यापार या व्यवसाय कर सकते हैं, तथा धारा 31 द्वारा लोगों को जो सम्पत्ति का अधिकार दिया गया है वह आर्थिक न्याय

की स्थापना के हेतु ही है, आर्थिक न्याय में दो बातें आती हैं – (क) सम्पूर्ण समुदाय के लिए अच्छे जीवनस्तर की स्थापना तथा (ख) असमानता की समाप्ति । हमारे संविधान के नीतिनिर्देषक तत्वों के अन्तर्गत, खासकर धारा 39 और 41 द्वारा इस ओर उचित कदम् उठाया गया है। 1

राजनीतिक न्याय और कुछ नहीं, राजनीतिक प्रजातंत्र का ही दूसरा रूप है, जिसकी स्थापना हमारे संविधान द्वारा की गयी है ।

नागरिकों की स्वतंत्रता की घोशणा – न्याय के अतिरिक्त हमारे संविधान की प्रस्तावना नागरिकों की कुछ स्वतंत्रता की भी घोशणा करती है, जिसे हमारे संविधान के भाग 3 में स्थान दिया गया है। इस स्वतंत्रता की घोशणा के आधार पर हमारे संविधान को भारत की जनता के लिए मैग्नाकार्टा' नाम से पुकारा जाता है। हमारे संविधान में वैसी स्वतंत्रता को स्थान दिया गया है जो सच्चे लोकतंत्र के नागरिकों के लिए अनिवार्य है। विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नागरिकों के लिए मौलिक स्वतंत्रता के समान है इसके अतिरिक्त विष्वास, धर्म और पूजा की स्वतंत्रता धार्मिक स्वतंत्रता में आ जाती हैं।

समानता की घोशणा – हमारे संविधान की प्रस्तावना केवल स्वतंत्रता की ही घोशणा नहीं करती बल्कि समानता की भी घोशणा करती हैं समानता और स्वतंत्रता एक दूसरे की सहगामी हैं। बिना समानता के स्वतंत्रता, और बिना स्वतंत्रता के समानता की : कल्पना नहीं

की जा सकती। लेकिन समानता का अर्थ प्राकृतिक समानता नहीं होता। समानता का अर्थ होता है– प्रत्येक नागरिक को अवसर की समानता देना ताकि वह अपने व्यक्तित्व का अधि ाकतम विकास कर सके। हमारे संविधान में भी इसी अर्थ में समानता' पर जोर दिया गया है। प्रतिश्ठा की समानता का अर्थ होता है– सामाजिक और आर्थिक समानता जिसका प्रबन्ध ा हमारे संविधान में किया गया है। इसकी चर्चा सामाजिक और आर्थिक न्याय के अन्तर्गत हो चुकी है। धारा 16 द्वारा अवसर की समानता भी नागरिकों को प्रदान की गयी है, यद्यपि यह समानता सिर्फ काम पाने में (म्उचसवलउमदज) ही प्रदान की गयी है। सभी तरह के भेदभाव को समानता की प्राप्ति के हेतु ही समाप्त किया गया है।

व्यक्ति की मर्यादा एवं राश्ट्रीय एकता के हेतु बन्धुता की घोशणा हमारा देष विशमताओं का देष हो हमारे यहाँ भिन्न भिन्न जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाशा, संस्कृति और भौगोलिक क्षेत्र के लोग हैं। यदि हम देष को राश्ट्र बनाये रखना चाहते हैं तो इसके लिए आवष्यक है कि सभी यह समझें कि हम एक ही मिट्टी की सन्तान हैं, एक ही माँ के बच्चे हैं। इसी भावना से व्यक्ति की मर्यादा और राश्ट्र की एकता कायम रह सकती है। हमारे संविधान में भी इसी अर्थ में 'बन्धुता' को अपनाया गया है और राश्ट्रीय एकता स्थिर रखने के लिए विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ की गयी हैं। हमारे मौलिक अधिकारों पर बहुत सरे प्रतिबन्ध इसी बन्धुता और राश्ट्रीय एकता को कायम रखने के उद्देष्य से लगाये गये हैं।

राश्ट्रपति के आपातकालीन अधिकार का भी यही प्रयोजन है।

संविधान के निर्माण की तिथि की घोशणा – हमारे संविधान की प्रस्तावना की महत्ता इसलिए भी प्रकट होती है कि इसके द्वारा संविधान के निर्माण की तिथि की घोशणा भी कर दी गयी है। 26 नवम्बर, 1949 को हमारा संविधान बनकर तैयार हुआ था जिसे दो महीने बाद 26 जनवरी, 1950 को हमारे देष में लागू किया गया, यही है हमारे संविधान की प्रस्तावना की महत्ता । इसे कानूनी दृश्टिकोण से उतना महत्वपूर्ण नहीं माना गया है। ए. के. गोपालन के मुकदमे में न्यायाधीष पातंजलि षास्त्री ने इस प्रस्तावना को प्रमुखता नहीं दी, परन्तु न्यायाधीष महाजन ने कहा कि प्रस्तावना में 'दृढ़ निष्चय' षब्द हमारे संविधान को

पवित्र बना देता है। वस्तुतः प्रस्तावना ही हमारे संविधान की आत्मा है और यह आध्यात्मिक तथा नैतिक महत्व से ओतप्रोत है। यह उन सिद्धान्तों की रूपरेखा है जिन पर हमारा संविध ा न आधष्त है। केवल प्रस्तावना पढ़ने से ही स्पश्ट हो जाता है कि स्वतंत्र भारत के नागरिकों द्वारा किस तरह के संविधान का निर्माण किया गया है। प्रस्तावना मौलिक स्वतंत्रता तथा अन्य बातें भी बतलाती है अतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि प्रस्तावना सम्पूर्ण संविध ाान को समझने के लिए कुंजी हैं।

1. भारत की संविधानसभा के कार्य–कलापों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए ।

2. भारत में संविधानसभा के समक्ष कठिनाइयों का विवरण दीजिए।

3. भारतीय संविधान पर विदेषी प्रभावों की चर्चा कीजिए । .

4. क्या यह कहना ठीक है कि भारतीय संविधान भारत सरकार अधिनियम 1935 की

नकल है ?

5. भारतीय संविधान के मुख्य स्रोतों का वर्णन कीजिए ।

6. भारतीय संविधान की प्रस्तावना के संवैधानिक महत्व की समीक्षा कीजिए ।

7. भारतीय संविधान की प्रस्तावना में निहित मुख्य सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए ।

उनका क्या महत्व हैं?

भारत के नये संविधान की विषेशताएँ

नए संविधान का निर्माण हमने पहले बताया है कि मन्त्रिमण्डल मिषन योजना के अनुसार 9 दिसम्बर, 1946 ई. को संविधानसभा भारत के लिए नया संविधान बनाने के लिए बैठी । इसकी षक्तियों पर अनेक रुकावटें थीं। इसे मन्त्रिमण्डल मिषन योजना के अनुसार ही सारा कार्य करना था। इसके पास उस समय राजसत्ता ́(वअमतमपहदजल) भी नहीं थी। यह ब्रिटिष पार्लियामेंट के पास थी। यह पूर्ण रूप से प्रतिनिध्यात्मक संस्था (त्मचतमेमदजंजपअम इवकल) भी नहीं थी क्योंकि यह वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं चुनी गयी थी। 1935 के एक्ट के अनुसार 14 प्रतिषत लोगों को मताधिकार दिया गया था और उसी आधार पर चुनी गयी प्रान्तीय विधानसभाओं ने संविधानसभा को चुना था । इसलिए संविधानसभा का प्रत्यक्ष और सीमित मताधिकार के आधार पर चुनाव हुआ था। मुस्लिम लीग ने 1946 के चुनावों में मुसलमानों की अधिकांष सीटें प्राप्त की ली थीं परन्तु इसने संविधानसभा में भाग लेने से इनकार कर दिया था और प्रथक् संविधानसभा की मांग की गयी थी जो पाकिस्तान के बनने के बाद स्वीकार कर ली गई थी । मन्त्रिमंडल मिषन योजना के अनुसार ब्रिटिष सरकार ने सर्वोच्चता (च्तंउवनजमल) स्वतन्त्रता के बाद अपने पांस नहीं रखनी थी परन्तु यह केंद्रीय सरकार को भी नहीं दी जानी थी और देषी रियासतों को वापस लौट जानी थी, इसलिए बहुत–सी देषी रियासतें अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता का स्वप्न देखने लगीं और वे संविध् ाानसभा में अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए आनाकानी करने लगीं। बाद में सरदार बल्लभ भाई पटेल ने इस अत्यन्त जटिल समस्या को बड़ी कठिनता से सुलझाया और रियासतों ने अपने प्रतिनिधि भेजने स्वीकार कर लिए और इस संविधानसभा को भी स्वीकार कर लिया ।

9 दिसम्बर, 1946 ई. को संविधानसभा ने अपने सबसे बयोवष्द्ध सदस्य सच्चिदानन्द सिन्हा के अस्थाई सभापतित्व में मिली। 11 दिसम्बर, 1946 ई. को डा० राजेन्द्र प्रसाद इस संविध् ाानसभा के स्थायी अध्यक्ष चुने गए। संविधान के निर्माण के लिए अनेक उप–समितियाँ ́(नइ ब्वउउपजजमम) बनाई गई और एक प्रारूप समिति (क्तंजिपदह ब्वउउपजजमम) नियुक्त की

गई जिसके अध्यक्ष डा० अम्बेडकर थे। इन सब कमेटियों की रिपोर्ट के बाद प्रारूप समिति

ने संविधान को तैयार किया और संविधान सभा के सामने पेष किया। इसके सदस्यों ने फिर प्रत्येक धारा पर विचार करना षुरू किया और जहाँ–जहाँ आवष्यकता समझी, इसमें संषोध् ा न पेष किए। नया संविधान 26 नवम्बर, 1949 ई. तक बनकर तैयार हो गया और इसे 26 जनवरी, 1950 ई0 को लागू किया गया। चूँकि 26 जनवरी 1930 ई. को देषवासियों ने कॉंग्रेस के नेतृत्व में भारत को पूर्ण स्वतन्त्र कराने की प्रतिज्ञा की थी, इसलिए 26 जनवरी, 1950 को . संविधान को लागू किया गया ताकि यह दिवस सदा उस प्रतिज्ञा की पूर्ति का प्रतीक बना

रहे। इसके बाद हम इस संविधान की विषेशताओं का वर्णन करते हैं।

भारतीय संविधान की विषेशताएँ ́(सपमदज थ्मंजनतमे वि प्दकपंद ब्वदेजपजनजपवद)

प्रस्तावना हमारे संविधान के आरम्भ में एक प्रस्तावना दी गई है, जिसमें संविध आन के उद्देष्यों पर प्रकाष डाला गया है। यह निम्नलिखित है– हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य ́(वअमतमपहद क्मउवबतंजपब त्मचनइसपब) बनाने तथा इसके सब नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार रखने तथा प्रकट करने, विष्वास, धर्म और पूजा की स्वतंन्त्रता, प्रतिश्ठा व अवसर की समता, प्राप्त कराने और उन सबमें व्यक्ति का मान और राश्ट्र की एकता निष्चित करने वाली बन्ध् ाुता को बढ़ाने के लिए दृढ़ – संकल्प होकर अपनी इस संविधानसभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. को इस संविधान को अपनाते हैं।

हमारे संविधान की निम्नलिखित विषेशताएँ हैं–

हमारे 1. सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना संविधान की प्रस्तावना में यह स्पष्ट घोशित है कि भारत में सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की

स्थापना हो गई है। इसका यह अर्थ है कि अब भारत पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गया है और किसी भी बाहरी सत्ता के अधीन नहीं रहा है। इसके अतिरिक्त भारत में पूर्ण लोकतन्त्र की स्थापना हो गई है। सरकार प्रत्येक पाँच वर्श के बाद चुनाव करवाती है। इस चुनाव में 18 वर्श या अधिक आयु वाले प्रत्येक नर–नारी को वोट का अधिकार है, चाहे वह सम्पत्तिवान हो अथवा निर्धन, षिक्षित हो अथवा अषिक्षितं । भारत में कई आम चुनाव हो चुके हैं। जिस पार्टी को बहुमत प्राप्त हो जाता है, उसी की सरकार बनती है इससे स्पश्ट सिद्ध होता है कि जनता षक्ति की वास्तविक स्रोत है सरकार संसद के प्रति उत्तरदायी भी रहती है । सब भेद–भाव को समाप्त कर दिया गया है। जनता को मौलिक अधिकार दिये गए हैं और उनकी रक्षा के लिए स्वतंन्त्र न्यायापालिका की स्थापना की गई है, इससे सिद्ध होता है कि हमारे देष में पूर्ण लोकतन्त्र की स्थापना हो गई है साथ ही, हमारे देष में गणराज्य (त्मचनइसपब) की स्थापना हो गई है। इसका अर्थ यह है कि हमारे देष के मुखिया का पद पैतृक नहीं होगा, बल्कि वह जनता के प्रतिनिधियों द्वारा चुना जाएगा। हमारा राश्ट्रपति संसद तथा विधानसभाओं द्वारा चुना जाता है और हमारे देष में राजतन्त्र (डवदंतबील) समाप्त हो गया है ।

2. लिखित तथा निर्मित संविधान – हमारे संविधान की यह दूसरी विषेशता है कि यह लिखित है, इसलिए हमारा संविधान ब्रिटिष संविधान से भिन्न है जो कि अलिखित है. ब्रिटिष संविधान विकसित (म्अवसअमक) है और हमारा संविधान निर्मित है क्योंकि इसकों संविध्ाानसभा ने बड़े परिश्रम से बनाया हैं ब्रिटिष संविधान (थ्समगपइसम) है परन्तु हमारा संविध्ा न कठोर (तपहपक) है। हमारा संविधान अमेरिकन संविधान से कम कठोर हैं क्योंकि हमारे देष में संविधान के संषोधन का तरीका इतना कठिन नहीं हैं जितना कि अमेरिकन संविधान में है। हमारे देष में संविधान की बहुत सी धाराओं को संसद में उपस्थित और मतदान देने वाले

सदस्यों के 2ध्3 बहुमत से और कुल संख्या के स्पश्ट बहुमत से संषोधित किया जा सकता है, कुछ धाराएँ ऐसी भी हैं जो राज्यों को प्रभावित करती हैं, उनमें संसोधन हेतु कम से कम आधे राज्यों की विधानसभाओं की स्वीकृति भी लेनी पड़ती है।

3. विषाल एवं विस्तष्त संविधान है भारत के संविधान की आलोचना करते हुए सर आइवर जैनिंग्स ने कहा कि ''यह विष्व का सबसे विषाल संविधान है।'' किन्तु यदि हम उस समय की राजनैतिक परिस्थितियों तथा संविधान निर्माताओं की अन्य कठिनाइयों को देखें, तो मालूम होगा कि संविधान की अधिक लम्बाई और विस्तार के अनेक कारण थे और सर आइवर जैनिंग्स की आलोचना ठीक नहीं है। हमारे संविधान की लम्बाई का मुख्य 'कारण यह था कि इसमें न केवल केन्द्रीय बल्कि प्रान्तीय सरकार के ढ़ाँचे और षक्तियों का भी वर्णन हैं अन्य देषों में या तो केंद्रीय सरकार की षक्तियों का वर्णन कर दिया जाता है और षेश षक्तियाँ प्रान्तों को दे दी जाती हैं या प्रान्तीय सरकारों की षक्तियों का वर्णन कर दिया जाता है और षेश षक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को दे दी जाती हैं।

संविधान की अधिक विषालता का दूसरा कारण यह है कि इसमें हरिजनों, पिछड़ी हुई जातियों और कबीलों के लिए विषेश व्यवस्था है संविधान की लम्बाई का तीसरा कारण यह है कि इसमें न केवल मौलिक अधिकारों बल्किं राज्य के नीति के निर्देषक सिद्धान्तों का भी वर्णन है । आयरलैंड को छोड़कर अन्य देषों के संविधानों में राज्य के नीति–निदेषक सिद्धान्तों (क्पतमबजपअम च्तपदबपचसमे वльвजंजम च्वसपबल) का वर्णन नहीं है। आयरलैण्ड को छोड़कर अन्य देषों के संविधान में राज्य की नीति के निदेषक सिद्धान्तों का वर्णन नहीं है। संविधान की विषालता का चौथा कारण यह है कि इसमें केंद्र तथा राज्यों में सम्बन्धों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसकी विषालता का पाँचवा कारण यह हैं कि इसमें राश्ट्रपति की संकटकालीन षक्तियों का वर्णन किया गया है। इसकी विषालता का छठा कारण यह है कि इसमें कई षासन सम्बन्धी व्यवस्थाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसकी विषालता का सातवाँ कारण यह है कि इसमें न केवल उच्चतम न्यायालय (नचतमउम ब्वनतज), बल्कि उच्च न्यायालयों (भ्पही ब्वनतजे) की षक्तियों और ढ़ाँचे का

विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसकी विषालता का आठवाँ कारण यह है कि इसमें सार्वजनिक सेवाओं, लोकसेवा आयोग (च्नइसपब ैमतअपबम ब्वउउपेपवद), चुनाव कमीषन तथा वित्तआयोग (थ्पदंदबम ब्वउउपेपवद) इत्यादि की षक्तियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसकी विषालता का नौवाँ कारण है कि इस संविधान को प्रायः 1935 के ऐक्ट के अनुसार ढाला गया है। श्रीनिवासन ने ठीक कहा है कि ''हमारा नया संविधान 1935 के भारतीय अधिनियम (।बज) के समान ही न केवल एक संविधान है बल्कि एक विस्तृत कानून संहिता (स्महंस ब्वकम) भी है जिसमें देष की सारी वैधानिक और षासन सम्बन्धी समस्याओं पर प्रकाष डालने का प्रयत्न किया गया है।''

हमें याद रखना चाहिए कि जिस समय हमारा संविधान बन रहा था, उस समय देष में बहुत उथल–पुथल हो रही थी इसलिये संविधान के निर्माताओं ने कोई भी षासन संम्बन्ध बात केवल परम्पराओं के आधार पर छोड़ना नहीं चाहते थे बल्कि प्रत्येक बात को लिखना चाहते थे। डाक्टर भीमराव अम्बेडकर संविधानसभा की प्रारूप समिति (क्तंजिपदह ब्वउउपजजमम) के चेयरमैन (सभापति) थे। जब उनके सामने इसकी विषालता के बारे में आपत्ति की गई, तो उन्होंने अपना स्पश्ट उत्तर निम्नलिखित षब्दों में दिया, "संविधान के स्वरूप को प्रषासन को स्वरूप से घनिश्ठ सम्बन्ध होता है। सम्भव है कि हमारे प्रषासक संविधान का अर्थ ही गलत लगायें। हमको समझ लेना चाहिए कि हमारी सर्वसाधारण जनता को भी संविधान के अर्थ को ग्रहण करने में कुछ समय अवष्य लगेगा। भारत में सर्वत्र लोकतन्त्र की कमी है,

केवल ऊपरी सतह पर ही कुछ, लोकतंत्र का आभास मात्र मिलता है, अतः यही षुभ है कि हम भविश्य के विधायकों (स्महपेसंजवते) के ऊपर षासन व्यवस्था का स्वरूप न छोड़ें। इसलिए हम चाहते हैं कि संविधान में प्रषासन सम्बन्धी विस्तृतं आदेष अभी से दे दिये जाएँ।''

4. संसदीय षासन के. सी ह्वेयर (ज्ञ. ब्. ॅीमंतम) ने लिखा है कि भारत का संविधान लोकतन्त्रात्मक है। हमारे संविधान निर्माताओं की यह बड़ी भारी इच्छा थी कि भारत में पूर्ण लोकतन्त्र स्थापित किया जाय ! जब संविधानसभा में यह प्रष्न उत्पन्न हुआ कि भारत में कौन–सी सरकार अपनायी जाय, तो संविधानसभा ने बहुमत से यह निर्णय किया किं भारत में संसदीय सरकार अपनायी जाय। संसदीय सरकार की यह विषेशता होती है कि इसमें मन्त्रिमंडल के हाथ में सारी कार्यकारी षक्तियाँ होती हैं और गणराज्य के अध्यक्ष के पास नाम मात्र की षक्तियाँ होती हैं। इस पद्धति में मन्त्रिमण्डल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। इसका यह अर्थ है कि लोकसभा मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध काम रोको प्रस्ताव, अविष्वास प्रस्ताव तथा निन्दा प्रस्ताव पास कर सकती है और प्रष्न तथा पूरक प्रष्न पूछ सकती है । यद्यपि भारत में अमेरिका की तरह राश्ट्रपति को संसद को संन्देष भेजने और बिलों पर निशेध ाधिकार (टमजव) का प्रयोग करने का अधिकार है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारत में अध्यक्षात्मक सरकार (च्तमेपकमदजपंस ळवअमतदउमदज) अपनायी गई है। अध यक्षात्मक सरकार में सारी कार्यकारी षक्तियाँ राश्ट्रपति के हाथ में होती हैं, मन्त्रिमंडल केवल परामर्षदात्री समिति होता है और राश्ट्रपति अपने षासन सम्बन्धी क्रिया–कलापों और नीतियों के लिए पार्लियामेंट की तरफ उत्तरदायी नहीं होता है क्योंकि ऐसी पद्धति में षक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त (जैमवतल वि मिचंतंजपवद वि चिवूमत) प्रचलित होता है। अमेरिका में इसी प्रकार की पद्धति प्रचलित है। हमने संसदीय पद्धति का मॉडल इंग्लैंड से अपनाया है। इसका पहला कारण तो यह था कि हमारे संविधान निर्माता इस पद्धति से पूरी तरह परिचित थे क्योंकि इस पद्धति की नींव भारत में 1862 के ऐक्ट के अनुसार रख दी गई थी और 1909, 1919 तथा 1935 के ऐक्ट में इसका काफी विस्तार किया गया था । अध्यक्षात्मक पद्धति की बजाय, संसदीय पद्धति के अपनाने का दूसरा कारण डाक्टर अम्बेडकर ने यह बताया कि "इसमें उत्तरदायित्व तथा स्थिरता (त्मेचवदेपइपसपजल ंदक ेजंइपसपजल) दोनों पाई जाती हैं।'' जबकि अध्यात्मक सरकार में केवल स्थिरता तो पाई जाती है परन्तु उत्तरदायित्व नहीं पाया जाता है।

5. अनेक स्रोतों से तैयार महान् लेख है : हमारे संविधान–निर्माता संसार के सब संविधानों के अच्छे सिद्धान्तों और अनुभवों से सीखने के लिए उत्सुक थे, इस प्रवृत्ति को वे राश्ट्रीय

मान के विरुद्ध नहीं समझते थे। एम. पी. षर्मा ने ठीक ही कहा है कि ''हमारे संविध न के निर्माताओं ने कभी यह दावा नहीं किया था कि वे कोई मौलिक अद्भुत संविधान खोज निकालेंगे। वे तो एक अच्छा और कामचलाऊ संविधान बनाना चाहते थे।'' हमारे संविधान निर्माताओं ने संसदीय षासन पद्धति इंग्लैंड से ली हैं। मौलिक अधिकार और सुप्रीम कोर्ट की कार्य पद्धति पर अमेरिका का स्पश्ट प्रभाव दृश्टिगोचर होता है। राज्य के नीति–निदेषक सिद्धान्त आयरलैण्ड के संविधान से लिये गए हैं। भारतीय संघ को अधिकतर कैनेडा के ढंग पर ढाला गया है क्योंकि षेश षक्तियाँ दोनों में केंद्र को दी गई हैं। कैनेडा के अतिरिक्त दक्षिणी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के संविधानों का भी हमारे संविधान पर काफी प्रभाव है। उदाहरणस्वरूप, संविधानों में संषोधन की पद्धति और राज्यसभा की निर्वाचन पद्धति पर दक्षिणी अफ्रीका के संविधान का स्पश्ट प्रभाव दृश्टिगोचर होता है। भारत के राश्ट्रपति को संकटकालीन अवस्था में संविधान के स्थगित करने की जो षक्तियाँ दी गई हैं, वे जर्मनी के संविधान से मिलती जुलती हैं।

5. आप किस आधार पर विचार व्यक्त कर सकते है कि भारतीय संविधान में एकात्मक तत्वं हैं? केवल उन प्रमुख तत्वों के नाम लिखें, जो इस विचार को आधार देते हैं?

ऊपर लिखे विदेषी प्रभावों के अतिरिक्त भारतीय संविधान पर सबसे अधिक प्रभाव 1935 के ऐक्ट का पड़ा। जैनिंग्ज के मतानुसार, ''भारतीय संविधान 1935 के अधिनियम (ऐक्ट) से बहुत प्रभावित है। यहाँ तक कि इस संविधान के अनेक उपबन्ध (च्तवअपेपवदे) ज्यों के त्यों 1935 के अधिनियम की नकल मात्र हैं।'' उदाहरणस्वरूप, हमारे नए संविधान के अनुच्छेद (।तजपबसमे) 352 तथा 353 जिनके अनुसार राश्ट्रपति को संकटकालीन षक्तियाँ दी गई हैं, भारत सरकार के 1935 के अधिनियम के सैक्षन 102 से बिलकुल मिलते–जुलते हैं। हमारे नए संविधान का अनुच्छेद 356 जिसके अनुसार राज्य में संवैधानिक संकट की घोशणा की जा सकती है, 1935 ऐक्ट के सैक्षन 93 से मिलता–जुलता है। भारतीय संविधान में केन्द्र तथा राज्यों में षक्तियों के बँटवारे के लिए जो तीन सूचियाँ बनाई गई हैं, उन पर भी 1935 के ऐक्ट की स्पश्ट छाप दिखाई देती है। श्रीनिवासन महोदय ने तो यहाँ तक कहा है कि ''हमारे नये संविधान की भाशा और सारांष, दोनों की दृश्टि से 1935 के ऐक्ट की नकल कहना भी उचित होगा।'' डाक्टर पंजाबराव देषमुख ने भी कहा है कि हमारा नया संविध ाान निस्सन्देह 1935 का अधिनियम ही है, केवल उसमें पूर्ण वयस्क मताधिकार और बढ़ा दिया गया है।'' देषमुख के कथन में काफी अत्युक्ति है।

हमारा संविधान वास्तव में 1935 के ऐक्ट की नकल नहीं है। इसमें अनेक नई बातें दी गई हैं, इसलिए इनकों केवल 1935 के ऐक्ट की कापी कहना अनुचित होगा। 1935 के ऐक्ट में राज्य की नीति–निर्देषक सिद्धान्त, मौलिक अधिकार तथा कई अन्य बातें नहीं थीं। हमारे नये संविधान में साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली का कोई स्थान नहीं है, हालाँकि 1935 के ऐक्ट में इसको विषेश स्थान प्राप्त था ।

6. मौलिक अधिकार

व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए मौलिक अधिकारों की परम आवष्यकता होती है, इसलिए रूस, अमेरिका, चीन, फ्रांस तथा कई अन्य देषों के संविध नों में लोगों को मौलिक अधिकार दिए गए हैं। भारत के संविधान के अनुसार भी लोगों को मौलिक अधिकार दिए गए हैं। हमारे संविधान के अनुसार लोगों को समानता, स्वतन्त्रता, ध धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार, सांस्कृतिक तथा षिक्षा सम्बन्धी अधिकार, षोशण के विरुद्ध अधि कार और सम्पत्ति के अधिकार दिए गए हैं। हमारे देष में 21 वर्श के प्रत्येक नर नारी को वोट का अधिकार दिया गया है और साम्प्रदायिक चुनाव–प्रणाली को समाप्त कर दिया गया है। श्रीनिवासन ने लिखा है कि पूर्ण वयस्क मताधिकार की स्थापना और साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति की समाप्ति के कारण नए संविधान को प्रगतिषील कहा गया है। सत्य यह हैं कि ऊपर लिखी हुई दोनों बातें ही नए संविधान की महान् और क्रांतिकारी विषेशताएँ हैं।'' छुआछूत को कानूनी तौर पर बिल्कुल खत्म कर दिया गया है और बेगार (थ्वतबमक संइवनत) की मनाही कर दी गई है। चौदह वर्श से कम आयु के बच्चों को फैक्टरियों में नौकर नहीं रखा जा सकता। अल्पसंख्यक वर्गों

(डपदवतपजपमे) को अपनी अलग षिक्षा संस्थाओं को चलाने का भी अधिकार दिया गया है।

7. नीति–निदेषक सिद्धान्त राज्य के नीति–निर्देषक सिद्धान्त सरकार लिए एक प्रकार के आदर्ष या हिदायतें हैं जिन पर चल इसलिए आवष्यक है ताकि भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो सके। नीति–निर्देषक सिद्धान्त लोगों के अधिकार नहीं हैं और इनको कोर्ट द्वारा लागू नहीं करवाया जा सकता। ये तो केवल प्रत्येक दल की सरकार द्वारा लोकमत के भय से माने जाते हैं। हमारे संविधान के इन सिद्धान्तों में लिखा है कि राज्य अपनी आर्थिक व्यवस्था इस तरह से चलाएगा कि थोड़े से पूँजीपतियों के हाथ में धन केन्दित (इकट्ठा) न हो ताकि जन कल्याण में कोई बाधा उपस्थित न हो। राज्य समान दीवानी और फौजदारी कानून बनायेगा। राज्य स्त्री और पुरुश मजदूरों को समान कार्य के लिए समान वेतन दिलवायेगा।

हमारे राज्यनीति के निर्देषक सिद्धान्तों में यह भी लिखा है कि राज्य ग्राम पंचायतों की संगठन करेगा और लोगों को काम–धन्धा दिलवाने का यत्न करेगा। राज्य ऐसा प्रबन्ध करेगा कि मजदूर पुरुशों और स्त्रियों तथा बच्चों को आर्थिक संकट से विवष होकर ऐसे कार्य न करने पड़ें, जो उनकी आयु और स्वास्थ्य के अनुकूल न हों। राज्य न्यायपालिका और कार्यपालिका को अलग–थलग करने की कोषिष करेगा। राज्य लोगों के आर्थिक स्तर को ऊँचा करेगा तथा कृशि और पषुपालन को आधुनिक ढंग से संगठित करेगा। राज्य हरिजनों, पिछड़ी हुई जातियों और कबीलों की भलाई के लिए कानून बनाएगा। राज्य बुढ़ापे, बीमारी और षरीर के अंगों के बेकार हो जाने पर नागरिकों की उचित सहायता करेगा।

8. धर्म–निरपेक्ष राज्य की स्थापना – वेंकटरमन के षब्दों में, ''भारतीय राज्य न तो धार्मिक है न अधार्मिक और न ही धर्मविरोधी, किन्तु यह धार्मिक संकीर्णताओं तथा वृत्तियों से बिल्कुल दूर है और धार्मिक मामलों में तटस्थ है।'' अतः धर्म–निरपेक्ष राज्य का यह अर्थ नहीं कि राज्य धर्म विरोधी गतिविधियों (।दजप तमसपहपवने बजपअपजपमे) को प्रोत्साहित करेंगा जैसा कि सोवियत संघ में होता है। इसका अर्थ यह भी नहीं कि राज्य नास्तिक है। इसका केवल यही अर्थ है कि भारत में कोई राजधर्म (जंजम.तमसपहपवद) नहीं होगा। चूँकि भारत में अनेक सम्प्रदाय और मत–मतान्तर हैं, इसलिए भारत में राज्य द्वारा किसी विषेश धर्म को मान्यता देना अच्छा नहीं समझा गया। इस सम्बन्ध में प्रोफैसर लास्सकी का विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है कि यदि राज्य किसी विषेश धर्म को मान्यता दे देता है, तो उसके अनुयायियों को किसी न किसी रूप में कोई विषेश अधिकार अवष्य ही प्राप्त हो जाता है। अतः भारत में धार्मिक मामलों में राज्य तटस्थ रहेगा और किसी भी धर्म का पक्षपात नहीं करेगा और न ही धार्मिक आधार पर सरकारी नौकरियों तथा किसी अन्य क्षेत्र में कोई भेद भाव दिखायेगा ।

9. एकता को दृढ़ करने वाला संविधान (प्जे जतमदहजीमदे वनत दंजपवदंस नदपजल) हमारे संविधान में एकता को दृढ़ करने के लिए बहुत से उपाय अपनाए गए हैं। उदाहरणस्वरूप, राश्ट्रपति को संकटकालीन घोशणा करने का अधिकार दिया गया है। इस अवस्था में केंद्रीय सरकार को राज्यों पर इतना नियन्त्रण (ब्वदजतवस) स्थापति हो जाएगा कि भारत में एक प्रकार से संघात्मक सरकार की बजाय एकात्मक सरकार स्थापित हो जाएगी। एकता को सुदृढ़ करने के लिए भारत में दोहरी नागरिकता की बजाय एंकहरी नागरिकता स्थापित की गई है। भारत की एकता कसे सुदृढ़ करने के लिए केन्द्रीय सरकार को बलवान बनाना बहुत आवष्यक था। प्राचीन और मध्यकाल में जिस समय केन्द्र निर्वल हो जाता था, तो उस समय प्रान्त अपनी स्वतंत्रता घोशित कर देते थे, ऐसी दुर्घटना से भारत को बचाने के लिए संविधान में कई उपायों का प्रयोग किया गया । प्रान्तों (राज्यों) को भारतीय संघ से अलग होने की आज्ञा नहीं दी गई और केंद्र को उनकी अपेक्षा अधिक कानूनी, षासन– सम्बन्ध और आर्थिक षक्तियाँ दी गई। एकता को सुदृढ़ करने के लिए हिन्दी

सारे भारतवर्श की राजभाशा घोशित की गई और एक सुप्रीम कोर्ट तथा अखिल भारतीय प्रषासनीय सेवा (।सस प्दकपं ।कउपदपेजतंजपअमे`मतअपबमे) की स्थापना की गई।

10. स्वतन्त्र न्यायपालिका तथा अन्य स्वतंन्त्र अभिकरणों की स्थापना हमारे नए संविधान में न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाने के लिए बड़ा यत्न किया गया है। इस हेतु उसकी योग्यताएँ नियुक्ति का ढंग तथा वेतन संविधान में निष्चित किए गए हैं ताकि सरकार या पार्लियामेंट के सदस्य उनके वेतन में कटौती की धमकी देकर उन पर अनुचित दबाव न डाल सकें। न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग करने की कोषिष की गई है। सारे देष में एक जैसे दीवानी और फौजदारी कानून स्थापित किए गए हैं।

लोकतन्त्र को सुदृढ़ करने के लिए समय समय पर निश्पक्ष चुनाव कराने बहुत ही आवष्यक हैं, इसलिए भारत में स्वतन्त्र चुनाव आयोग की स्थापना की गई है। नियन्त्रक और महालेखापरीक्षक को सरकार के अधीन नहीं रखा गया और उसको केवल पार्लियामेंट ही विषेश बहुमत से हटा सकती है। इसके अतिरिक्त संविधान में लोकसेवा आयोग की व्यवस्था की गई है, ताकि भारत में सरकारी नौकरियों के लिए निश्पक्ष रूप से योग्य व्यक्ति चुने जा सकें। लोक सेवा आयोग की सिफारिषों के पर ही सरकार नियुक्तियाँ करती है। लोक सेवा आयोग के सदस्यों की सेवा को सुरक्षा प्रदान की गई है ताकि वे निर्भीक होकर निश्पक्ष रूप से अपना कार्य कर सकें।

11. कठोरता और लचीलेपन का अपूर्व मिश्रण ब्राइस और डायसी ने संविध पनों का वर्गीकरण किया है। वे उन संविधानों को लचीला (थ्सम•पइसम) मानते हैं जिनको संसद (पार्लियामेंट) साधारण कानूनों की भाँति सादा बहुमत से बदल सकती है। उनके मतरनुसार वे संविधान कठोर हैं जिनको बदलने के लिये एक विषेश प्रक्रिया होती है। भारत का संविध ा आन न तो इतना लचीला है जितना कि ग्रेट ब्रिटेन का और न ही इतना कठोर है जितना संयुक्त राज्य अमेरिका का । भारतीय संविधान के निर्माता यह चाहते थे कि संविधान इतना कठोर न बन जाए कि उसको बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार संषोधित न किया जा सके और न ही यह इतना लचीला बन जाए कि सत्तारूढ़ दल इसको एक खिलौना समझ और अपने हितों की सिद्धि के लिए इसको बार बार संषोधित कर ले। अतः उन्होंने बीच का मार्ग अपनाया ।

हमारे संविधान की बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनको पार्लियामेंट केवल सादा बहुमत से भी बदल सकती है। उदाहरणस्वरूप, राश्ट्रपति की सिफारिषों पर पार्लियामेंट दो या दो से अधिक राज्यों की सीमाओं में तब्दीली करके नया राज्य बना सकती है या किसी भी राज्य को खत्म कर सकती है अथवा उसके नाम को बदल सकती है। किसी भी राज्य के क्षेत्रफल को घटाने, बढ़ाने और उसमें किसी प्रकार की भी तब्दीली करने का अधिकार हमारी पार्लियामेंट को है। इसके अतिरिक्त पार्लियामेंट राज्यों और कंेन्द्र के लिए किसी भी साझी अखिल भारतीय सेवा की उत्पप्ति कर सकती है। इसी तरह पार्लियामेंट ने 1965 के बाद भी अंग्रेजी का केन्द्रीय षासन में प्रयोग जारी रखा है। यहाँ पर हमारा संविधान ग्रेट ब्रिटेन के संविध ाान की तरह ही लचीला है।

संविधान में बहुत—सी ऐसी धाराएँ और भी हैं। उदाहरणार्थ, यदि विधानसभा कुल संख्या के स्पश्ट बहुमत से और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से विधान परिषद् की उत्पत्ति या समाप्ति के लिए प्रस्ताव पास कर दे तो पार्लियामेंट विधान परिशद् को विधानसभा के प्रस्ताव के अनुसार उत्पन्न या समाप्त कर देगी। हमारे संविधान की अनेक धाराएँ ऐसी हैं जिनको तब्दील करने के लिए उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो—तिहाई बहुमत और कुल संख्या के स्पश्ट बहुमत की आवष्यकता हैं, परन्तु जहाँ पर संविधान की धाराएँ राज्यों से सम्बन्धित हैं या उनको प्रभावित करती हैं, उनको पार्लियामेंट द्वारा संविधान के संषोधन हेतु कम से कम आधे राज्यों का समर्थन भी प्राप्त करना पड़ता हैं उदाहरणस्वरूप, उपराश्ट्रपति के चुनाव में राज्य भाग नहीं लेते हैं, अतः

.उसकी चुनाव पद्धति में पार्लियामेंट कुल संख्या के स्पश्ट बहुमत तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से तब्दीली कर सकती है परन्तु राश्ट्रपति के चुनाव में चूँकि राज्य भी भाग लेते हैं, इसलिए वहाँ पर राश्ट्रपति की चुनाव पद्धति में पार्लियामेंट को ऊपर लिखे हुए तरीके से तब्दीली करने के बाद कम से कम आधे राज्यों का समर्थन भी प्राप्त करना पड़ेगा। इसी प्रकार, यदि पार्लियामेंट केंन्द्र और राज्यों में षक्तियों के बंटवारे में या राज्यों के पार्लियामेट में प्रतिनिधित्व में कोई परिवर्तन करना चाहे, तो उसे कम से कम आध

राज्यों की मंजूरी लेनी पड़ेगी ।

राश्ट्रपति की संकटकालीन घोशणा के समय हमारा संविधान व्यवहार में संघात्मक की बजाय बहुत आसानी से एकात्मक बन सकता है। यह संविधान का सबसे बड़ा लचीलापन है। इसके अतिरिक्त यदि राज्यसभा दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दे कि कोई विशय जो पहले राज्य सूची में था, अब वह राश्ट्रीय महत्व का बन गया है, तो पार्लियामेंट उस विशय पर भी एक वर्श तक कानून बना सकती है। इन बातों से स्पश्ट सिद्ध होता है कि कुछ धाराओं को छोड़कर जिनमें कम से कम आधे राज्यों के समर्थन की आवष्यकता है, पार्लियामेंट प्रायः सादा बहुमत से या कुल संख्या के स्पश्ट बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से संविधान में संषोधित कर सकती है। इसलिए हम हवीयर के इस मत से सहमत हैं कि भारत के संविधान—निर्माताओं ने आसानी से तब्दील होने वाले संविधानों तथा बहुमत कठिनाई से तब्दील होने वाले संविधानों के बीच का मार्ग अपनाया है।

''12. यह संघात्मक षासन की स्थापना संविधान में भारत को राज्यों का संघ कहा गया है। भारत में एकात्मक सरकार की बजाय संघात्मक सरकार स्थापित की गई है। भारत में इस हेतु षक्तियों का बँटवारा केंद्र और राज्यों में किया गया है। षक्तियों के बँटवारे के लिये तीन सूचियाँ बनाई गई हैं। संघ—सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। संघ—सूची पर केवल पार्लियामेन्ट कानून बना सकती है, राज्य सूची पर राज्यों के विध नमण्डल और समवर्ती सूची पर केन्द्र तथा राज्य दोनों कानून बना सकते हैं।

भारतीय संघ का एकात्मकता की तरफ झुकाव

प्रोफेसर डी. एन. बनर्जी का विचार है कि भारतीय संविधान का रूप एकात्मकता की व्यवस्था सहित संघीय है। इसी प्रकार दुर्गादास वसु का विचार है कि भारत का संविधान. न तो पूर्णरूप से एकात्मक है ओर न ही पूर्णरूप से संघात्मक हैं बल्कि दोनों का सम्मिश्रण है। के. सी. हवीयर का विचार है कि ''भारत मुख्यतः एकात्मक राज्य है जिसमें संघीय विषेशताएँ नाम मात्र की हैं।'' उनके विचार में भारत का संविधान संघीय कम है और एकात्मक अधि ाक।'' डाक्टर के. सी. हवीयर का विचार ठीक नहीं है। वास्तविकता यह है कि इसमें सन्देह नहीं कि भारत में संघात्मक सरकार की व्यवस्था की गई है, परन्तु इसमें कुछ एकात्मक तत्व भी हैं। इसमें निम्नलिखित संघात्मक तत्व (मिकमतंस मसमउमदजे) मौजूद हैं :

1. षक्तियों का बँटवारा — संघात्मक सरकार की यह विषेशता होती है कि इसमें षत्तिायों का बँटवारा होता है। संघात्मक सरकार केवल वहीं बनती है जहाँ राज्य स्वतंत्र हों और वे अपनी सारी षक्तियाँ केंन्द्रीय सरकार को न देना चाहें और कुछ षक्तियां अपने पास रखना चाहें। यदि ये राज्य अपनी सारी षक्तियाँ केंन्द्रीय सरकार को देना चाहते, तो वहाँ फिर संघात्मक की बजाय एकात्मक सरकार स्थापित हो जाती हैं। जिस समय भारत स्वतंन्त्र हुआ, तो अंग्रेजों ने देषी रियासतों को स्वतन्त्र कर दिया और उनकी सर्वोच्चता को केंद्रीय सरकार को नहीं दिया । इसलिए बहुत सी रियासतें भारतीय संघ में मिलने के लिए भी तैयार नहीं थीं। सरदार बल्लभभाई पटेल ने जो उस समय रियासती मामलों के मंत्री थे, बड़ी कठिनता से देषी रियासतों को केवल तीन विशय प्रतिरक्षा, विदेषों से सम्बन्ध — और यातायात देने के लिए सहमत किया, इसके बाद धीरे—धीरे उन्होंने देषी रियासतों को आध ा निक संविधान को मानने के लिए राजी कर लिया। अतः जिस समय हमारा संविधान बना,

उस समय देष में ऐसी परिस्थिति नहीं थी कि एकात्मक सरकार स्थापित की जा सकती, इसलिए भारत में संघात्मक सरकार की स्थापना की गई। कार्यों का बँटवारा करने के लिये तीन सूचियाँ बनाई गईः संघ–सूची, समवर्ती सूची और राज्य–सूची । संघ–सूची पर केवल पार्लियामेंट कानून बना सकती है, समवर्ती सूची पर दोनों कानून बना सकते हैं और

राज्य – सूची पर प्रायः राज्य का विधानमण्डल कानून बना सकता है।

2. लिखित तथा कठोर संविधान और इसका सर्वोच्च माना जाना संघात्मक सरकारी की दूसरी विषेशता यह होती है कि उसमें संविधान लिखित तथा कठोर होता है ताकि भविश्य में केन्द्रीय सरकार और राज्यों की सरकारों में झगड़े की गुंजाइष न रहे । केन्द्र और राज्य दोनों ही संविधान को सर्वोच्च कानून (नचतमउम ︎ूं) मानते हैं और उसे ही अपनी षक्तियों का स्रोत तथा आधार मानते हैं। भारत में लिखित तथा कठोर संविध

न है और इसे ही सर्वोच्च कानून माना जाता है।

3. सुप्रीम कोर्ट की विषेश स्थिति – संघात्मक सरकार की तीसरी विषेशता यह होती हैं कि उसमें सुप्रीम कोर्ट होती है जो केंन्द्र तथा राज्यों के झगड़ी का निर्णय करती है। सुप्रीम कोर्ट संविधान की रक्षक मानी जाती है और उसकी व्याख्या करती है। भारत में.

सुप्रिम कोर्ट की ऐसी स्थिति है। यहाँ पर सुप्रीम कोर्ट केन्द्र और राज्यों के बीच में संवैधानिक झगड़ों के निर्णय करती है और संविधान की रक्षा करती है। यह देखती है कि केन्द्र तथा राज्य कोई भी कार्य संविधान के विरुद्ध न करें। यदि केन्द्र अथवा राज्य कोई कानून संविध ा न के विरुद्ध बना दें, तो सुप्रीम कोर्ट उसको रद्द कर देती है। हमारी सुप्रीम कोर्ट ने ऐसे कई कानून रद्द किए हैं।

अतः ऊपर लिखी हुई बातों से सिद्ध होता है कि भारत में संघात्मक सरकार की सभी विषेशताएँ पाई जाती है, परन्तु संघात्मक सरकार एकात्मक सरकार की अपेक्षा निर्बल होती है । अतः भारत में संघात्मक सरकार के दोशों को दूर करने की पूरी कोषिष की गई है और केन्द्र को बलषाली बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया है, क्योंकि प्राचीन और मध्य काल में जिस समय भारत में बलषाली केन्द्र नहीं रहा, उसी समय सारे देष में अव्यवस्था फैल गई. छोटे–छोटे राज्यों ने अपनी स्वतंन्त्रता की घोशणा कर दी, भारत की राजनैतिक एकता नश्ट हो गई, इस पर विदेषी आक्रमण आरम्भ हो गए और हमारी स्वतन्त्रता नश्ट हो गई। भारत के इतिहास में दासता का जो लम्बा युग दिखाई देता है, उसका मुख्य कारण यही था । इसलिए हमारे संविधान – निर्माताओं ने केंद्र को बलषाली बनाने के लिए अनेक उपाय किये। उन्हीं उपायों के आधार पर कई लेखकों ने लिखा है कि भारत में संघात्मक सरकार होते हुए भी इसका झुकाव एकात्मकता की तरफ है। भारत में केन्द्र को बलषाली बनाने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाए गए हैंः

भारतीय संविधान में एकात्मक तत्व (न्दपजंतल म्समउमदजे पद जीम प्दकपंद ब्वदेजपजनजपवद)

1. इकहरी नागरिकता जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी नागरिक है और संयुक्त राज्य

प्रायः संघात्मक सरकारों में दोहरी नागरिकता पाई ऐसा ही है। वहाँ पर प्रत्येक अमेरिकन अपने राज्य का अमेरिका का भी । इसका परिणाम यह निकलता है कि

जब एक अमेरिकन अपने राज्य से दूसरे राज्य में जाता है, तो वहाँ का नागरिक नहीं माना जाता बल्कि केवल संघ का नागरिक माना जाता है। जो सुविधाएँ एक नागरिक को अपने राज्य में प्राप्त होती हैं, वे दूसरे में नहीं होती है इसलिए भारत में इकहरी नागरिकता रखी गई है। हम पंजाब, उत्तर प्रदेष, राजस्थान, बिहार या मध्य प्रदेष के नागरिक नहीं हैं बल्कि केवल भारत के ही नागरिक है। इसलिए किसी भी प्रान्त या राज्य के व्यक्ति को दूसरे राज्य

में कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती है। इससे प्रान्तीय भावनाएँ कम होती हैं और राश्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिलता है।

2. षक्तियों का बँटवारा केन्द्र के पक्ष में– हमारे संविधान में षक्तिायों का बँटवारा इस प्रकार किया गया है कि केन्द्र को राज्यों की अपेक्षा अधिक षक्तियाँ दी गई हैं। उदाहरणस्वरूप, हमारे देष में अधिकतर महत्वपूर्ण विशय संघ सूची में रखे गए हैं। संघ सूची में 97 विशय रखे गए हैं और इन पर केवल पार्लियामेंट कानून बना सकती है, राज्यों के विधानमंण्डलों को इन विशयों पर कानून बनाने का अधिकार नहीं है। समवर्ती सूची में 47 विशय रखे गए हैं। इन पर केन्द्रीय पार्लियामेंट तथा राज्यों के विधानमंडल दोनों ही कानून बना सकते हैं, परन्तु यदि दोनों के बनाये हुए कानूनों में कोई विरोध उत्पन्न हो जाय, तो केन्द्रीय कानून ही माना जायेगा, और राज्यों का कानून नहीं माना जायेगा। अतः समवर्ती सूची पर भी केन्द्रीय पार्लियामेन्ट को बिना रोक टोक कानून बनाने की आज्ञा है और प्रान्तीय विधानमंडल केंद्र की इच्छा के विरुद्ध इन विशयों के बारे में कुछ भी नहीं कर सकते। जहाँ तक राज्य सूची का सम्बन्ध है, इस पर यद्यपि विधानमंडल को कानून बनाने की पूर्ण स्वतंत्रता है परन्तु कुछ विषेश परिस्थितियों में पार्लियामेन्ट भी इस पर कानून बना सकती है। इसके अतिरिक्त अवषिश्ट षक्तियाँ केन्द्र को दे दी गई हैं न कि राज्यों को यहाँ पर हमने कैनेडा का आदर्ष अपनाया है जहाँ अवषिश्ट षक्तियाँ केन्द्र को दी गई हैं। (अवषिश्ट षक्तिायाँ वे होती हैं जो तीनों सूचियों में से भी किसी में षामिल नहीं हैं।)

:3. संकटकालीन घोशणा में केन्द्र का राज्यों पर अत्यधिक नियन्त्रण– हमारे संविधान में राश्ट्रपति को तीन प्रकार की संकटकालीन घोशणाएँ करने का अधिकार दिया गया है। यदि भारत पर कोई बाहरी आक्रमण हो जाय या कोई बहुत बड़ी अन्दरूनी गड़बड़ अथवा क्रांति हो जाये या भारत किसी युद्ध में फँस जाये, तो उस समय राश्ट्रपति संकटकालीन घोशणा कर सकता है। संकटकालीन घोशणा के समय राश्ट्रपति राज्यों को किसी भी प्रकार के निर्देष (क्पतमबजपवदे) दे सकता है और पार्लियामेंट राज्य सूची के किसी भी विशय पर कानून बना सकती है। इस अवस्था में एक प्रकार से राज्यों की स्वायत्तता (।नजवदवउल) खत्म की जा सकती है। इस अवस्था में राश्ट्रपति को मौलिक अधिकारों को भी स्थगित करने का अधिकार होता है।

.दूसरी प्रकार की संकटकालीन घोशणा उस समय की जा सकती है जब राश्ट्रपति को गवर्नर की रिपोर्ट से अथवा किसी अन्य तरीके से यह विष्वास हो जाए कि किसी राज्य में सरकार संविधान के अनुसार नहीं चलाई जा सकती है। उस समय राश्ट्रपति उस राज्य में वैधानिक संकट (ब्वदेजपजनजपवदंस मउमतहमदबल) की घोशणा कर देते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि उस राज्य में राश्ट्रपति का षासन घोशित कर दिया जाता है, मन्त्रिमंडल तथा विधानसभा को भंग कर दिया जाता है और वहाँ गवर्नर राश्ट्रपति का एजेण्ट बन जाता है और उसे राश्ट्रपति के सब आदेषों का पालन करना पड़ता है। पार्लियामेंट को उस समय उस राज्य के लिए कानून बनाने का अधिकार होता है।

तीसरी प्रकार की संकटकालीन घोशणा वित्तीय संकट के समय होती है। यदि भारत

सरकार की साख (ब्तमकपज) हिल जाय, तो उस समय राश्ट्रपति वित्तीय संकट. (थ्पदंदबपंस मउमतहमदबल) की घोशणा कर सकते हैं। इस घोशणा का यह परिणाम होगा कि राश्ट्रपति को सरकारी कर्मचारी, सुप्रीम कोर्ट के जज, लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध् यक्ष, राज्यसभा के सभापति तथा उप–सभापति के वेतन में कटौती करने का अधिकार होगा। राश्ट्रपति को केन्द्र और राज्यों के बीच धन के बँटवारे में भी परिवर्तन करने का अध् ाकार होगा। राश्ट्रपति उस समय राज्यों के वित्त विधेयकों को भी अपनी मंजूरी के लिए मँगवा सकेगा। संक्षेप में, सारे भारतवर्श में आर्थिक ढाँचे पर राश्ट्रपति का नियन्त्रण (ब्वदजतवस) स्थापित हो जाएगा और संघात्मक होते हुए भी हमारी केन्द्रीय सरकार संविध् ाान में बिना किसी संषोधन के एकात्मक सरकार की तरह कार्य कर सकेगी।

4. षान्ति के समय भी राज्य सूची पर की षक्तियाँ बढ़ाई जा सकती हैं. यदि राज्यसभा बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दे कि कोई भी विशय जो पहले राज्य सूची में था, अब राश्ट्रीय महत्व का बन गया है, तो संसद को एक वर्श तक उस विशय पर कानून बनाने का अधि ाकार मिल जाएगा।

5. राज्यों को अपना अलग संविधान बनाने तथा संघ से अलग होने का अधिकार नहीं है – सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमेरिका और स्विट्जरलैण्ड के संविधानों में राज्यों को अपना अलग संविधान बनाने का अधिकार दिया गया है। परन्तु भारत के संविध न में राज्यों को ऐसा कोई भी अधिकार नहीं दिया गया है। राज्यों को भारतीय संविधान को ही मानना पड़ता है। सोवियत संघ में राज्यों को आत्म निर्णय का अधिकार दिया गया है और यदि वे चाहें तो संघ से अलग हो सकते हैं, भारतीय संविधान में राज्यों को कोई ऐसा अधिकार नहीं दिया गया है। अतः भारतीय संघ के भंग होने का भय नहीं है।

6. संसद को राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने या किसी पुराने राज्य को खत्म करके नए राज्य का गठन करने का अधिकार भारत में संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन कर सके। संसद दो या अधिक राज्यों को मिलाकर या उनमें से कोई प्रदेष निकालकर नए राज्य को बना सकती है। वह किसी राज्य का क्षेत्रफल घटा या बढ़ा सकती है। वह किसी राज्य का नाम भी बदल सकती है। ये सारे परिवर्तन तभी किए जा सकते हैं जबकि राश्ट्रपति इस विशय में उन राज्यों के विधानमण्डलों के विचार भली भाँति पता लगा ले और संसद में राश्ट्रपति की सिफारिषों के अनुसार एक बिल पास कर दिया जाए। हमारे संविधान में केवल राश्ट्रपति के लिए सलाह करना आवष्यक है परन्तु उसके लिए राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने के लिए राज्यों के विधानमंडल की मंजूरी लेना आवष्यक नहीं है। यही कारण है कि पार्लियामेंट ने इस अधिकार का प्रयोग करते हुए देष का राजनीतिक नक्षा ही बिल्कुल बदल दिया और हैदराबाद जैसी बड़ी रियासत को बिल्कुल खत्म कर दिया जब उसने 1956 ई. में राज्य पुनर्गठन अधिनियम पास किया। यहाँ पर हमारा संविधान संयुक्त राज्य अमेरिका से भिन्न है, क्योंकि वहाँ पर केंन्द्रीय सरकार राज्य की स्वीकृति के बिना उसकी सीमाओं में कोई परितर्वन नहीं कर सकती है।

7. राज्यों को राज्यसभा में बराबर का प्रतिनिधित्व दिया जाना राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैंड, आस्ट्रेलिया तथा संसार के अन्य संघों (थ्मकमतंजपवदे) में प्रायः उच्च सदन (न्चचमत भ्वनेम) में छोटे–बड़े सभी राज्यों को बराबर का प्रतिनिधित्व दिया गया है। वहाँ पर उनके आकार तथा आबादी का ध्यान नहीं रखा जाता परन्तु भारत में राज्यों को

राज्यसभा में आबादी के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया गया है।

8. राश्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति – संविधान में राज्यों के राज्यपालों के चुनाव की कोई व्यवस्था नहीं है, बल्कि राश्ट्रपति द्वारा उनकी नियुक्ति की व्यवस्था है। राज्यपाल राश्ट्रपति की कृपा तक अपने पद पर रहते हैं। राश्ट्रपति जब चाहे उनकों हटा सकता है। राज्यपालों से यह आषा की जाती है कि वे राज्यों की सब परिस्थितियों के बारे में राश्ट्रपति को सूचित रखेंगे। राज्यपालों द्वारा केन्द्र का राज्यों पर प्रभावी नियन्त्रण रहता है। संकटकालीन घोशणा के समय राज्यपालों को अपने मंत्रियों की सलाह की उपेक्षा करने और राश्ट्रपति के आदेषों का पूर्ण रूपसे पालन करने का अधिकार है । षान्तिकालीन अवस्था में राज्यपाल प्रायः अपने मंत्रियों की सलाह से कार्य करते हैं। यदि अचानक कोई विषेश परिस्थिति उत्पन्न हो जाए, तो भी राश्ट्रपति गवर्नरों से अपने आदेषों का पालन करवाने के लिए भी व्यवस्था कर सकता है। इस तरह से केन्द्रीय सरकार का. राज्यों पर प्रत्येक स्थिति में पूर्ण नियन्त्रण रहता है। आलोचकों का विचार है कि ये बातें संघवाद के विरुद्ध हैं, यहाँ पर हमने संयुक्त राज्य अमेरिका की बजाय कैनेडा का मॉडल अपनाया है !

9. संविधान बुनियादी बातों में एकरूपता स्थापित करता है

प्रायः संघों में दोहरी राजनीतिक व्यवस्थाओं के कारण कानून, षासन और न्याय पद्धति में काफी विभिन्नताएँ पाई जाती हैं जैसे कि हम संयुक्त राज्य अमेरिका में इन विभिन्नताओं को

देखते हैं। डाक्टर अम्बेडकर का कथन है कि ‘‘किसी सीमा तक यदि देष में विभिन्नता भी रहे, तो भी कोई बात नहीं है। यदि स्थानीय आवष्यकताओं के अनुसार कानून और षासन के नियमों में कुछ विभिन्नता रहे तो भी उसे सहन किया जा सकता है। किन्तु जब विभिन्नता हद से अधिक बढ़ जाती है, तो इससे संघात्मक राज्यों में पूर्ण अव्यवस्था छा जाती है। ‘‘भारत की ऐसी भयानक परिस्थिति से रक्षा करने के लिए संविधान में अखिल भारतीय प्रषासनिक सेवा, एक समान दीवानी और फौजदारी कानून तथा एक ही प्रकार की न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है। सारे देष में वित्तीय मामलों में एकरूपता कायम रखने के लिए एक नियंत्रक महालेखा परीक्षक की व्यवस्था की गई है। वह केन्द्रीय सरकार तथा राज्यों की सरकारों के वित्तीय मामलों पर पूरी निगरानी रखता है। इसके अतिरिक्त भारत में चुनाव आयोग की व्यवस्था की गई है। मुख्य चुनाव आयुक्त राज्यों की विधानसभाओं और विधान परिशदों, संसद राश्ट्रपति और उपराश्ट्रपति के चुनावों पर नियन्त्रण रखता है। वह इन चुनावों को करवाता है तथा राज्यों के चुनाव आयुक्तों की इस हेतु किसी भी प्रकार का निर्देष तथा अनुदेष दे सकता है। इस तरह से संघवाद (मिकमतंसपेउ) के दोशों को दूर करके भारत में एकरूपता स्थापित करने का यत्न किया गया है।

. क्या भारत सच्चा संघ है? अब यह प्रष्न उत्पन्न होता है कि क्या भारत को सच्चे अर्थों में संघ कहा जा सकता है? यद्यपि भारत में संघवाद के देषों को दूर करके केंन्द्र को बलषाली बनाने के लिए यत्न किया गया है ताकि भारत की एकता अखण्ड रहे परन्तु फिर भी यह कहना बिलकुल अनुचित होगा कि भारत में एकात्मक सरकार की स्थापना की गई है। भारत में संघात्मक सरकार की तीनों विषेशताएँ, अर्थात् षक्तियों का विभाजन, संविध न की सर्वोच्चता तथा सुप्रीम कोर्ट की सर्वोच्चता इत्यादि पाई जाती है, अतः हमारे देष में संघात्मक सरकार ही स्थापित की गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैंड और आस्ट्रेलिया के संविधान यद्यपि इकाइयों को बहुत हद तक स्वायत्तता प्रदान करते हैं, परन्तु उन देषों में भी प्रथम महायुद्ध के बाद ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं जिनसे स्पश्ट सिद्ध होता है कि वहाँ पर भी केन्द्रीय सरकार बलवान होती जा रही हैं। उदाहरणस्वरूप, यद्यपि अमेरिकन संविधान में राश्ट्रपति को संकट कालीन घोशणा करने का कोई अधिकार नहीं हैं

तथापि जिस समय भी किसी राज्य में बहुत अधिक अन्दरूनी गड़बड़ हो गई है, तो केन्द्रीय सरकार ने कई बार राज्य की सरकार की इच्छा के विरूद्ध भी वहाँ पर षान्ति स्थापित करने : के लिए सेनाएँ भेज दी हैं और इस कार्रवाई को यह कहकर ठीक सिद्ध करने की कोषिश की है कि अन्तर्राज्यीय वाणिज्य तथा व्यापार और यातायात पर केन्द्रीय नियन्त्रण है और यदि किसी राज्य में अन्दरूनी षान्ति नहीं रहती है, तो इन सब बातों में रुकावट उत्पन्न होगी। इसके अतिरिक्त हम देखते है कि चाहे कैनेडा की तरह भारत में केन्द्र को बलवान बनाने की कोषिष की गई है परन्तु वहाँ की तरह इकाइयों को व्यवहार में काफी स्वायत्तता दे दी गई है। भारत में संकटकालीन घोशणाओं का अभी तक दुरुपयोग करके एकात्मक सरकार स्थापित नहीं की गई है बल्कि किसी खराब स्थिति को सुधारने के लिए ही इसका थोड़े समय के लिए प्रयोग किया गया है पंजाब, आन्ध्र, पेप्सू तथा केरल में खराब स्थिति को सुधारने के लिए ही संकटकालीन घोशणा की गई और ज्यों ही वह परिस्थिति दूर हुई, त्यों ही वहाँ पर चुनाव कराके उत्तरदायी सरकार दुबारा स्थापित कर दी गई है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि भारत में संघात्मक सरकार ही हैं परन्तु देष में एकता कामय करने के लिए ही केन्द्र को संघवाद की सीमाओं में रहते हुए अधिक से अधिक बलषाली बनाने का यत्न किया गया है।

सारांष

भारत में संघवाद के देषों को दूर करके केंन्द्र को बलषाली बनाने के लिए यत्न किया गया है ताकि भारत की एकता अखण्ड रहे परन्तु फिर भी यह कहना बिलकुल अनुचित होगा कि भारत में एकात्मक सरकार की स्थापना की गई है। भारत में संघात्मक सरकार की तीनों विषेशताएँ, अर्थात् षक्तियों का विभाजन, संविधान की सर्वोच्चता तथा सुप्रीम कोर्ट की सर्वोच्चता इत्यादि पाई जाती है, अतः हमारे देष में संघात्मक सरकार ही स्थापित की गई द्य संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैंड और आस्ट्रेलिया के संविधान’ यद्यपि इकाइयों को

बहुत हद तक स्वायत्तता प्रदान करते हैं, परन्तु उन देषों में भी प्रथम महायुद्ध के बाद ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं जिनसे स्पश्ट सिद्ध होता है कि वहाँ पर भी केन्द्रीय सरकार बलवान होती जा रही हैं। उदाहरणस्वरूप, यद्यपि अमेरिकन संविधान में राश्ट्रपति को संकट कालीन घोशणा करने का कोई अधिकार नहीं हैं तथापि जिस समय भी किसी राज्य में बहुत अधिक अन्दरूनी गड़बड़ हो गई है, तो केन्द्रीय सरकार ने कई बार राज्य की सरकार की इच्छा के विरूद्ध भी वहाँ पर षान्ति स्थापित करने के लिए सेनाएँ भेज दी हैं और इस कार्रवाई को यह कहकर ठीक सिद्ध करने की कोषिश की है कि अन्तर्राज्यीय वाणिज्य तथा व्यापार और यातायात पर केन्द्रीय नियन्त्रण है और यदि किसी राज्य में अन्दरूनी षान्ति नहीं रहती है, तो इन सब बातों में रुकावट उत्पन्न होगी। इसके अतिरिक्त हम देखते है कि चाहे कैनेडा की तरह भारत में केन्द्र को बलवान बनाने की कोषिष की गई है परन्तु वहाँ की तरह इकाइयों को व्यवहार में काफी स्वायत्तता दे दी गई हैं। भारत में संकटकालीन घोशणाओं का अभी तक दुरुपयोग करके एकात्मक सरकार स्थापित नहीं की गई है बल्कि किसी खराब स्थिति को सुधारने के लिए ही इसका थोड़े समय के लिए प्रयोग किया गया हैं पंजाब, आन्ध . पेप्सू तथा केरल में खराब स्थिति को सुधारने के लिए ही संकटकालीन घोशणा की गई और ज्यों ही वह परिस्थिति दूर हुई, त्यों ही वहाँ पर चुनाव कराके उत्तरदायी सरकार दुबारा स्थापित कर दी गई है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि भारत में संघात्मक सरकार ही हैं परन्तु देष में एकता कामय करने के लिए ही केन्द्र को संघवाद की सीमाओं में रहते हुए अधिक से अधिक बलषाली बनाने का यत्न किया गया है।

ऊपर बताया जा चुका है कि संविधानसभा की पहली बैठक 9 दिसम्बर 1946 को हुई। सभा ने अपने काम में सुगमता लाने के लिए अनेक समितियों का निर्माण किया। तत्पष्चात् संविधान का प्रारूप (कतंजि) तैयार करने के लिए संविधान परिशद् ने 29 अगस्त, 1947 को डॉ. बी. आर. अम्बेदकर की अध्यक्षता में एक प्रारूप समिति बनायी । इस समिति ने काफी सोच समझकर संविधान का प्रारूप तैयार किया जो फरवरी, 1948 इसे संविधान परिशद् में पेष किया गया। 144 दिनों तक इस प्रारूप पर विचार होता रहा और उसमें 2473 संषोधन पेष किये गये। 26 नवम्बर, 1949 को संविधान अन्तिम रूप में कई संषोधनों के बाद स्वीकार कर लिया गया। स्वीकृत संविधान में 395 धाराएँ तथा 8 परिषिश्ट थीं। 26 जनवरी, 1950 के दिन हमारा यह संविधान सारे देष में लागू कर दिया गया। इस प्रकार, विष्व के राजनीतिक रंगमंच पर एक पूर्ण स्वतंत्र और संप्रभुसत्तासम्पन्न गणतंत्र का प्रादुर्भाव हुआ ।

प्रथाएँ एवं परम्पराएँ – संविधान लिखित हो अथवा अलिखित, कालान्तर में कुछ प्रथाओं का विकास हो ही जाता है। संविधान चाहे कितना भी सुस्पश्ट क्यों न हो या कितना भी विषाल क्यों न बनाया जाय, परन्तु उसके अतिरिक्त भी कुछ प्रथाएँ एवं परम्पराएँ चल ही पड़ती हैं। भारत की षासन–प्रणाली भी कुछ महत्वपूर्ण मौलिक प्रथाओं पर आधृत है। यहाँ यह स्पश्ट कर देना अधिक उचित होगा कि यद्यपि षासन – संचालन प्रथा या परम्परा के उन अलिखित नियम के द्वारा तो होता है, परन्तु इसके पीछे कोई भी कानूनी आधार नहीं है। फिर भी यह राज्य के लिए एक आदत है जिसके अनुसार वह अपने षासन को चलाता है। मुनरों ने ठीक ही कहा है, ''व्यक्ति के लिए आदत का जो स्थान है वही राज्य के लिए प्रथाओं का है ।'' इक्कीस वर्श के जीवन में भारतीय संविधान में कुछ ऐसी ही परम्पराएँ एक चल पड़ी हैं। ये परम्पराएँ एवं प्रथाएँ भी भारतीय संविधान का अभिन्न अंग बन चुकी हैं। उदाहरण के लिए, संविधान में कहीं यह बात नहीं कही गई है कि राश्ट्रपति किसी मंत्री को प्रधानमंत्री के कहने पर हटा देगा । संविधान में तो कहा गया है कि कोई भी मंत्री राश्ट्रपति के इच्छाकाल तक ही अपने पद पर रह सकेगा। परन्तु एक परम्परा चल पड़ी है कि कोई भी मंत्री प्रधानमंत्री की इच्छा के विरुद्ध (यद्यपि राश्ट्रपति उसे चाहे रहकर उसके मंत्रिमंडल में नहीं रह सकता। इसलिए ष्यामाप्रसाद मुखर्जी, अम्बेडकर या देषमुख को प्रधानमंत्री से असहमत होकर हट जाना पड़ा।

ᑊ धर्मनिरपेक्ष राज्य

हमारी प्रस्तावना द्वारा भारत को 'धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में घोशित किया गया है हमारी प्रस्तावना के ये षब्द 'दृढ़ निष्चय करके' भारत की धर्मनिरपेक्षता की ओर ही संकेत करते हैं। यह बात तब और स्पश्ट हो जाती है जब प्रस्तावना को लेकर हमारी संविधानसभा में हुए वार्तालाप के बारे में हम जानकारी प्राप्त करते हैं। श्री. एच. बी. कामथ ने अपना एक प्रस्ताव संविधानसभा में रखा और कहा कि प्रस्तावना को 'ईष्वर के नाम पर षब्द से षुरू होना चाहिए। इसके विरोधी लोगों ने इसे हमारे संविधान के लिए अनुपयुक्त समझा क्योंकि हमारे संविधान निर्माताओं का उद्देष्य भारत में एक धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र की स्थापना था । हमारा राज्य धारा 25 से 28 द्वारा नागरिकों को धर्म का अधिकार देता है । किन्तु सिर्फ धर्म के आधार पर नागरिकों में किसी तरह का भेदभाव नहीं करता कठोरता और लचीलेपन का अपूर्व मिश्रण ब्राइस और डायसी ने संविधानों का वर्गीकरण किया है। वे उन संविधानों को लचीला मानते हैं जिनको संसद

(पार्लियामेंट) साधारण कानूनों की भाँति सादा बहुमत से बदल सकती है। उनके मतरनुसार वे संविधान कठोर हैं जिनको बदलने के लिये एक विषेश प्रक्रिया होती है। भारत का संविध ा आन न तो इतना लचीला है जितना कि ग्रेट ब्रिटेन का और न ही इतना कठोर है जितना

संयुक्त राज्य अमेरिका का । भारतीय संविधान के निर्माता यह चाहते थे कि संविधान इतना : कठोर न बन जाए कि उसको बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार संषोधित न किया जा सके और न ही यह इतना लचीला बन जाए कि सत्तारूढ़ दल इसको एक खिलौना समझ ले और अपने हितों की सिद्धि के लिए इसको बार बार संषोधित कर ले। अतः उन्होंने बीच का मार्ग अपनाया ।

भारतीय संविधान में एकात्मक तत्व :

1. इकहरी नागरिकता

2. षक्तियों का बँटवारा केन्द्र के पक्ष में

3. संकटकालीन घोशणा में केन्द्र का राज्यों पर अत्यधिक नियन्त्रण

4. षान्ति के समय भी राज्य सूची पर की षक्तियाँ बढ़ाई जा सकती हैं

5. राज्यों को अपना अलग संविधान बनाने तथा संघ से अलग होने का अधिकार

नहीं है

6. संसद को राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने या किसी पुराने राज्य को खत्म

करके नए राज्य का गठन करने का अधिकार

7. राज्यों को राज्यसभा में बराबर का प्रतिनिधित्व दिया जाना

ैमसि–प्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

8. राश्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति

9. संविधान बुनियादी बातों में एकरूपता स्थापित करता है।

अभ्यास – प्रष्न

1. भारतीय संविधन की महत्वपूर्ण विषेशताओं का वर्णन कीजिए।

2. भारत के संविधान का रूप संघात्मक है परन्तु उसकी आत्मा एकात्मक विवेचन

कीजिए ।

3. भारत का संविधान संघीय कम और एकात्मक अधिक हैं समालोचना कीजिए ।

4. भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्य के नीति–निर्देषक तत्वों से आप क्या समझते है ?

5. भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्य के नीति–निर्देषक तत्व और मूलाधिकार में क्या अन्तर है?

इकाई 6

मूलअधिकार

मूल अधिकार का अर्थ, उत्पत्ति और विकास, इसके उद्देष्य, इसकी विषेशताएँ

मूल अधिकारों की विषेशताएँ

मूल अधिकारों का वर्गीकरण

अध्याय के उद्देष्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :

जान सकेंगे कि मूलाधिकार का अर्थ क्या है?

आप जान सकेंगे कि इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसका विकास कैसे हुआ, इसके उद्देष्य और विषेशताएँ क्या हैं?

भारतीय गणराज्य के मूल अधिकारों की समीक्षा कर सकेंगे

: हमारे मूल अधिकारों की सीमाएँ समझ सकेंगे। की एकात्मक तत्व

को समझ सकेंगे।

परिचय :

प्रजातंत्र में व्यक्ति की स्वतंत्रता का अत्यधिक महत्व है। इसी स्वतन्त्रता की के लिए हम भारतीयों को वर्शों तक कठोर संघर्श करना पड़ा था। व्यक्ति को जब तक स्वतन्त्रता समानता आदि के अधिकार नहीं मिल जाते तब तक उसका जीवन पषुतुल्य ही होता है। प्रोफेसर लास्की का कथन है कि ''अधिकार किसी भी प्रजातांत्रिक राज्य की आध रषिला है । यह वह गुण है जिसके कारण राज्य की षक्ति के प्रयोग में नैतिकता कां समावेष होता है और यह नागरिकों के आदर्ष एवं सुखमयं जीवन के लिए नितान्त आवष्यक होता है ।'' नागरिक अधिकार प्रजातांत्रिक षासन व्यवस्था की सबसे बड़ी विषेशता माने जातें हैं। भारत एक प्रजातांत्रिक देष है और इसलिए भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को अनेक आवष्यक अधि ाकार प्रदान किये गये हैं। जिन्हें मूल या मौलिक अधिकार कहते हैं। प्रत्येक नागरिक के जीवन में ये अधिकार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं ।

मूल अधिकार क्या हैं ? आधुनिक युग में यह मान लिया गया है कि राज्य का अस्तित्व नागरिकों के कल्याण हेतु है। अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि वह नागरिकों . के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में पूरा–पूरा सहयोग दे। नागरिकों को कुछ मूल अधिकार प्रदान करके राज्य अपने इस उद्देष्य की पूर्ति करता है। ऐसा विष्वास किया जाता है कि व्यक्ति के नैतिक, भौतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए मूल अधिकार उतने ही आवष्यक हैं जितना जिन्दगी के लिए जल । इसलिए प्रत्येक प्रजातांत्रिक संविधान द्वारा नागरिकों को कुछ ऐसे अधिकार दे दिये जाते हैं। इन अधिकारों के बिना नागरिक के व्यक्तित्व का विकास असम्भव है। इनकी अनुपस्थिति में मनुश्य की सर्वतोमुखी उन्नति रुक सकती है। इसलिए आज कें युग के प्रत्येक कल्याणकारी राज्य के नागरिकों को मूल अधिकार प्राप्त होते हैं।

संविधान में मूल अधिकारों की उत्पत्ति और विकास – संविधान में मूल अधि कारों का उल्लेख सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में हुआ। इसके बाद फ्रांस ने अपने संविधान में कतिपय मूल अधिकारों का उल्लेख किया। इसका प्रभाव अन्य देषों पर पड़ा। सोवियत संघ के संविधान में मूल अधिकारों का विस्तष्त वर्णन हुआ है। आयरलैंड और स्विट्जरलैंड के सविधान में भी इन्हें उपयुक्त स्थान मिला है। सामान्यतः सभी लिखित आध ा निक संविधानों में मूल अधिकारों का उल्लेख किया जाता है तथा कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका से उनकी रक्षा की व्यवस्था भी की जाती है। फिर भी, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि कुछ ऐसे देष हैं जिनके संविधान में मूल अधिकारों का उल्लेख नहीं हुआ है। इससे यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिए कि वहाँ के नागरिकों को मूल अधिकार प्राप्त नहीं हैं।

1 मूल अधिकार के उद्देष्य – संविधान में मूल अधिकार एक–दूसरे उद्देष्य से भी रखें जाते हैं। कार्यपालिका या व्यवस्थापिका में प्रायः ऐसी प्रवष्त्ति पायी जाती है कि वे नागरिकों के अधिकार पर अनावष्यक अतिक्रमण कर निरंकुष बनने की चेश्टा करती रहती हैं। मौका मिलते ही वे व्यक्ति की स्वतंत्रता हड़पने की कोषिष करने लगती हैं। इस प्रवषति को रोकने के लिए संविधान में मूल अधिकारों का उल्लेख नितान्त आवष्यक है। इनके द्वारा नागरिकों को कुछ ऐसे अधिकार दिये जाते हैं जिनका अपहरण नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह है कि राज्य इस प्रकार का कोई भी कानून नहीं बना सकता जिससे इन अधिकारों का उल्लंघन हो । यदि राज्य ऐसा करने का प्रयास करे तो नागरिकों को यह अधि कार प्राप्त रहता है कि वे राज्य के विरुद्ध न्यायालय की षरण लें। न्यायालय यदि उस कार्यवाही या कानून को मूल अधिकारों के विपरीत मान ले तो उसे अवैध घोशित कर सकता हैं। इस दषा में राज्य उक्त कानून का प्रयोग नहीं कर सकता हैं।

मूल अधिकारों की विषेशताएँ मूल अधिकारों की कुछ प्रमुख विषेशताएँ निम्नलिखित है– सर्वप्रथम, मूल अधिकारों का उपभोग सबके द्वारा समान रूप से होना चाहिए। प्रजातंत्र मे प्रायः हमेषा बहुमत प्राप्त दल का षासन होता है। इस स्थिति में इस बात की सम्भावना हो जाती है कि कहीं बहुसंख्यक लोग अल्पसंख्यकों के हितों को ध्यान न रखें तथा उन्हें विकास का अवसर न दें। इसलिए भी संविधान में मूल अधिकार का समावेष कर दिया जाता है जिससे अल्पसंख्यक भी उसका उपभोग कर सकें। मूल अधिकारों को संविधान का अंग बना देने का एक परिणाम यह है कि सरकार नागरिकों की उन सुविधाओं का अपहरण आसानी से नहीं कर सकती हैं। ये अधिकार चाहे कोई भी राजनीतिक दलं षासनारूढ हो–बने रहते हैं। मूल अधिकारों के सम्बन्ध में एक और बात ध्यान में रखने योग्य है जहाँ कुछ राजनीतिक अधिकार नागरिकों को प्राप्त होते हैं वहाँ मूल अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त रहतें हैं, चाहें वह देष का नागरिक हो या नहीं। उदाहरण के लिए, भारत में वोट देने का अधिकार केवल भारतीय नागरिकों को प्राप्त है, परन्तु जीवन की रक्षा तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता से सम्बद्ध अधिकार सबको प्राप्त हैं, चाहे वे भारतीय नागरिक हों या विदेषी ।

इस सम्बन्ध में एक बात और है। मूल अधिकार असीमित (नदसपउपजमक) नहीं हो सकते । कुछ परिस्थितियों में वे सीमित है और स्थागित भी किये जा सकते हैं। अधिकार की निष्चित सीमा होती है। यदि किसी व्यक्ति को किसी भी सम्बन्ध में असीम अधिकार दे दिये जायँ तो इसका अर्थ यह होगा कि उससे अन्य लोगों की स्वतंत्रता सीमित हो जायेगी । इस कारण संविधान में ही मूल अधिकारों पर परिस्थिति के अनुकूल अंकुष लगा दिये जाते हैं।

क्या संविधान में मूल अधिकारों का वर्णन आवष्यक हैं? – कुछ लोगों कां मत है कि संविध ाान में मूल अधिकारों का वर्णन नहीं करना चाहिए क्योंकि व्यक्ति के अधि कार समय और परिस्थिति पर निर्भर करते हैं। इसलिए उन्हें राज्य के साधारण कानूनों द्वारा दिया जाना चाहिए जिससे वे समयानुकूल बदले जा सकें। अधिकारों को संविधान में लिख

देने से जनता के हृदय में व्यर्थ की आषा बँधी रहती है जो कभी कभी पूरी नहीं होती ।–

लेकिन एक मत इसके विपरीत भी है जो अधिक उचित जान पढ़ता है। इस मत के लोगों का कहना है कि संविधान देष का मूल कानून होता है और जब मूल अधिकारों का वर्णन संविधान में कर दिया जाता है तो संसद या कार्यपालिका उन्हें आसानी से नहीं बदल सकती । इस हालत में व्यक्ति के अधिकार अधिक सुरक्षित रहते हैं। देष में आने वाली कोई भी सरकार नागरिकों को मूल अधिकारों से वंचित नहीं कर सकती क्योंकि उनका संविधान में बष्हत् उल्लेख रहता है।

सैद्धान्तिक दृश्टि से यद्यपि यह विचार अधिक उचित मालूम पडता है, पर व्यावहारिक दृश्टि से इसमें कोई तथ्य नहीं है। उदाहरण के लिए, भारतीय संविधान में ही संषोधन करके मूल अधिकारों को सीमित कर दिया गया है। भारतीय संविधान में मूल अधिकारों के उल्लिखित करने के सम्बन्ध में डॉ अम्बेडकर ने दो उददेष्य बतलाये थे। प्रथम यह कि प्रत्येक व्यक्ति को इन अधिकारों के उपभोग का अधिकार हो और द्वितीय, प्रत्येक व्यक्ति इन्हें मानने के लिए बाध्य हो !

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के क्रम में

भारतीय संविधान में मूल अधिकार हमारे नेता बराबर भारतीयों के लिए मूल अधिकारों की माँग करते रहे थे। 1928 की नेहरू रिपोर्ट में इनका विस्तष्त वर्णन किया गया था। 1931 में कांग्रेस ने कराँची – अधिवेषन में इनके सम्बन्ध में एक विस्तष्त प्रस्ताव स्वीकार किया था। जब 1935 का अधिनियम बन रहा था ।

भारतीय जनता ने जोरदार षब्दो में यह माँग की थी कि उसमें कुछ मूल अधिकारों की चर्चा भी हो। पर ब्रिटिष सरकार ने भारतीयों की इस माँग को कभी स्वीकार नहीं किया। अतएव जब हमारे संविधान का निर्माण का कार्य षुरु हुआ तो संविधान के निर्माताओं ने इस पहलू पर काफी जोर दिया। फलतः हमारे संविधान में मूल अधिकारों का विषद् रूप से वर्णन किया गया है। विषेशता यह है कि हमारे संविधान में मूल अधिकारों का वर्णन जितने विस्तार के साथ हुआ है उतना संसार के किसी भी संविधान में नहीं हुआ। मूल अधिकारों का उल्लेख संविधान में तीसरे भाग के 12वें अनुच्छेद से 35वें अनुच्छेद तक पाया जाता हैं । इन अधिकारों को राज्य के अतिक्रमण से बचाने के लिए संविधान में ही पूरा–पूरा प्रबन्ध कर दिया गया । साथ ही कुछ विषेश परिस्थितियों में इन पर कतिपय प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये हैं। सब मिलाकर ये भारतीय नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा उनके सर्वतोमुखी विकास के जमानतदार हैं। यदि हम इन्हें अपने संविधान का प्राण कहें तो कोई अतिषयोक्ति नहीं होगी । भारतीय मूल अधिकारों की विषेशताएँ – वैसे तो संसार के अनेक संविधानों में मूल अधिकारों का उल्लेख है पर भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकारों की कुछ निजी विषेशताएँ हैं। ये निम्नलिखित हैं

1. वष्हद् व्याख्या भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकारो संसार के किसी भी. संविधान में वर्णित मूल अधिकारों से अधिक विस्तष्त हैं। इसकी जितनी व्यापक और बष्हद् व्याख्या भारत के संविधान की गयी है, उतनी संसार के किसी भी संविधान में नहीं है । भारतीय संविधान के सम्पूर्ण तीसरे अध्याय में अनुच्छेद 12 से लेकर 35 तक इनका सविस्तार वर्णन किया गया है। विभिन्न अधिकारों पर लगी सीमाओं (सपउपजंजपवदे) की भी स्पश्ट व्याख्या कर दी गयी है।

2. नकारात्मक एवं सकारात्मक अधिकार भारतीय संविधान के निर्माताओं ने नकारात्मक एवं सकारात्मक, दोनों प्रकार के अधिकारों की व्यवस्था संविधान में की है। ऐसे अधिकारों को नकारात्मक कहा गया है जो राज्यषक्ति को मर्यादित करते हैं। संविधान में ऐसे अधिकारों के उदाहरण की कमी नहीं है। अनुच्छेद 14 में कहा गया है कि राज्य किसी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता या कानून के समान संरक्षण से वंचित नहीं कर सकता है। अनुच्छेद 17 में छुआछूत के आचरण को गलत कहा गया है। इस प्रकार अस्पष्यता का अन्त कर दिया गया है। अनुच्छेद 18 में कहा गया है कि राज्य सेना या षिक्षा से सम्बद्ध

उपाधि के सिवाय अन्य कोई उपाधि नहीं दे सकता। इसके विपरीत, सकारात्मक अधिकार वे हैं जो नागरिकों को विषिश्ट अधिकार देते हैं। उदाहरण के लिए स्वतंत्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, सांस्कृतिक एवं षैक्षणिक अधिकार, आदि सकारात्मक अधिकार की श्रेणी में आते हैं। दोनों प्रकार के अधिकारों में सबसे बडा अन्तर यह है कि नकारात्मक अधिकार अमर्यादित हैं, जबकि सकारात्मक अधिकार सीमित एवं मर्यादित द्य

3. मूल अधिकारों द्वारा विभिन्न संस्थाओं पर प्रतिबन्ध

मूल अधिकारों द्वारा न सिर्फ केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार पर ही प्रतिबन्ध लगाया गया है, बल्कि अन्य संस्थाओं पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है। जिन संस्थाओं को विधि निर्माण की षक्ति प्राप्त है उन पर मूल अधिकारों द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। ऐसी संस्थाओं में जिला बोर्ड, नगरपालिकाएँ, जिला परिशद, पंचायत समिति, ग्राम पंचायत आदि के नाम आते हैं। मूल अधिकारों का क्षेत्राधिकार सम्पूर्ण भारत है। किसी संस्था के द्वारा ऐसे कानूनों का निर्माण नहीं किया जा सकता है जो मूल अधिकारों के विरुद्ध हों। इस प्रकार मूल अधिकारों द्वारा विभिन्न संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगाया गया है।

4. मूल अधिकारों पर कतिपय प्रतिबन्ध मूल अधिकारों पर संविधान द्वारा कंतिपय प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं होता। अतः भारतीय संविधान में भी विभिन्न मौलिक अधिकारों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं और अनेक स्थानों पर 'उचित प्रतिबन्ध' (तमेंवदंइसम तमेजतपबजपवद) की चर्चा मिलती है। डॉ. अम्बेदकर ने कहा था कि ''हमने यह नहीं किया कि संविधान 'मैं अमर्यादित मूल अधिकार प्रदान करके हम, सर्वोच्च न्यायालय से यह आषा करते कि वह पुलिस–षक्ति के सिद्धान्त का आश्रय लेकर संसद की सहायता करता, बल्कि इसके विपरीत हमने संविधान में राज्य को प्रत्यक्ष ढंग से आज्ञा प्रदान की है कि वह मूल अधिकारों पर सीधे प्रतिबन्ध लगा सके । ''

5. नागरिकों और गैरनागरिकों में भेद – मूल अधिकारों के उपभोग के सम्बन्ध (में नागरिकों और गैर नागरिकों में भेद बरता गया है। कुछ मूल अधिकारों के उपभोग का अधिकार नागरिक और गैर नागरिक दोनों को दिया गया है । परन्तु कुछ मूल अधिकारों के उपभोग का अधिकार सिर्फ देष के नागरिकों को ही है। उदाहरण के लिए, कानून के समक्ष समानता तथा धर्मिक स्वतंत्रता के अधिकार नागरिक और गैर नागरिक, दोनों को समान रूप से प्राप्त हैं। परन्तु विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार, सभा बुलाने की स्वतंत्रता का अधिकार आदि सिर्फ देष के नागरिकों तक ही सीमित हैं।

इकाई 7

मूल कर्तव्य राज्य के नीति funl'kd rRo

अधिकारों के प्रवर्तन की समुचित व्यवस्था अधिकारों की सबसे बड़ी विषेशता यह है कि संविधान में मूल अधिकारों के वर्णन के साथ–साथ उनके प्रवर्तन की भी उचित व्यवस्था की गयी है। अनुच्छेद 32 के अनुसार नागरिकों को संवैधानिक उपचारों का अधिकार दिया गया है जिसका अर्थ यह है कि नागरिकों को अपने अधिकारों के संरक्षण के लिए न्यायालय की षरण में जाने का अधिकार है । सर्वोच्च न्यायालय को मूल अधिकारों का संरक्षण बनाया गया है। वह मूल अधिकारों के लिए समुचित आदेष या लेख – जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेष, प्रतिशेध, अधि कार पृच्छा और उत्प्रेशण के लेख आते हैं – जारी कर सकता है । अनुच्छेद 226 अनुसार उच्च न्यायालयों को भी आदेष या लेख जारी कर मूल अधिकारों के प्रवर्तन का अधिकार दिया गया है ।

भारतीय संविधान में प्राकृतिक अधि कारों का पूर्ण अभाव है। भारतीय संविधान में नागरिकों को संविधान में वर्णित अधिकारों के संरक्षण के लिए ही न्यायालयों की षरण में जाने का अधिकार है। उसके बाहर के अधिकारों के संरक्षण की कोई व्यवस्था नहीं की गयी है। उसी

तरह ऐसे ही कानूनों को असंवैधानिक घोशित किया जा सकता है जो मूल अधिकारों के विरुद्ध हों। इसके विपरीत, अमेरिका के संविधान के नौवें संषोधन में कहा गया है कि संविधान में वर्णित अधिकारों के अतिरिक्त भी नागरिक अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय को भारतीय सर्वोच्च न्यायालय से भिन्न ''प्राकृतिक अधिकार के नाम पर संविधान की व्याख्या का असीमित अधिकार प्राप्त है।

8. मूल अधिकारों के निलम्बन की व्यवस्था – भारतीय संविधान के निर्माताओं मूल अधिकारों के निलम्बन की व्यवस्था भी कर डाली है । संविधान में उन स्थितियों का ' स्पश्ट उल्लेख कर दिया गया है जिनमें मूल अधिकार निलम्बित किये जा सकते हैं। आपातकालीन स्थिति का प्रभाव कई मूल अधिकारों पर पड़ता है। आपातकालीन स्थिति में राश्ट्रपति को आवष्यकता पड़ने पर संवैधानिक उपचारों के अधिकार को भी निलम्बित करने की षक्ति दी गयी है ।

9. मूल अधिकारों को सीमित करने की व्यवस्था भारतीय संविधान में कुछ परिस्थितियों में मूल अधिकारों को सीमित करने की भी व्यवस्था की गयी है। उदाहरण के

लिए, भारतीय संविधान के अनुच्छेद 33 में यह व्यवस्था की गयी है कि सषस्त्र सेना मे अनुषासन बनाये रखने के लिए तथा सैनिक कर्तव्यों का ठीक ढंग से पालन कराने के लिए भारत के सषस्त्र बल से सम्बन्ध मौलिक अधिकारों में संसद द्वारा आवष्यक संषोधन किया जा सकता है। यह उपवन्ध सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने वाले अन्य बलों पर भी लागू होता है। उसी तरह अनुच्छेद 34 के अनुसार किसी स्थान पर सेवानिधि पर मूल अधिकारों को सीमित किया जा सकता है। सेवा निधि लागू होने की स्थिति में किसी व्यक्ति को भी निश्कृत किया जा सकता है। इस प्रकार मूल अधिकारों को सीमित करने की भी व्यवस्था की गयीहै । .

10. मूल अधिकारों में संषोधन की व्यवस्था मूल अधिकारों को भी संसद के दोनों सदनों में प्रत्येक की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत और प्रत्येक सदन में उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से संषोधित किया जाता था। लेकिल 27 फरवरी 1967 ई. को 'गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य' नामक मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय के अनुसार संसद मूल अधिकारों को छीनने या सीमित करने के उद्देष्य से संविधान में संषोधन नहीं कर सकती थी। परन्तु अब (24वाँ संविधान संषोधन) विधेयक लोकसभा में पारित हो चुका है, जिसके अनुसार संसद को संविधान के किसी भाग में – जिनमें मूल अधिकार भी षामिल हैं – संषोधन करने का अधिकार दिया गया है । मूल अधिकारों का वर्गीकरण (ब्सेंपपिबंजपवद वf्थ्नदकंउमदजंस त्पहीजे)

भारतीय संविधान के तीसरे भाग में अनुच्छेद 12 से लेकर 35 तक नागरिकों के विभिन्न मूल अधिकारों का वर्णन किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिये इन्हे आठ षीर्शकों में बाँटा जा सकता है –

1. सामान्य उपबंध (ळमदमतंस च्तवअपेपवदे)

2. समता का अधिकार (त्पहीज जव म्ُनंसपजल)

3. स्वतंत्रता का अधिकार (त्पहीज जव थ्तममकवउ)

4. षोशण के विरुद्ध अधिकार (त्पहीज ंहंपदेज म्•चसवपजंजपवद)

5. धर्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (त्पहीज जव थ्तममकवउ वf त्मसपहपवद)

6. सांस्कृतिक तथा षिक्षा सम्बन्धी अधिकार (ब्नसजनतंस ंदक म्कनबंजपवदंस त्पहीज)

7. सम्पत्ति का अधिकार (त्पहीज जव च्तवचमतजल).

8. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (त्पहीज जव ब्वदेपजपजनजपवदंस त्मउमकपम)

1. सामान्य उपबन्ध (ळमदमतंस च्तवअपेपवदे).

संविधान में कुछ सामान्य उपबन्धों की चर्चा की गयी है। संविधान के 12वें और 13वें अनुच्छेदों में इनकी चर्चा की गयी, जिसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है :

क्षेत्र सामान्य उपबन्धों के उल्लेख का उद्देष्य सात मूल अधिकारों की रक्षा करना है। आरम्भ में 'राज्य' षब्द की बहुत ही व्यापक परिभाशा दी गयी है। इसके अनुसार संघ – सरकार और संसद, राज्य सरकारें और उनके विधानमंडल, स्थानीय सरकार एवं भारत सरकार के आधीन अन्य संस्थाएँ भारत राज्य के अन्तर्गत आती हैं। जिन क्षेत्रों पर उपर्युक्त संस्थाओं का अधिकार है, मूल अधिकार उन सभी क्षेत्रों में लागू रहेंगे। इस प्रकार मूल अधिकारों का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक बनाया गया है।

इस उपबन्ध में यह भी स्पश्ट कर दिया गया है कि संविधान में वर्णित मूल अधिकारों का सम्बन्ध केवल वर्तमान से ही नहीं अपितु भूत तथा भविश्य से भी है। अतएव कहा गया है कि संविधान के लागू होने से पूर्व बने हुए उन सभी कानूनों और अधिनियमों को अवैध ज माना जाएगा जो मूल अधिकारों के प्रतिकूल हों या उनका इनसे मेल नहीं खाता हो फिरय

साथ ही इस बात की घोशणा कर दी गयी है कि भविश्य में राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बना सकता है जो संविधान के तष्तीय अध्याय में वर्णित मूल अधिकारों के विरूद्ध हो ।

न्यायपालिका – इसके बाद अधिकारों की रक्षा का भार देष की न्यायपालिका को सौंपा गया है। न्यायपालिका राज्य द्वारा बनाये गये किसी कानून को मूल अधिकारों के विरुद्ध घोशित कर सकती है और भारत के न्यायालयों ने बहुत से ऐसे कानून का अवैध घोशित भी किया है। उदाहरणार्थ, सर्वोच्च न्यायालय ने 1950 के नजरबन्दी कानून (च्तमअमदजपअम क्मजमदजपवद ।बज) की चौदहवीं धारा को संविधान की बाईसवीं और बत्तीसवीं

राओं के विरुद्ध ठहराया । इस प्रकार के अन्य कितने ही अधिनियम न्यायपालिका द्वारा मूल अधिकारों के विपरीत प्रमाणित कर अवैध घोशित किये जा चुके हैं। इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय ने एक बहुत बड़ा कदम उठाया है। 27 फरवरी, 1967 को सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संविधान में जिन मौलिक अधिकारों की गारंटी है, संसद को उन्हें छीन लेने का कोई अधिकार नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीष श्री. सुब्बाराव ने बताया कि भारत में संविधान ही सर्वोच्च है और संविधान द्वारा जो अधिकार बताये गये हैं उन्हें बुनियादी कानून की व्यवस्था के अनुसार काम करना है। अन्य न्यायाधीषां ने कहा कि संविधान ने जो मौलिक अधिकार दिये हैं उनमें संसद को दखल देने का कोई अधिकार नहीं है। संविधान के तेरहवें अनुच्छेद में यह बताया गया है कि राज्य ऐसा कोई कानून नहीं बनायेगा जिसमें संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकारों पर आघात हो या वे रद्द हो जायें । सर्वोच्च न्यायालय ने इसी पर ध्यान रखकर अपना उक्त ऐतिहासिक फैसला किया है। इस प्रकार स्पश्ट है कि अब संसद को संविधान के तीसरे भाग में संषोधन करने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय के इस फैसले के मुताबिक नहीं रहेगा। परन्तु संसद इस अधिकार को फिर से प्राप्त करने के दृश्टिकोण से संविधान का 24वाँ संषोधन – विधेयक लोकसभा द्वारा पारित किया जा चुका है। सामान्य उपबन्धों के बाद संविधान में वास्तविक मूल अधिकारों का वर्णन किया गया है । आगे की पंक्तियों में हम इन्हीं अधिकारों का विस्तष्त विष्लेशण करेंगे।

2. समता का अधिकार (त्पहीज जव. म्ुनंसपजल)

समता प्रजातंत्र का आधारभूत सिद्धान्त हैं। हमारे संविधान निर्माताओं ने इस तथ्य को अच्छी तरह समझा था। अतः मूल अधिकारों की सूची में इसे प्राथमिकता प्रदान की गयी है। संविध ाान के 14 वें से 18 वें अनुच्छेदों में समता के अधिकार का वर्णन किया गया है। फिर इसे पाँच अलग अलग वर्गों में बाँटा गया है। इनका विवरण इस प्रकार है :

(क) कानून के समक्ष समता– संविधान इस बात की घोशणा करता है कि राज्य की दृश्टि में भारत का प्रत्येक नागरिक समान है। सबके लिए कानून बराबर है। संविधान के चौदहवें अनुच्छेद में यह स्पश्ट कर दिया गया है कि राज्य कोई भी ऐसा कानून नहीं बना सकता जो व्यक्ति को कानून की समता के अधिकार अथवा भारत – राज्य के अन्तर्गत नागरिकों को कानूनों के समान संरक्षण से वंचित करे। दूसरे षब्दों में, कानून द्वारा नागरिकों में कोई विभेद नहीं किया जा सकता इस प्रकार, कोई भी नागरिक – चाहे वह धनी हो या निर्धन, षिक्षित हो या अषिक्षित, उच्च हो या नीच – कानून से परे नहीं है और इस दृश्टि से किसी भी नागरिक को विषेशाधिकार अथवा विषेश सुविधा प्राप्त नहीं है।

समता का अधिकार हमारे संविधान का बहुत ही बड़ा महत्वपूर्ण अंग है। सबसे पहले इसके द्वारा ब्रिटेन की तरह हमारे देष में विधि के षासन की स्थापना हुई है जिसके अनुसार सरकारी तथा गैर सकारी व्यक्तियों में कानून के आचरण की दृश्टि से कोई विभेद नहीं किया जाता। सभी व्यक्ति एक तरह के कानून एवं एक तरह के साधारण आदेषों के मातहत हैं।

राज्य का कानून सबके लिए बराबर है। हमारी न्यायपालिका ने अपने न्यायिक निर्णयों द्वारा इसे और भी स्पश्ट कर दिया है।

इस सम्बन्ध में एक और बात स्पश्ट करने योग्य है। कानूनी समता का तात्पर्य यह नहीं है कि नागरिकों के बीच न्यायोचित भेदभाव नहीं किया जाय । जैसा कि न्यायधीष

! दीक्षित ने कहा था ‘‘कानून के सामने समता का अर्थ व्यक्तियों की पूर्ण समानता नहीं हैकृ समान संरक्षण का अर्थ यह है कि स्वयं कानूनों के क्रियान्वयन में मनमाना भेदभाव नहीं होना चाहिए । व्यवस्थापिका नागरिकों में उचित वर्गीकरण कर सकती है। पर इस प्रकार का वर्गीकरण मनमाना न हो और किसी व्यक्ति के हित पर इसका विपरीत प्रभाव नहीं पड़े।

‘इस सम्बन्ध में कुछ मुकदमों का उल्लेख किया जा सकता है। चिरंजीव लाला चौधरी बनाम भारत संघ नामक मुकदमे में संघीय सरकार पर यह आरोप लगाया गया कि भोलापुर कताई एवं बुनाई अधिनियम 1950 द्वारा सिर्फ एक कम्पनी को सरकार ने अपने हाथ लेकर अनुच्छेद 14 के विरुद्ध भेदभाव का बरताव किया है । परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने तथ्यों के अभाव में चिरंजीव लाला चौधरी के विरुद्ध निर्णय दिया । केदारनाथ बनाम पष्चिम बंगाल सरकार’ नामक मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने अपना निर्णय दिया कि यह पूर्णतः निष्चित हो गया है कि संविधान के अनुच्छेद 14 द्वारा प्रदत्त कानून के समक्ष समान संरक्षण का अर्थ यह है कि सभी कानून सामान्य प्रकृति के हों तथा उनका प्रभाव सर्वव्यापी हो तथा विधि निर्माण के लिए राज्य को षक्तियों या वस्तुओं में भेदभाव तथा वर्गीकरण करने का अधिकार नहीं है।

इन निर्णयों के बाद यह स्पश्ट है कि किसी प्रकार का भेदभाव अथवा वर्गीकरण मनमाना तथा अयुक्तिसंगत नहीं होना चाहिए। साथ ही उस भेदभाव अथवा वर्गीकरण का विपरीत प्रभाव किसी व्यक्ति के ऊपर नहीं पड़ना चाहिए। अनुच्छेद 14 द्वारा केवल राज्य पर ही भेदभाव की नीति के लिए रोक लगायी गयी है, व्यक्तियों के भेदभाव के व्यवहार पर नहीं क्योंकि उस पर रोक लगाने का अर्थ है, व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण द्य ।

(ख) सामाजिक समता अनुच्छेद 15 के अनुसार संविधान सामाजिक समता का अधि कार देता है। इसके अनुसार नागरिकों को आष्वासन दिया गया है. कि

1. राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूल, वंष, जाति, लिंग, जन्म स्थान

. अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा।

2. केवल धर्म, मूल, वंष, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार.

पर किसी भी नागरिक को

(प) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों, मनोरंजनो के स्थान में प्रवेष करने से

नहीं रोका जायगा.

(पप) पूर्ण अथवा आंषिक रूप से राज्यविधि द्वारा पोशित अथवा जनसाधारण के लिए बनाये गये कुओं, स्नान घाटों, पार्कों तथा सार्वजनिक उपभोग के स्थानों का उपभोग करने से वंचित नहीं किया जा सकता है।

इस अधिकार पर गाँधीजी के विचारों का स्पश्ट प्रभाव दृश्टिगोचर होता है। सामाजिक समता की स्थापना प्रजातंत्र की सफलता के लिए आवष्यक षर्त है। भारत के षिषु प्रजातंत्र को इससे बहुत षक्ति प्राप्त हुई है। इस अधिकार के द्वारा धर्म, वंष, जाति, लिंग, जन्मस्थान के आधार पर किये जानें वाले भेदभाव को निशिद्ध ठहराकर बहुत दिनों से प्रचलित सामाजिक असमानता की बुराई दूर करने की कोषिष की गयी है। इस प्रकार भारतीय प्रजातंत्र में इस अधिकार की महत्ता बहुत अधिक है ।

कुछ कारणवष संविधान ने इस अधिकार पर भी कुछ प्रतिबंध लगा दिये हैं। सामाजिक समता उसी स्थिति में सम्भव है जब सभी नागरिकों की सामाजिक स्थिति समान हो। हमारे देष में ऐसी बात नहीं है और कुछ वर्गों की सामाजिक स्थिति काफी पिछड़ी हुई है। अतएव राज्य को स्त्रियों और बच्चों के लिए विषेश व्यवस्था करने का अधिकार है। संविध न में किये गये प्रथम संषोधन (1951) द्वारा सार्वजनिक षिक्षासंस्थाओं में पिछड़े एवं अनुसूचित वर्गों तथा आदिम जातियों के लिए विषेश सुविधा के प्रबन्ध का अधिकार राज्य को दिया गया है। इसके अतिरिक्त राज्य पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी सेवाओं में कुछ स्थान सुरक्षित रख सकता है।

(ग) अवसर की समता गणतन्त्र पद्धति की सबसे बड़ी विषेशता यह है कि बिना किसी भेदभाव के कोई भी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसर राज्य के किसी भी पंद पर पहुँच जाय। यह तभी सम्भव है जब नगरिकों को सार्वजनिक पद की प्राप्ति में अवसर की समता का अधिकार दिया जाय। अतएव संविधान के 16वें अनुच्छेद द्वारा राज्याधीन सभी सार्वजनिक पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में अवसर की समानता दी गयी है। संविधान इस बात का आष्वासन देता है कि जाति, धर्म, वर्ण, लिंग आदि के आधार पर नागरिकों में कोई भेदभाव नहीं किया जायगा । परन्तु इस सम्बन्ध में भी दो अपवाद हैं। संसद को यह अधि ाकार दिया गया है। कि सरकारी नौकरियों में वह निवास स्थान की आवष्यक योग्यता लगा दे। दूसरे षब्दों में, संसद कानून बनाकर यह निष्चित कर दे कि अमुक सेवाएं किसी राज्य के या स्थानीय पद वहीं के निवासियों के लिए सुरक्षित हैं। स्थानीय हितों की रक्षा के लिए यह आवष्यक था। दूसरे राज्य को यह अधिकार है कि वह पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों में कुछ स्थान सुरक्षित रखे । परन्तु पिछड़ी जातियों की नियुक्ति करते समय षासन की कुषलता को भी ध्यान में रखना आवष्यक समझा जायगा। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 355 में इस बात को स्पश्ट लिख दिया गया है कि सरकारी पदों पर पिछड़े वर्गों की नियुक्ति का दावा वहीं तक उचित होगा जहाँ तक षासन की कुषलता को उससे ठेस नहीं पहुँचे । तीसरे यह व्यवस्था धार्मिक स्वतंत्रता पर व्याघात नहीं कर सकती। इसका किसी ऐसे कानून के प्रवर्तन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा जिसके अनुसार किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के कार्य से सम्बन्ध कोई पदाधिकारी या उसके षासी निकाय का सदस्य किसी विषिश्ट धर्म का अनुयायी या किसी सम्प्रदाय का होना चाहिए। :

(घ) अस्पष्ष्यता का अन्त सामाजिक समता और अस्पष्ष्यता का व्यवहार परस्पर विरोधी बाते हैं। जब संविधान ने सामाजिक एकता के सिद्धान्त को गले लगाया है तो आवष्यक था कि अस्पष्ष्यता का अन्त भी कर दिया जाय। छुआ छूत हमारे समाज का एक ऐसा कलंक है जो सदियों से चला आ रहा है। संविधान ने सदा के लिए इस व्यवहार का अन्त कर दिया है। संविधान के अनुच्छेद 17 में कहा गया है कि अस्पष्ष्यता का अन्त किया जाता है और किसी भी रूप में अस्पष्ष्यता का आचरण निशिद्ध तथा दण्डनीय है। अस्पष्ष्यता से उत्पन्न किसी अयोग्यता को लागू करना अपराध है जो कानून के अनुसार दण्डनीय है ।

इस अनुच्छेद पर भी महात्मा गाँधी के विचारों का स्पश्ट प्रभाव है। गाँधीजी ने ही 'अछूतोद्धार आन्दोलन चलाकर एक महान् सामाजिक क्रान्ति लाने की चेश्टा की । संविधान निर्माताओं ने भी छुआछूत को एक सामाजिक बुराई रूप में स्वीकार किया और इसका अन्त कर दिया । इसी व्यवस्था के आधार पर 1955 में संसद ने अस्पष्श्यता अपराध अधिनियम पारित किया। उसी अवसर पर गष्ह्रमंत्री ने संसद में कहा था कि छूआं छूतरूपी कैन्सर हमारे समाज की रगों मे घुस चुका है। यह न केवल हिन्दू समाज पर एक दाग है, वरन् यह समाज में असहिश्णुता और साम्प्रदायिकता जैसी अनेक बुराइयों की जड़ है। छुआ–छूत का विचार हमारे संविधान के स्वरूप, भावना तथा उपबन्धों के पूर्णतः प्रतिकूल है।

:अस्पष्ष्यता अपराध अधिनियम का उद्देष्य अनुसूचित जातियों के साथ किये जानें वाले भेदभाव को अवैध ठहराना है। इसके द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि अस्पष्ष्यता के आध ाार पर किसी व्यक्ति को सार्वजनिक पूजास्थान में प्रवेष करने या प्रार्थना करने या धार्मिक कार्य करने से रोकना अपराध हैं अस्पष्ष्यता के आधार पर किसी व्यक्ति को किसी दुकान, सार्वजनिक जलपानगष्ह, होटल, धर्मषाला, सराय में वस्तुओं के प्रयोग करने या कोई धन्या काम, व्यापार वाणिज्य करने या किसी नदी, कुआँ, तालाब, स्नानघाट, षमषानघाट सड़क, रास्ता आदि के प्रयोग से रोकना भी अपराध है। इसी आधार पर किसी व्यक्ति को किसी अस्पताल, औशधालय, षिक्षणसंस्था या सार्वजनिक जलपानगष्ह आदि में भी प्रवेष से नहीं रोका जा सकता है। अधिनियम में स्पश्ट व्यवस्था कर दी गयी है कि अस्पष्ष्यता का आचरण करने वाले को छह महीने तक का कारावास या पाँच रूपये तक जुर्माना या दोनों सजाएँ दी जा सकती हैं।

(ङ) उपाधियों का अन्त – अनावष्यक उपाधियाँ समाज में कृत्रिम असमानता उत्पन्न करती हैं। अंग्रेजी षासनकाल में इस तरह की कई उपाधियाँ दी जाती थीं, जैसे–

रायबहादुर, रायसाहब सर आदि । लेकिन यह प्रथा प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों का उल्लंघन करती है। यह व्यर्थ ही सामाजिक असमानता स्थापित करती है। अतएव संविधान के 18वें अनुच्छेद द्वारा सेना तथा षिक्षा से सम्बद्ध उपाधियों को छोड़कर अन्य सभी उपाधियों का अन्त कर दिया गया है। यह भी स्पश्ट कर दिया गया है कि कोई भारतीय नागरिक किसी विदेषी राज्य की कोई उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता। भारत सरकार का कोई विदेषी 'सेवक भी राश्ट्रपति की अनुमति के बिना कोई विदेषी उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता है। फिर भी विभिन्न क्षेत्रों में की गयी विषिश्ट सेवाओं के लिए राज्य नागरिकों कुछ उपाधि प्रदान कर सकता है। भारत–रत्न, पद्यमविभूशण आदि उपाधियाँ इसी कोटि में आती हैं।

समता के अधिकार की आलोचना – समता के अधिकार की आलोचनाएँ भी की गयी हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि नागरिकों को राजनीतिक और न्यायिक समता नहीं दी गयी है। अस्पष्ष्यता का अन्त अवष्य किया गया है परन्तु भारतीय समाज में यह अब भी विद्यमान है। बिना मनोवैज्ञानिक क्रान्ति के इस रोग को दूर नहीं किया जा सकता है। सर आइवर जेनिंग्स ने संविधान के अनुच्छेद 18 पर सबसे अधिक प्रहार किया है। उन्हीं के षब्दों में, ऐसा प्रतीत होता है यदि सर जॉन ब्राउन डॉ० जॉन ब्राउन या. जनरल ब्राउन बन जाते हैं या वे स्वर्णजणित मोटर पर घूमते है या वे अपनी स्त्री को जवाहरात और सिल्क की साड़ियों से लाद देते हैं तो समता के अधिकार का खण्डन नहीं होता, परन्तु यदि उनके जैसा (सर आइवर जेनिंग्स जैसा) कोई प्राध्यापक नाइट की निःषुल्क उपाधि प्राप्त कर लेता है तो समता के अधिकार का खण्डन हो जाता है।''

3. स्वतंत्रता का अधिकार (त्पहीज जव थ्तममकवउ)

'नागरिकों के विभिन्न मौलिक अधिकारों में स्वतंत्रता का अधिकार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रजातांत्रिक षासनव्यवस्था के लिए जितना अधिक महत्त्व समानता का है इससे किसी भी दषा में कम महत्व स्वतंत्रता का नहीं है। वस्तुतः स्वतंत्रता प्रजातंत्र का एक प्रमुख आध ाार है। स्वतंत्रता के बिना व्यक्ति का जीवन बेकार है। अतएव नागरिकों को अपने व्यक्तित्व

के विकास के लिए भारतीय संविधान द्वारा स्वतंत्रता के अधिकार भी दिये गये हैं। इस अधिकार का उल्लेख 19वें से 22वें अनुच्छेदों में किया गया है। इसमें अनुच्छेद 19 सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा नागरिकों को सात प्रकार की स्वतंत्रताएँ दी गयी हैं जिन्हें 'संप्त स्वतंत्रताएँ कहते हैं। इनके द्वारा नागरिकों को वैयक्तिक स्वतंत्रता की गारंटी ही न दी गयी है, बल्कि उन सभी दषाओं को भी प्रस्तुत किया गया है जिनसे उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। उस पर कुछ आवष्यक प्रतिबन्ध लगाना भी आवष्यक हो जाता

है। इन अधिकारों के दुरुपयोग से बचाने के लिए संविधान द्वारा कुछ आवष्यक नियंत्रण भी लंगा दिया गया है।

.अनुच्छेद 19 के अन्तर्गत नागरिकों की सात स्वतंत्रताओं का वर्णन किया गया है पायली ने इसी कारण इस अनुच्छेद को सम्पूर्ण संविधान की कुंजी कहा है। इस अनुच्छेद द्वारा जिन सात स्वतंत्रताओं की चर्चा की गयी है, वे इस प्रकार हैं :

(क) भाशण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

(ख) षान्तिपूर्ण एवं निःषस्त्र होकार सम्मेलन की स्वतंत्रता

(ग) संस्था या संघ बनाने की स्वतंत्रता

(घ) भारत में अबाध संचरण विचरण की स्वतंत्रता.

(ड) भारत के किसी भाग में निवास करने तथा बसने की स्वतंत्रता

(च) सम्पत्ति के अर्जन, धारण एवं व्यय की स्वतंत्रता –

(छ) कोई वषत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता

(क) भाशण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता – किसी भी जनतांत्रिक पद्धति में भाशण देने और अपने विचारों को स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट करने का अधिकार नितान्त आवष्यक है। इसके बिना न तो व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास हो सकता है और न स्वस्थ जनमत का निर्माण ही । अतएव संविधान द्वारा भारतीय नागरिकों को यह अधिकार दिया गया है। प्रेस की स्वतंत्रता भी इसी में सम्मिलित है। भारत के प्रत्येक नागरिक को भाशण देने, लिखने और किसी भी माध्यम से अपने विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता दी गयी है।

इस स्वतंत्रता पर कुछ आवष्यक प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये हैं क्योंकि यह अधिकार. किसी भी हालत में असीमित नहीं हो सकता। राज्य की सुरक्षा और सार्वजनिक हित के लिए इस पर आवष्यक प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं। संविधान में कहा गया है कि राज्य की सुरक्षा, विदेषी राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक सुव्यवस्था, षिश्टता एवं नैतिकता के हिंत में तथा न्यायालय के अपमान, मानहानि की स्थिति और अपराधों के प्रोत्साहन को रोकने के लिए नागरिकों की इस स्वतंत्रता पर राज्य प्रतिबन्ध लगा सकता है।

मूल संविधान में भाशण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्राता पर बहुत कम प्रतिबन्ध लगाये गये थे। बाद में अनुभव किया गया कि स्वतंत्रता के दुरुपयोग को रोकने के लिए संविधान में जो व्यवस्था की गयी है, वह पर्याप्त नहीं हैं। कुछ मुकदमों के निर्णयों ने तो इस बात की आवष्यकता और बढ़ा दी कि भाशण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अधिक प्रतिबन्ध लगाना– आवष्यक है। 'रमेष थापर बनाम मद्रास राज्य' नामक मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय देते हुए कहा कि ''यदि भाशण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से सार्वजनिक सुरक्षा खतरे में हो लेकिर राज्य की सुरक्षा कमजोर नहीं पड़ी हो तो राज्य इस स्वतंत्रता को सीमाबद्ध नहीं कर सकता है।" इसी तरह 1951 में भारती प्रेस से सम्बद्ध मुकदमे में पटना के उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि ''यदि भाशण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से राज्य की सुरक्षा कमजोर नहीं पड़े, भले ही उससे अपराध या हत्या को प्रोत्साहन मिलें, तो राज्य

उसें सीमाबद्ध नहीं कर सकता है।'' इन निर्णयों के बाद भाशण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर और भी प्रतिबन्ध लगाना आवष्यक हो गया। अतः संविधान में संषोधन की आवष्यकता जान पड़ी और 1951 में संविधान का प्रथम संषोधन हुआ। इस संषोधन द्वारा प्रतिबन्ध वाले उपबन्ध में 'युक्तिसंगत, 'सार्वजनिक सुव्यवस्था' और 'विदेषी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध

,1. क्या भारतीय संविधान में मूल–

अधिकारों को सीमित करने की व्यवस्था भी की गई है? 2. क्या भारतीय संविधान में मूल अधिकारों को संषोधित करने की व्यवस्था भी है?

जोड़ दिये गये हैं। इस प्रकार कतिपय अन्य प्रयोजन बढ़ा दिये गये हैं, जिन्हें दृश्टि में रखकर भाशण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर संघ और राज्य की सरकारें प्रतिबन्ध लगा सकती हैं। इस प्रकार, वर्तमान समय में निम्नलिखित प्रयोजनों से नागरिकों के भाशण और अभिव्यक्ति को स्वतंत्रता पर युक्तिसंगत प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैंकृ (क) राज्य की . सुरक्षा, (ख) विदेषों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, (ग) सार्वजनिक व्यवस्था, (घ) अपराध को उकसाने से रोकना, (ड़) नैतिकता व षिश्टता, (च) न्यायालय के अपमान को रोकना, (छ) अपमान – लेख, अपमान – वचन और मानहानि रोकना ।

इस प्रकार भाशण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को काफी सीमित कर दिया गया है। कुछ विचारकों का कहना है कि प्रयोजन काफी व्यापक हैं। उन्हें आषंका है कि सार्वजनिक व्यवस्था और राज्य की सुरक्षा की आड़ में सरकार ऐसे कानूनों का निर्माण कर सकती है जिनसे भाशण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार नाममात्र का रह जाये। विचारकों का तर्क है कि प्रजातांत्रिक राज्य में बहुमत दल वाले अल्पमत दल के विचारों का प्रचार रोकने के लिए भी ऐसे कानूनों का निर्माण करवा सकते हैं। परन्तु विचारक यह भूल जाते हैं कि भारत के संषोधित संविधान में 'युक्तिसंगत प्रतिबन्ध' षब्द का प्रयोग किया गया है। सरकार ऐसे ही कानूनों का निर्माण कर सकती है जिनसे भाशण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर जो प्रतिबन्ध लगें वे युक्तिसंगत हों। इसके निर्णय का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को है कि कानून द्वारा जो प्रतिबन्ध लगाये गये हैं वे युक्तिसंगत हैं अथवा नहीं। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीष राजनीतिक दलबन्दी से ऊपर होते हैं। अतः आषा की जाती है कि वे इसका निर्णय सही देंगे कि भाशण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाये गये प्रतिबन्ध संगत हैं अथवा नहीं। 'चिन्तामणि राव बनाम मध्यप्रदेष राज्य' नामक मुकदमे में न्यायालय ने यह स्पश्ट कर दिया है कि विधानमंडल द्वारा युक्तिसंगत प्रतिबन्ध का निर्धारण अन्तिम नहीं माना जायेगा। यह अधिकार न्यायालय को प्राप्त है । 'द्वारका प्रसाद बनाम उत्तर प्रदेष राज्य' नामक मुकदमे में युक्तिसंगत प्रतिबन्ध' षब्द की व्याख्या करते हुए सर्वोच्च 'न्यायालय ने कहा कि ''युक्तिसंगत प्रतिबन्ध पद का अर्थ है कि किसी व्यक्ति के अधिकार उपभोग पर स्वेच्छापूर्ण एवं सार्वजनिक हित की आवष्यकता से अधिक प्रतिबन्ध न लगाया जाय । यदि कोई विधि स्वेच्छापूर्ण अथवा अथवा अत्यधिक मात्रा में एक अधिकार का अतिक्रमण करे तो उसे युक्तिसंगत कदापि नहीं कहा जा सकता और जब तक वह प्रत्याभूत स्वतंत्रता तथा 19वें अनुच्छेद के अन्तर्गत निर्धारित सामाजिक नियंत्रण में उचित सन्तुलन स्थापित नहीं करता, तब तक उसे युक्तिसंगत संज्ञा नहीं दी जा सकती ।''

भाशण और विचार – अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में एक बहुत बड़ा दोश देखने को यह मिलता है कि इसमें को स्वतंत्रता का अलग से उल्लेख नहीं किया गया है। भारतीय संविधान के आलोचकों ने लोगों का इस ओर भी ध्यान आकृश्ट किया है। वस्तुतः संविध

– निर्माता प्रेस की स्वतंत्रता का अलग से उल्लेख करने के पक्ष में नहीं थे। उनका तर्क यह था कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में प्रेस की स्वतंत्रता अन्तर्निहित है, क्योंकि प्रेस किसी व्यक्ति द्वारा विचार – अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है। प्रेस की स्वतंत्रता पर भी युक्तिसंगत प्रतिबन्ध की व्यवस्था की गयी है।

1 ख) षान्तिपूर्ण एवं निःषस्त्र सम्मेलन की स्वतंत्रता – संविधान द्वारा नागरिकों को किसी भी प्रकार की सभा या सम्मेलन करने की पूरी आजादी है । कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार के सभा–सम्मेलन का आयोजन कर सकता है। जनतंत्र की सफलता के लिए यह स्वतंत्रता आवष्यक है क्योंकि इससे जनमत का निर्माण होता है, पर यह स्वतंत्रता भी असीमित नहीं है। इस पर भी कुछ आवष्यक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। जैसे

1. सम्मेलन षान्तिपूर्ण होना चाहिए।''

2. उसमें किसी के पास अस्त्र–षस्त्र नहीं होने चाहिए और 3. सम्मेलन के कारण कोई सार्वजनिक अव्यवस्था नहीं उत्पन्न होनी चाहिए। परन्तु विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की तरह इस स्वतंत्रता के सम्बन्ध में भी प्रतिबन्धों की व्यवस्था की गयी है, किन्तु प्रतिबन्ध ा युक्तिसंगत होना चाहिए । प्रतिबन्ध युक्तिसंगत है या नहीं, इसके निर्णय का भी अधि कार न्यायालय को है । अतः सरकार इसका दुरुपयोग नहीं कर सकती है। पटना के उच्च न्यायालय ने इस सम्बन्ध में ''इन्द्रदेवसिंह बनाम बिहार राज्य'' नामक मुकदमे के फैसले के सिलसिले में कहा कि ''यह निष्चित करना न्यायालय का कार्य है कि लगाये गये प्रतिबन्ध

उचित हैं अथवा नहीं।''

(ग) संस्था या संघ बनाने की स्वतंत्रता – संविधान द्वारा प्रत्येक नागरिक को संस्था और संघ बनाने का अधिकार है। प्रजातंत्र की सफलता के लिए यह स्वतंत्रता आवष्यक है। राजनीतिक दलों का निर्माण इसी के आधार पर होता है । किन्तु इस स्वतंत्रता पर भी कुछ आवष्यक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। सार्वजनिक सुरक्षा तथा नैतिकता के हित में राज्य इस स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। जैसे, इस प्रकार का कोई संघ या संगठन नहीं बनाया जा सकता है जिसका उद्देष्य शड्यंत्रकारी हो अथवा जो अनैतिकता को प्रोत्साहित करता हो । सर्वोच्च न्यायालय ने ''बी. जी. बनाम मद्रास राज्य'' नामक मुकदमे के फैसले के सिलसिले में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि ''संस्था या संघ बनाने की स्वतंत्रता अत्यधिक व्यापक है जिसे मर्यादित करने से धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों पर बड़ी प्रतिक्रिया हो सकती है।''

इस स्वतंत्रता के अधिकार की सबसे बड़ी विषेशता यह है कि इसके सम्बन्ध में साह रण नागरिकों और सरकारी कर्मचारियों में विभेद किया गया है। साधारण नागरिकों को संघ बनाने का अधिकार प्राप्त है, परन्तु सरकारी कर्मचारियों को उनकी सेवा की षर्तों के अन्तर्गत ही इस अधिकार के उपभोग का अधिकार प्राप्त हैं। यदि उनकी सेवा की षर्तों के अनुसार संघ का निर्माण गलत है तो वे संघ नहीं बना सकते हैं।

संविधान द्वारा

(घ) भारत में अबाध संचरण – विचरण की स्वतंत्रता भारतीय नागरिकों को सम्पूर्ण भारत में बेरोक–टोक घूमने और आने–जाने की स्वतंत्रता दी गयी है। देष की सार्वभौम एकता एवं भावात्मक एकीकरण की भावना को प्रोत्साहित करने के लिए यह अधिकार आवष्यक है। लेकिन यह स्वतंत्रता भी असीमित नहीं है। राज्य को इस स्वतंत्रता के उपयोग पर दो बातों में प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार है। जनसाधारण तथा अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा के लिए राज्य प्रतिबन्ध लगा सकता है। उदाहरण के लिए, कलकत्ता उच्च न्यायालय ने 1950 में पष्चिम बंगाल सुरक्षा कानून की धारा 38 को इस कारण अवैध घोषित कर दिया कि उसके द्वारा नागरिकों के अबाध संचरण – विचरण की स्वतंत्रता पर अनुचित लगाया गया था ।

(ड.) भारत के किसी भाग में निवास करने तथा बसने की स्वतंत्रता भारत के नागरिकों को यह अधिकार है कि वे भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास कर सकें या बस सकें। किन्तु राज्य सार्वजनिक हित में अथवा अनुसूचित आदिम जातियों के हितों में इस अधिकार पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। इस स्वतंत्रता पर भी युक्तिसंगत प्रतिबन्ध ही लगाया जा सकता है। यदि प्रतिबन्ध न्यायालय की राय में युक्तिसंगत नहीं है तो न्यायालय उसे अवैध घोषित

कर सकता है। उदाहरण के लिए, सर्वोच्च न्यायालय ने '' इब्राहिम वजीर बनाम बम्बई राज्य'' नामक मुकदमे में 1954 में पाकिस्तानी षरणार्थी आगमन

(नियंत्रण) कानून 1949 की धारा 7 को इस कारण अवैध घोशित कर दिया था कि उसके द्वारा भारत के किसी भाग में निवास करने तथा बसने की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाया गया था ।

(च) सम्पत्ति के अर्जन धारण एवं खर्च की स्वतंत्रता इसके अन्तर्गत नागरिकों को सम्पत्ति के अर्जन, धारण एवं खर्च करने का पूर्ण अधिकार है। साधारण स्थिति में राज्य नागरिकों के इस अधिकार में हस्तक्षेप नहीं कर सकता, परन्तु राज्य इस स्वतंत्रता पर भी सार्वजनिक हित में और अनुसूचित जातियों के हित में प्रतिबन्ध लगा सकता है। इस स्वतंत्रता को सीमित करने के उद्देष्य से संविधान का 25 वाँ संषोधन विधेयक लोकसभा में पेष किया जा चुका है।

(छ) कोई वषत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता भारत का प्रत्येक नागरिक कोई भी जायज पेषा, व्यापार और कारोबार करने हेतु स्वच्छन्द है। संविधान नागरिकों को अपनी इच्छा और योग्यता के अनुसार किसी भी पेषे को ग्रहण करने का अधिकार देता है। किन्तु संविधान यहाँ भी दो प्रकार का प्रतिबन्ध लगाता है। राज्य सार्वजनिक हित की रक्षा के लिए इस अधिकार के उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। फिर, राज्य को अधिकार है कि वह किसी व्यवसाय या पेषे के लिए कुछ आवष्यक योग्यता निर्धारित कर सके। 1951 के प्रथम संवैधानिक संषोधन ने राज्यों को अधिकार दे दिया है कि या तो वे स्वयं या राज्य के स्वामित्व अथवा नियंत्रण में किसी निगम द्वारा कोई पेषा या व्यापार चला सकते हैं और इस पेषे या व्यापार से निजी व्यक्ति पूर्णरूप से अथवा आंषिक रूप से वंचित किये जा सकते हैं।

परन्तु इस स्वतंत्रता पर भी युक्तिसंगत प्रतिबन्ध ही लगाये जा सकते हैं। यदि न्यायालय की राय में युक्तिसंगत प्रतिबन्ध युक्तिसंगत नहीं है तो न्यायालय उसे अवैध घोशित कर सकता है। उदाहरण के लिए, सर्वोच्च न्यायालय ने रषीद अहमद बनाम भारत संघ नामक मुकदमे में उत्तर प्रदेष कैराना नामक नगरपालिका के उपनियमों को क्योंकि उन उपनियमों द्वारा नागरिकों के व्यवसाय के अधिकार पर आघात पहुँचाया गया था। इसी प्रकार 1950 में सर्वोच्च न्यायालय ने 'मध्यप्रदेष बीड़ी कानून की उन धाराओं को अवैध घोशित कर दिया जिनके द्वारा मध्यप्रदेष की सरकार ने कुछ ग्रामों में बीड़ी बनाने पर प्रतिबन्ध लगाकर लोगों के जीविकोपार्जन पर अनुचित प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की थी।

इस अधिकार को डॉ एम. बी. पायली ने बहुत अधिक महत्वपूर्ण माना है। उन्हीं के षब्दों में, ''अपने मन के अनुसार व्यवसाय, वृत्ति, उपजीविका अथवा कारोबार करने से सम्बद्ध. अधिकार को प्रत्याभूत करने से एक गतिषील प्रजातंत्रात्मक समाज की स्थापना में पर्याप्त सहायता मिलती है। इन अधिकारों को प्रत्याभूत कर संविधान–निर्माताओं ने एक वास्तविक प्रजातंत्र की स्थापना का कार्य किया है।''

व्यक्तिगत स्वतंत्रता – संविधान के अनुच्छेद 20, 21 और 22 द्वारा नागरिकों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रदान की गयी है। संविधान के अनुच्छेद 20 में कहा गया है कि किसी भी नागरिक को मनमाने ढंग से दंड नहीं दिया जा सकता है। कोई व्यक्ति दंड का भागी. तभी हो सकता है जब वह किसी प्रचलित कानून को तोड़े। साथ ही अभियुक्त को अपराध ज करने पर कानून के मुताबिक ही दंड दिया जा सकता है। राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बना सकता है जो किसी बीती घटना पर लागू हो। इसके अतिरिक्त किसी अपराध में किसी अभियुक्त को स्वयं अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक दंडित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार स्पश्ट हो जाता है कि अनुच्छेद 20 द्वारा नागरिकों को अपराध के लिए

दोश–सिद्धि एवं दंडित होने से संरक्षण प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 21 द्वारा नागरिकों को जीवन तथा दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 21 में कहा गया है कि. किसी भी व्यक्ति को अपने जीवन सम्बन्धी या दैहिक स्वतंत्रता से कढ ा न ू न द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से वंचित किया नहीं जा सकता है।

इस प्रकार, इस अधिकार द्वारा नागरिकों को षारीरिक कश्ट पहुँचाने। नजरबन्दी तथा कैद से सुरक्षा प्रदान की गयी है। संविधान में स्पश्ट कह दिया गया है कि कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर किसी भी भारतीय नागरिक को अपने दैहिक तथा जीवन की स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जा सकता है। नागरिकों के इस अधिकार को ए. के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य' नामक मुकदमे के निर्णय के सिलसिले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा स्पश्ट किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीष ने कहा कि ''कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया द्वारा विधान–मंडलों को कानून बनाने का अन्तिम अधिकार दे दिया गया है।'' न्यायालय का काम सिर्फ यह देखना है कि किसी भी नागरिक के जीवन या दैहिक स्वतंत्रता पर किसी कानून द्वारा अथवा बिना किसी कानून के ही आघात तो इस प्रकार न्यायालय को कानून की वैधता पर विचार करने का ही अधिकार नहीं है, बल्कि बन्दीकरण की कानूनी प्रक्रिया पर भी विचार करने का अधिकार है।

अनुच्छेद 22 द्वारा भारत नागरिकों को बन्दीकरण तथा नजरबन्दी से संरक्षण प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 22 में स्पश्ट कहा गया है कि बन्दी बनाये गये किसी भी व्यक्ति को षीघ्र ही गिरफ्तारी का कारण बताया जायेगा। बिना कारण बताये किसी को हवालात में बन्द नहीं रखा जा सकता। गिरफ्तारी के चौबीस घण्टे के भीतर उस व्यक्ति को निकटतम मजिस्ट्रेट के सामने पेष किया जायेगा और उस मजिस्ट्रेट की आज्ञा के बिना किसी व्यक्ति को चौबीस घण्टे से अधिक समय के लिए हवालात में बन्द नहीं रखा जा सकता। बन्दी को. अपनी रुचि के अनुसार वकील से परामर्ष लेने का अधिकार है। उसे अपने बचावों का प्रबन्ध ज करने से भी वंचित नहीं किया जा सकता।

इस अधिकार के दो अपवाद हैं– उपर्युक्त सुविधाएँ षत्रु देष के नागरिकों तथा नजरबन्दी निवारक या आन्तरिक सुरक्षा कानून 1971 के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों पर लागू नहीं होंगी। नजरबन्दी कानून के द्वारा राज्य को मनमाना करने का पूरा अधिकार मिल गया है। इसके सम्बन्ध में न्यायपालिका भी कुछ नहीं कर सकती है। इस क्षेत्र में संसद का निर्णय ही अन्तिम है। अतएव इस अधिकार के दुरुपयोग की पूर्ण सम्भावना है और राज्य की तरफ से ऐसा बार बार होता रहता है। संकटकाल में इन अधिकारों की आवष्यकता राज्य को हो सकती है, लेकिन साधारण स्थिति में इनका अस्तित्व मात्र ही वैयक्तिक स्वतंत्रता पर घोर अतिक्रमण है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 22 में ही निवारक निरोध की चर्चा की गयी है। इसके अनुसार केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों निवारक निरोध अधिनियम बनाने का अधिकार दिया गया है। इस व्यवस्था के अनुसार किसी भी व्यक्ति को तीन महीने के लिए बिना मुकदमा चलाये नजरबन्द किया जा सकता है। परामर्षदात्री समिति की सलाह से तीन महीने से अधि ाक भी किसी व्यक्ति को नजरबन्द किया जा सकता है। संविधान की इसी व्यवस्था के अनुसार 1950 ई. में निवारक निरोध अधिनियम पारित किया गया। इस अधि नियम द्वारा केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को यह अधिकार दिया गया कि यदि उन्हें सन्तोश. और विष्वास हो जाय कि किसी व्यक्ति के कार्य भारत या भारत के किसी भाग अथवा किसी राज्य की षान्ति एवं सुरक्षा के विरुद्ध हैं तो उसे नजरबन्द कर रखा जा सकता है।

संविधान में निवारक निरोध की व्यवस्था की आलोचना बड़े पैमाने पर हुई है। संविध नसभा में बोलते हुए ठाकुरदास भार्गव ने कहा कि ''यह हमारी असफलताओं का राजमुकुट है।'' बक्षी टेकचन्द्र ने कहा कि ''यह दमन तथा स्वतंत्रता हनन का पत्र है।'' डॉ. दुर्गादास वसु का कहना हैं कि इन उपबन्धों को न्यायोचित नहीं कहा जा सकता है और ये प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों के विपरीत हैं। विभिन्न न्यायाधीषों ने भी इसकी आलोचना बड़े पैमाने पर की है।

न्यायाधीष महाजन ने कहा था, ''निवारक निरोध कानून प्रजातांत्रिक प्राविधानों के प्रतिकूल है एवं विष्व के अन्य किसी प्रजातांत्रिक राज्य में यह नहीं पाया जाता है। बड़े आष्चर्य की बात है कि इसे भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों के अध्याय में स्थान दिया गया है।'' मुख्य न्यायाधीष पतंजलि षास्त्री ने भी इस व्यवस्था की आलोचना करते हुए कहा था कि ''निवारक निरोध व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर घोर आघात है। इसे रोकने के लिए जो भी थोडे से संरक्षण के साधनों की व्यवस्था की गयी है उन्हें लागू करने में न्यायालय अवष्य ही तत्पर रहे !'' विष्व के अन्य देषों की तुलना में भारत में निवारक निरोध की व्यवस्था बड़े. पैमाने पर की गयी है। अन्य देषों में संकटकाल के समय ही इसका प्रयोग किया जाता है, परन्तु भारत में षान्तिकाल और संकटकाल, दोनों समय इसका प्रयोग देखने में मिलता है । जी. एन. जोषी के अनुसार, ''भारत में निवारक निरोध एक संकटकालीन उपबन्ध हैं, लेकिन यह संकटकाल तक ही सीमित नहीं है।'' न्यायाधीष कानियां ने भी इस सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि ''अमेरिका और जापान के संविधानों में निवारक निरोध ा की व्यवस्था नहीं है, खासकर षांन्ति के समय, परन्तु भारत में इसे साधारण विधेयक के विशय के रूप में स्वीकार किया गया है जो उचित नहीं कहा जाता सकता।

परन्तु संविधान की इस व्यवस्था के पक्ष में भी बहुत–कुछ कहा जा सकता है। देष की तात्कालिक परिस्थिति तथा कुछ हिंसात्मक प्रवषत्तियों के कारण ही संविधान के निर्माताओं ने. इस उपबन्ध को संविधान में स्थान देना आवष्यक समझा। फिर भी इसकी बुराइयों को कम करने के दृश्टिकोण से इस पर निम्नलिखित प्रतिबन्धों की भी व्यवस्था की गयी हैः

1. निरोध की अवधि पर तीन महीने का प्रतिबन्ध,

2. बन्दी को नजरबन्दी के कारणों से अवगत कराना,

3. बन्दी को इसके विरुद्ध प्रार्थना करने की सुविधा प्रदान करना,

4. तीन महीने से अधिक की अवधि के लिए नजरबन्दी के कारणों पर विचार करने

की लिए एक परामर्षदात्री समिति की व्यवस्था करना ।

इकाई 8
भारतीय संविधान की fo'k"krk,।

विभिन्न विरोधी दलों द्वारा इस अधिनियम की कड़ी आलोचनाएँ हुईं थी। जिस दिन लोकसभा ने इस कानून को पारित किया था उस दिन विरोधी पक्ष 'काला कानून मुर्दाबाद', 'हिटलरषाही मुर्दाबाद' के नारे लगाता हुआ सदन से बाहर चला गया। श्री कृश्ण मेनन ने इस विधेयक को देष में फासिस्टवाद का अगुआ बताया । फ्रैंक एंथोनी ने इसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए एक कलंक बताया। ष्यामनन्दन मिश्र ने भी षंका प्रकट की इस कानून

का प्रयोग राजनीतिक विरोधियों को कुचलने के लिए किया जाएगा। परन्तु देष की परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए ऐसा करना जरूरी समझा गया ।

.स्वतंत्रता के अधिकार की आलोचना – भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रता के अधिकार की आलोचना भी बड़े पैमाने पर की गयी है। आलोचकों ने स्वतंत्रता के अधिकार के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये हैं

1. स्वतंत्रता के अधिकार पर लगे प्रतिबन्ध अत्यन्त संन्देहपूर्ण, अनिष्चित और लचीले । इसे उदाहरण द्वारा स्पश्ट किया जा सकता है। भाशण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को 'राज्य की सुरक्षा' और 'सार्वजनिक सुरक्षा' के हित में सीमित किया जा सकता है । परन्तु 'राज्य की सुरक्षा' और 'सार्वजनिक सुरक्षा' दोनों षब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ निष्चित नहीं है । इन षब्दों की व्याख्यां इस प्रकार की जा सकती है कि स्वतंत्रता का अधिकार ही समाप्त हो सकता है। सार्वजनिक सुरक्षा के नाम पर नागरिकों को उनकी स्वतंत्रता के अधिकारों से ही वंचित कर दिया जा सकता है।–

2. यह बात सही है कि नागरिकों को जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार प्रदान किये गये हैं। संविधान में स्पश्ट कहा गया है कि विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोडकर अन्य किसी प्रकार नागरिकों को उनकी दैहिक और जीवन से सम्बद्ध स्वतंत्रता के अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता है । परन्तु इसके संरक्षण की व्यवस्था सही अर्थ में नहीं की गयी है। न्यायालय का काम प्रक्रिया के औचित्य पर विचार करना नहीं है, उसका काम सिर्फ यह देखना है कि जीवन और दैहिक स्वतंत्रता के अपहरण में कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया का प्रयोग किया गया है अथवा नहीं। इससे नागरिकों का यह अधिकार खतरे में पड़ गया है।

3. आलोचकों ने सबसे अधिक आलोचना संविधान के अनुच्छेद 22 के अन्तर्गत निवारक निरोध ा की व्यवस्था की है। इस व्यवस्था को प्रजातांत्रिक व्यवस्था के ठीक प्रतिकूल कहा जा सकता है। श्री कामथ ने स्पश्ट षब्दों में कहा था, ''इस व्यवस्था द्वारा हम तानाषाही राज्य या पुलिस राज्य की स्थापना कर रहे हैं और यह व्यवस्था कांग्रेस के उन समस्त सिद्धान्तों के विपरीत है जिनका वह डंका बजा बजाकर इतने दिनों से प्रचार करती आ रही है । यदि हम ऐसे राज्य में षान्ति पा भी गये तो वह षान्ति कब्र और रेगिस्तान की नीरव षान्ति होगी। जब तूफान चलेगा तो इस दुर्व्यवस्था का बोझ इतना अधिक हो जायेगा कि . स्वतंत्रतारूपी इमारत भरभराकर गिर पड़ेगी।'' विरोध के बावजूद जब यह उपबन्ध संविधान में जुड़ गया तो कामथ ने बड़े दुःख के साथ अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा, ''यह दिन लज्जा और दुःख का है। ईष्वर ही भारतीय जनता की रक्षा करे।''

परन्तु इन आलोचनाओं के बाद भी इतना तो मानना ही होगा कि स्वतंत्रता स्वच्छन्दता नहीं है। नागरिकों को स्वतंत्रता अवष्य मिलनी चाहिए, परन्तु उससे भी अधिक राश्ट्र की सुरक्षा पर ध्यान देना चाहिए। राश्ट्रीय सुरक्षा के लिए स्वतंत्रताओं पर कतिपय सीमाएँ रखना आवष्यक प्रतीत हुआ । यही कारण है कि संविधान निर्माताओं ने नागरिकों की

क्या भारतीय संविधान भारतीय नागरिक को कोई भी वष्त्ति, आजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्राता देता है? 4. क्या भारतीय संविधान भारतीय नागरिक की संथाओं को चलाने का अधिकार होता है?

विभिन्न स्वतंत्रताओं पर प्रतिबन्ध लगाकर राश्ट्रविरोधी और हिंसात्मक तत्वों को दबाने का प्रयास किया है। हाल ही में पारित आन्तरिक सुरक्षा विधेयक, जिसकी कटु आलोचना की गयी हैं, के सम्बन्ध में स्पश्ट कर दिया गया है कि इसकी चपेट में केवल अराजक और हिंसक तत्व हीं लिये जायेंगे ।

षोशण के विरुद्ध अधिकार

सामाजिक षोशण प्रजातंत्र की स्थापना के मार्ग में बहुत बड़ी बाधक है। हमारा देष इसका प्रत्यक्ष उदाहरण रहा है। वस्तुतः मनुश्य द्वारा मनुश्यं का षोशण मानव–सभ्यता के लिए सबसे बड़ा अभिषाप है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भी हमारे देष में कुछ ऐसी कुरीतियाँ और प्रथाएँ प्रचलित थीं जिनसे एक मनुश्य का दूसरे द्वारा षोशण होता था। अनैतिक कार्यों के लिए स्त्रियों का दुरुपयोग कहीं कहीं साधारण बात थी। मद्रास की देवदासी प्रथा तथा राजस्थान की बाँदी प्रथा इस षोशण के कुछ उदाहरण हैं। हमारे संविधान निर्माताओं के लिए यह बिलकुल ही स्वाभाविक था कि वे इन कुप्रथाओं का अन्त कर दें, ताकि संविधान द्वारा सामाजिक प्रजातंत्र की स्थापना हो सकें। अतएव संविधान के 23 वें और 24 वें अनुच्छेद के अनुसार इस प्रकार के षोशण का अंत कर दिया गया है। नागरिकों को षोशण के विरुद्ध कुछ अधिकार मिले हैं, जिनके फलस्वरूप भारत का कोई भी नागरिक किसी दूसरे व्यक्ति का षोशण नहीं कर सकता है।

षोशण के विरुद्ध अधिकार का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है :

(क) बेगार और मनुश्यं के क्रय–विक्रय का अन्त – अँगरेजी षासनकाल में जमींदार तथा सरकारी अफसर मजदूरों से प्रायः बिना मजदूरी दिये जबरदस्ती काम करवाया करते थे। यह बेगारी' कही जाती थी। इसी प्रकार कहीं कहीं मनुश्यों का क्रय विक्रय भी होता था । संविधान द्वारा ये कुकार्य अपराध घोशित कर दिये गये हैं। अब कोई किसी की इच्छा के विरूद्ध काम नहीं करवा सकता। यदि कोई इस कार्य को करते हुए पकड़ा गया तो वह दंड का भागी होगा।

इस तरह संविधान द्वारा सामाजिक षोशण का अन्त कर दिया गया है, किन्तु राज्य के हित में एक अपवाद रखा गया है। यदि राज्य आवष्यक समझे तो सार्वजनिक हित के लिए नागरिकों से अनिवार्य रूप से कुछ सेवाएँ ले सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य देष की रक्षा के लिए सभी योग्य व्यक्तियों को सेना में अनिवार्य रूप से भरती कर सकता है। परन्तु ऐसा करने में राज्य धर्म, मूल, जाति, वर्ग आदि के आधार पर नागरिकों के बीच भेदभाव नहीं कर सकता।

(ख) बच्चों की रक्षा

कम उम्र वाले बच्चों से खतरनाक काम लेना भी एक प्रकार का षोशण है और भारत में इस प्रकार का षोशण होता था । इसलिए संविधान में कहा गया है कि चौदह वर्श से कम आयु वाले किसी बालक या बालिका से किसी कारखाने या खान में काम नहीं लिया जायेगा और न उन्हें किसी दूसरे संकटमय कार्यों में लगाया जा सकता है।

इस प्रकार भारतीय संविधान हर प्रकार के षोशण का अंत करने का उद्देष्य रखता है। लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए यह आवष्यक षर्त भी है। किन्तु इसकी सफलता के लिए यह आवष्यक है कि हमारे देष के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन हो । समाजवादी व्यवस्था में ही षोशण के विरुद्ध अधिकार का पूर्ण उपयोग हो सकता है। फिर भी, अब खुलेआम कोई आदमी ऐसा करने की हिम्मत नहीं कर सकता।

षोशण के विरुद्ध अधिकार की आलोचना – षोशण के विरुद्ध अधिकार के भी कुछ विद्वानों ने अपने तर्क दिये हैं। आलोचकों के अनुसार, व्यवहार में भारत में को समाप्त नहीं किया जा सका है। सामाजिक कुरीतियों को मिटाने के लिए सिर्फ न में उपबन्ध कर देने से ही काम नहीं चल सकता। आवष्यकता इस बात की है कि रीतियों के पीछे जो कारण हैं उन्हें दूर करें। इस बात में दो मत नहीं हैं कि सभी के पीछे एक ही कारण है और वह है देष की गरीबी । अतः षोशण को मिटाने के ज्य द्वारा एक प्रबल स्वस्थ नीति के अनुसरण की आवष्यकता है। परन्तु इसका अर्थ हीं कि संविधान में वर्णित षोशण के विरुद्ध अधिकार बेकार है। इसकी अपनी महत्ता की महत्ता पर प्रकाष डालते हुए श्री एस. सी. दास ने ठीक ही लिखा है कि ''भारत छड़े देष जहाँ गरीब और पिछड़े वर्ग षोशण के लिए आसानी से उपलब्ध हैं में इस र का बहुत अधिक महत्व है ।''

र्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (त्पहीज जव थ्तममकवउ व त्मसपहपवद)

धर्मनिरपेक्ष राज्य – धार्मिक सहिश्णुता हमारे देष की परम्परा रही है। हमारा देष धर्मों का देष है। इसमें संसार के प्रायः सभी धर्मों के अनुयायी निवास करते हैं। उनके भावना कायम रखना हमारा सर्वमान्य सिद्धान्त रहा है। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में गाँधी ने इस सिद्धान्त पर बहुत बल दिया था। अतएव हमारे संविधान निर्माताओं के जो गाँधीजी के अनुयायी थे– यह बिलकुल स्वाभाविक था कि संविधान द्वारा वे एक ज्य का निर्माण करें जिससे सभी ध र्मों को फलने फूलने का मौका मिले। इसलिए भारत को एक धर्म निरपेक्ष राज्य का स्वरूप दिया। इस राज्य में सभी व्यक्तियों को स्वतंत्रता दी गयी। सबको अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी धर्म में विष्वास करने धेकार दिया गया। राज्य इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। चूंकि उस समय भारत रदायिकता की भावना काफी प्रबल थी, इसलिए संविधान द्वारा नागरिकों इस अधिकार रंटी दी गयी है। संविधान के चार अनुच्छेद (25 से 28) नागरिकों की धार्मिक स्वतंत्रता

(क) कोई भी धर्म मानने, उसका आचरण और प्रचार करने का अधिकार धान के 25वें अनुच्छेद के अनुसार सभी व्यक्तियों को किसी भी धर्म को अबाध रूप ने, उसके अनुसार आचरण करने और बिना रोक टोक के उसका प्रचार करने रण की स्वतंत्रता है। राज्य इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। इस स्वतंत्रता को सार्वजनिक सुव्यवस्था, सदाचार तथा स्वास्थ्य की रक्षा के लिए किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक तथा अन्य प्रकार की लौकिक ओं को नियमित कर सके। राज्य को हिन्दुओं की सार्वजनिक धार्मिक संस्थाओं को के सभी वर्गों के लिए खोलने का अधिकार है। सिक्खों को कृपाण ध ारण करने तथा कर चलने का अधिकार है।

(ख) धार्मिक संस्थाओं को चलाने का अधिकार संविधान के 26वें अनुच्छेद सार सभी धार्मिक समुदायों को धार्मिक तथा परोपकारी संस्थाएँ स्थापित करने और पोशण करने का अधिकार होगा। उन्हें इनसे सम्बद्ध विशयों का प्रबन्ध करने इनके. म्पत्ति का अर्जन और कानून के अनुसार इनके प्रषासन का पूर्ण अधिकार होगा। इस म को केवल सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार तथा स्वास्थ्य की रक्षा के लिए ही सीमित जा सकता है।

(ग) धार्मिक कर से मुक्ति – अनुच्छेद 27 के अनुसार किसी भी व्यक्ति को ध धर्म विषेश के प्रचार के लिए कर नहीं देना पड़ेगा। धार्मिक प्रयोजन के लिए कर वसूलना असंवैधानिक होगा।

(ध) धार्मिक षिक्षा से सम्बद्ध अधिकार – अनुच्छेद 28 द्वारा यह स्पश्ट कर दिया गया है कि राज्यकोश से संचालित षिक्षा संस्थाओं में धार्मिक षिक्षा नहीं दी जा सकती. है । परन्तु यह धारा उन षिक्षा संस्थाओं पर लागू न होगी जिनकी व्यवस्था राज्य द्वारा तो होती हो, पर जो किसी ऐसे धार्मिक दान या न्यास (ज्तनेज) द्वारा स्थापित हुई हों जिनकी षर्तों के अनुसार उनमें धार्मिक षिक्षा देना अनिवार्य हो । संविधान में यह भी उल्लिखित है किं गर्मिक षिक्षा में भाग लेने या धार्मिक उपासना में सम्मिलित होने के लिए किसी को विवष नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त अधिकारों के विष्लेशण से यह साफ हो जाता है कि संविधान द्वारा सभी लोगों को पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता दी गयी है। वस्तुतः धर्मस्वातंत्र्य के ये मूल अधिकार ही भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य बना देते हैं।

6. सांस्कृतिक तथा षिक्षा सम्बन्धी अधिकार (ब्नसजनतंस ंदक म्कनबंजपवदंस त्पहीजे)

विविधता हमारे देष की एक मुख्य विषेशता है। इस देष में लोगों के तरह तरह के समूह हैं और सबकी अपनी अपनी संस्कृति और भाषा है। यह आवष्यक था कि इन विभिन्न संस्कृ तियों और भाषाओं का उचित संरक्षण हो । भारतीय संविधान के निर्माताओं ने इस तथ्य का अनुभव किया और संविधान द्वारा धर्म तथा भाषा पर आधष्त विभिन्न अल्पसंख्यक समूहों

की अपनी संस्कृति तथा भाशा के उत्थान और विकास के लिए समुचित प्रबन्ध किया । संविध्ा आन के दो अनुच्छेद (29 तथा 30) इन्हीं अधिकारों से सम्बद्ध हैं ।

(क) अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा 29वें अनुच्छेद के अनुसार भारत के नागरिकों के किसी वर्ग को अपनी विषेश भाशा, लिपि या संस्कृति को बनाये रखने का अधि कार है। इस अध्िाकार की प्राप्ति से अल्पसंख्यक जातियों को अपनी संस्कृति की राज्य से सहायता पाने वाली संस्थाओं में धर्म, जाति, मूल वंष, भाशादि के आधार पर किसी तरह की भेदभाव की नीति का अवलम्बन नहीं किया जायेगा ।

(ख) षिक्षा सम्बन्धी अधिकार – अनुच्छेद 30 के अनुसार भाशाई अल्पसंख्यक समुदायों को अपनी रुचि के अनुसार षिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रबन्ध करने का अधि कार है।

सम्पत्ति का अधिकार

सम्पत्ति के अधिकार का सैद्धान्तिक पहलू – सम्पत्ति के सम्बन्ध में राजनीति के विचारकों के दो मत हैं। एक पक्ष जिसे हम पूँजीवादी विचारधारा कह सकते हैं, सम्पत्ति के स्वाभाविक अधिकार के सिद्धान्त को मानता है और कहता है कि किसी की सम्पत्ति बिना उसकी अनुमति प्राप्त किये नहीं ली जानी चाहिए। ठीक इसके विपरीत एक समाजवादी विचारधारा है, जो सम्पत्ति को समाज की चीज बतलाती है। उसका कहना है कि सम्पत्ति को समाज के कल्याण के लिए लिया जा सकता है। भारतीय संविधान के निर्माता इन दोनों विचारध्ााराओं से प्रभावित थे। फिर भी भारतीय संविधान के निर्माण के समय पहली विचारधारा का ही बोलबाला रहा है। सम्पत्तिसम्बन्धी अधिकार का वर्णन करते समय यह तय कर दिया गया कि राज्य बिना मुआवजा दिये किसी की सम्पत्ति हस्तगत नहीं कर सकता

है। आगे चलकर जब यह देखा गया कि इस निर्णय से भारतीय आर्थिक जीवन में आवष्यक सुधार असम्भव है तो संविधान में संषोधन करना जरूरी हो गया। इन संषोधनों के अनुसार अब राज्य बिना मुआवजा दिये भी कुछ प्रकार की सम्पत्ति ले सकता है। इस प्रकार हमारे संविधान में अब उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं का समन्वय हो गया हैं।

अधिकार संविधान का 31वाँ अनुच्छेद नागरिकों की सम्पत्ति के अधिकार सम्बद्ध है। इसके अनुसार, भारत के नागरिकों को निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार है। राज्य किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति तब तक नहीं छीन सकता है जब तक उसे ऐसा करने के लिए कानून द्वारा अध्िाकार न मिल जाये। लेकिन, सार्वजनिक कार्यों के लिए व्यक्ति की सम्पत्ति पर राज्य कब्जा कर सकता है। इस स्थिति में राज्य को उचित मुआवजा देना पड़ेगा। मुआवजे की रकम निष्चित करने का अधिकार व्यवस्थापिका (कार्यपालिका को नहीं) को ही दिया गया है। पर इस क्षेत्र में उसके अधिकार भी असीमित नहीं हैं। अनुच्छेद 31 (2) में इस बात को स्पश्ट कर दिया गया है कि सम्पत्ति अपहरण के लिए बनाये गये कानूनों में मुआवजे की रकम तो निष्चित होनी ही चाहिए, साथ साथ उन सिद्धान्तों का भी निरूपण होना चाहिए जिनके आधार पर मुआवजा दिया जायेगा । संविधान निर्माता इतने से ही सन्तुश्ट नहीं हुए । अतः इसमें एक उपबन्ध और जोड़ दिया गया कि राज्य द्वारा व्यक्ति की सम्पत्ति पर अधिकार करने के लिए राज्य के विधानमंडलों द्वारा बनाये कानूनों को राश्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए।

इस प्रकार हम पाते हैं कि राज्य जिस सम्पत्ति पर कब्जा करेगा उसके लिए संविध आन के अनुसार मुआवजा दिया जाना आवष्यक है। संविधान के निर्माण के समय भारत के कतिपय प्रान्तों में जमींदारी उन्मूलन– विधेयकों पर विचार हो रहा था। इन अधिनियमों को सुरक्षित करने के लिए संविधान में यह भी लिख दिया गया है कि यदि संविधान के लागू होने के समय या उसके पहले या कुछ निष्चित समय के बाद कोई ऐसा अधिनियम बने जो व्यक्ति की सम्पत्ति के अधिकार का अतिक्रमण करता हो तो उस पर कोई आपत्ति संवैधानिक न होगी ।

संविधान का संषोधन संविधान लागू होने के समय यही स्थिति थी । किन्तु सम्पत्ति के इस अधिकार के कारण देष की आर्थिक प्रगति में काफी बाधा पड़ने लगी। संविध आन–निर्माताओं ने मुआवजे के पहलू पर काफी सतर्कता से काम लिया था। पर इसके बावजूद भूमि सुधार अधिनियमों को लेकर न्यायालयों में मुकदमेबाजी होने लगी। अतएव संविधान में संषोधन आवष्यक हो गया। 1951 में सम्पत्ति के अधिकार से सम्बद्ध पहला संषोध न स्वीकृत हुआ। इसके द्वारा अनुच्छेद 31 में दो धाराएँ (31 ए और 31 बी) जोड़ दी गयीं। साथ ही एक नवम अनुसूची को संविधान में जोड़ दिया गया।

धारा 31 ए द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि जमींदारी, जागीरदारी आदि प्रकार की सम्पत्ति को हस्तगत करने के लिए यदि किसी कानून का निर्माण किया जायेगा तो उसे इस आध ार पर अमान्य या अवैध घोशित नहीं किया जा सकता है कि वह संविधान में प्रतिपादित अधिकारों के प्रतिकूल है या उन्हें समाप्त अथवा संकुचित करता है।

धारा 31बी को संविधान में जोड़ने का एक ही उद्देष्य था कि भूमि सुधार अधि नियमों, जिनकी सूची नवम् अनुसूची में दी गयी है, को न्यायालय द्वारा अवैध घोशित किये जाने से संरक्षण प्रदान किया जाये। दूसरे षब्दों में, नवम अनुसूची में भी दिये गये जमींदारी उन्मूलन सम्बन्ध ी कानून संविधान द्वारा प्रतिपादित मूल अधिकारों के अतिक्रमण के कारण न्यायालय द्वारा अवैध घोशित नहीं किये जा सकते। इस प्रकार, स्पश्ट हो जाता है कि प्रथम संषोधन द्वारा जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार सम्बन्धी कानूनों को न्यायालय के क्षेत्राधि कार से अलग कर दिया गया।

इस संषोधन के बाद भी कठिनाइयाँ बनी रहीं । सार्वजनिक हित के लिए जमींदारी को छोड़कर अभी भी अन्य किसी प्रकार की सम्पत्ति कर हरण नहीं किया जा सकता था।

अतएव 1966 में संविधान का चौथा संषोधन हुआ। इसके द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि राज्य किसी व्यवसाय को नियमित तथा सुव्यवस्थित करने के उद्देष्य से थोड़े समय के लिए बिना मुआवजा दिये भी सम्पत्ति हस्तगत कर सकता है। मुआवजे की रकम निष्चित करने का अधिकार पूर्णतः व्यवस्थापिका को दे दिया गया। इससे सम्बद्ध किसी मुकदमे पर न्यायालय को फैसला देने का अधिकार नहीं रह गया। इस सम्बन्ध में व्यवस्थापिका का निर्णय ही सर्वोपरि है।

पुनः 1964 में संविधान का सत्रहवाँ संषोधन हुआ। इस संषोधन का उद्देष्य रैयतवारी जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार को सीमित कर भूमिसुधार के मार्ग की बाधा दूर करना था। इसके अनुसार सरकार रैयतवारी जमीन को भी सार्वजनिक प्रयोजन के लिए मुआवजा देकर छीन सकती है।

इन संषोधनों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि नागरिकों का सम्पत्ति का अधिकार असीमित नहीं रह गया है। इस पर भी अन्य अधिकारों की तरह कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। इस कारण हमारा संविधान पूँजीवादी और समाजवादी विचारधाराओं के बीच समन्वयं स्थापित करता है। इसमें निजी सम्पत्ति का अधिकार स्वीकार किया गया है, साथ ही सम्पत्ति पर समाज के अधिकार के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया है। समाजवाद के युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार ठीक नहीं जँचता । इसे सीमित करना या इसका अन्त करना इस युग की आवष्यकता है।

सर्वोच्च न्यायालय ने कुछ मुकदमों में जो अपना निर्णय दिये हैं उनसे सम्पत्ति के अधिकार को और भी सीमित करने की आवष्यकता अनुभव की गयी। बैंकों के राश्ट्रीयकरण, देषी नरेषों की के प्रिवीयर्स और विषेशाधिकार समाप्त करने के सम्बन्ध में जो निर्णय सरकार द्वारा लिये गये, उन्हें सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयीं। अतः सरकार ने इस बात का अनुभव किया कि संविधान में संषोधन किये बिना काम नहीं चल सकता। मध्यावधि चुनाव के पूर्व प्रिवीयर्स को समाप्त करने के लिए संषोधन विधेयक संसद में प्रस्तुत किया गया। लोकसभा ने इस विधेयक पर अपनी स्वीकृति भी दे दी, परन्तु राज्यसभा ने इसे अस्वीकृत कर दिया।

मध्यावधि चुनाव के बाद स्थिति बदल गयी है। जब सम्पत्ति के अधिकार को सीमित करने का प्रष्न उठाया गया, तो कुछ लोगों ने तो यह यह भी विचार व्यक्त किया कि सम्पत्ति के अधिकार को 'मूल अधिकार वाले अध्याय से हटा देने की आवष्यकता है। इस सम्बन्ध में यह तर्क भी उपस्थित किया जाता है कि अन्य मूल अधिकारों की तरह सम्पत्ति का अधिकार 'प्राकृतिक 'अधिकार' नहीं है। 'गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य' वाले मुकदमे के निर्णय के सिलसिले में न्यायाधीष हिदायतुल्ला ने भी कहा था कि ''सम्पत्ति का अधिकार प्राकृतिक नहीं है।'' सरकार सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त करने के प्रस्ताव को तो स्वीकार नहीं कर सकी, परन्तु उसे सीमित करने का निष्चय किया गया। इस उद्देष्य से संविधान का 25वाँ संषोधन विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया गया है। इसके द्वारा अनुच्छेद 31 में दिये गये नागरिकों के सम्पत्ति के अधिकार को सीमित करने की योजना है। इस विधेयक के उद्देष्य और कारणों पर प्रकाष डालते हुए विधिमंत्री ने कहा, ''संविधान का अनुच्छेद 31 जैसा इस समय है वह विनिर्दिश्ट रूप में यह उपबन्ध करता है कि सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन और अधिग्रहण का उपबन्ध करने वाली किसी विधि पर, जो या तो क्षतिपूर्ति (ब्वउचमदेंजपवद) की राषि नियंत करती है या इन सिद्धान्तों और रीतियों का उल्लेख करती है जिनमें क्षतिपूर्ति. निर्धारित होती हैं, किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जायेगी कि विधि द्वारा उपबन्धित क्षतिपूर्ति पर्याप्त नहीं है। बैंक राश्ट्रीयकरण वाले मामले (1970 3 एस. सी. आर. 530) में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि संविधान क्षतिपूर्ति के अध िाकार की अर्थात् अनिवार्यतः अर्जित सम्पत्ति के समतुल्य धन की गारंटी करता है। इसका प्रभाव यह है कि क्षतिपूर्ति की पर्याप्तता और क्षतिपूर्ति की राषि निष्चित करने के लिए विध ाानमंडल द्वारा

अधिक सिद्धान्तों की सुसंगति वस्तुतः निर्णय—योग्य हो गयी है, क्योंकि न्यायालयः इस प्रष्न पर विचार कर सकता है कि सम्पत्ति के स्वामी को सन्दत्त राषि उतनी है या नहीं कि उसे सम्पत्ति की हानि के लिए युक्तियुक्त क्षतिपूर्ति माना जा सके। इसी मामले में न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया है कि किसी ऐसी विधि को जो सम्पत्ति का अर्जन या अधिग्रहण किसी सार्वजनिक प्रयोजन के लिए करने के लिए हो अनुच्छेद 19 (1) (च) की अपेक्षाओं को भी पूरा करना चाहिए। यह विधेयक उन कठिनाइयों को दूर करने के लिए भी है जो उपर्युक्त निर्वचन द्वारा राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों को प्रभावी बनाने के रास्ते में आ गये हैं।''

संविधान के 25 वें संषोधन विधेयक में यह प्रस्ताव हैं कि अनुच्छेद 31 (2) में से 'क्षतिपूर्ति, (ब्वउचमदेंजपवद) षब्द को लुप्त किया जाय और उसके स्थान पर 'राषि (।उवनदज) षब्द रख दिया जाय और यह भी स्पश्ट किया जाये कि उक्त राषि नकद न दी जाकर अन्यथा दी जा सकेगी। यह उपबन्ध करने की भी प्रस्तावना है. कि अनुच्छेद 19 (1) (च) सार्वजनिक प्रयोजन के लिए सम्पत्ति के अर्जन या अधिग्रहण से सम्बन्ध किसी विधि पर लागू न होगा

यह विधेयक धारा 31 सी को भी अन्तःस्थापित करने के लिए हैं, जो यह उपबन्ध करती है कि यदि कोई विधि 31 के खंड (ख) और (ग) में अन्तर्विश्ट निर्देषक तत्वों को प्रभावी करने की दृश्टि से पारित की जाती है और उसमें उस प्रभाव की कोई घोशणा है तो वह विधि ज इस आधार पर कि वह अनुच्छेद 14, 19 अथवा 31 में अन्तर्विश्ट किसी अधिकार को छीनती है अथवा उसे सीमित करती है, षून्य नहीं समझी जायगी और उस पर इस आधार पर कोई आपत्ति नहीं की जायेगी कि वह उन तत्वों को प्रभावी नहीं बनाती। राज्य विध ाानमंडलों द्वारा बनायी गयी विधियों की दषा में इस उपबन्ध को लागू होने के लिए यह आवष्यक होगा कि सुसंगत विधेयक राश्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित रखा जाय और उसे राश्ट्रपति की अनुमति मिल जाय ।

इस प्रकार से कहा जा सकता है कि यह संषोधनविधेयक सम्पत्ति के अधिग्रहण कानूनों को क्षतिपूर्ति या अन्य मामलों में न्यायालयों की परिधि से बाहर करने के लिए है। 8. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (त्पहीज जव ब्वदेजपजनजपवदंस त्मउमकपमे)

.

संविधान में केवल मूल अधिकारों की एक लम्बी सूची देने से ही नागरिकों को मूल अधिकार प्राप्त नहीं हो जाते। इसके लिए यह आवष्यक है कि इन अधिकारों को अक्षुण्ण रखने के लिए तथा इनकी उचित रक्षा के लिए संविधान में आवष्यक व्यवस्था हो। जब तक यह व्यवस्था नहीं हो जाती तब तक मूल अधिकारों का वर्णन मात्र बिल्कुल निरर्थक है। इसलिए संविधान के 32वें अनुच्छेद द्वारा नागरिकों को संवैधानिक उपचारों का अधिकार भी दिया गया है। इसमें कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति या संस्था नागरिकों के मूल अधिकारों का अपहरण करती हैं तो वह नागरिक अपने उस अधिकार की रक्षार्थ सर्वोच्च न्यायालय की षरण ले सकता है। नागरिकों के इन अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय को तरह–तरह के आज्ञापत्र, निर्देष, आदेष या लेख (ूतपजे, वतकमते, कपतमबजपवदे) जारी करने का अधि ाकार है। इन लेखों का रूप बन्दीप्रत्यक्षीकरण, परमादेष, प्रतिशेध, अधिकारपृच्छा, उत्प्रेक्षण, लेख आदि कुछ भी हो सकता है। संसद को यह भी अधिकार है कि वह किसी अन्य न्यायालय को भी इस प्रकार का लेख जारी करने का अधिकार दे। अतएव राज्य के उच्च न्यायालयों को भी यह अधिकार प्राप्त हैं। इन आदेषों, लेखों आदि का विस्तृत विवरण इस प्रकार है :

1. बन्दी प्रत्यक्षीकरण (भ्ंइमंदे बवतचने) यह एक प्रकार का लेख (ूतपज) है जो बन्दी व्यक्तियों को छुटकारा दिलाने के लिए लागू किया जाता है ! इस लेख के आध. र पर न्यायालयों को अधिकार प्राप्त है कि वे किसी गिरफ्तार व्यक्ति को उसके आवेदन पर न्यायालय में उपस्थित करने की आज्ञा कार्यपालिका को दें। यदि न्यायपालिका यह समझे कि उस व्यक्ति का बन्दीकरण कानून के अनुसार नहीं हुआ है तो वह उसे रिहा करने की आज्ञा दे सकती है। संविधान की यह धारा बहुत ही महत्वपूर्ण है। इससे नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा होती है। संविधान के लागू होने के बाद न्यायालय द्वांस इस अधिकार का प्रयोग बहुत बार हुआ है।

2. परमादेष (डंदकंउने)

यह एक प्रकार का आदेष है जिसके अनुसार न्यायपालिका किसी व्यक्ति, संस्था, नियम या अपने अधीनस्थ न्यायालय को कानून के अनुसार कर्तव्यपालन के लिए आज्ञा देती है। इसके द्वारा किसी अधिकारी को कार्यवाही करने का आदेष दिया जाता है। इसका प्रयोग प्रायः साधारण कामों के लिए होता है।

3. प्रतिशेध (च्तवीपइपजपवद) उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालयों पर जो लेख जारी करता है, उसे प्रतिशेध कहते हैं। यदि अधीनस्थ न्यायालय अपने क्षेत्राधिकार से बाहर जा रहे हों तो उच्च न्यायालय प्रतिशेध जारी करके उन पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। इस लेख का सम्बन्ध कार्यपालिका या व्यक्तिगत संस्था से नहीं होता।

4. अधिकारपष्च्छा (फनव ूतंतंदजव) – अधिकारपष्च्छा भी एक प्रकार का लेख है जिसका अर्थ होता है–– 'किस अधिकार से?' इस लेख के द्वारा न्यायालय किसी भी व्यक्ति को, जिसने गैरकानूनी तरीके से किसी अधिकार या पद को प्राप्त कर लिया हो, उसके उपयोग से रोक सकता है।

5. उत्प्रेक्षण (ब्मतजपवतंतप) – उत्प्रेक्षण भी एक लेख ही है जिसका अर्थ है– 'पूरी तरह सूचित कीजिए । जिसे उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालय पर जारी करता है। इसके द्वारा उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालय से फौजदारी या दीवानी मुकदमों की कार्यवाही अपने पास मँगवा सकता है। इसका उद्देष्य इस बात की जाँच पड़ताल करना है कि कोई अधीनस्थ न्यायालय अपने अधिकारक्षेत्र से बाहर तो नहीं जा रहा है। स्थानीय स्वषासन की संस्थाओं जैसे नगर निगम, नगरपालिका, जिला बोर्ड आदि पर भी यह लेख जारी किया जा सकता है।

संवैधानिक उपचारों के सारे अधिकार बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनके द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता और मूल अधिकार सुरक्षित रहते हैं।

मूल अधिकारों की सीमाएँ

नागरिकों के अधिकार किसी भी हालत में अनियंत्रित नहीं हो सकते। सार्वजनिक हित में उन पर कुछ पाबन्दियाँ लगाना आवष्यक है। हमारे संविधान में प्रत्येक मूल अधिकार के वर्णन के बाद कुछ न कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। पर हमारे संविधान निर्माता उन प्रतिबन्धों के अतिरिक्त कुछ और प्रतिबन्ध भी लगाना चाहते थे और इसलिए मूल अधिकार के अध्याय में ही तीन और अनुच्छेद (33, 34 और 35) जोड़ दिये गये। ये अनुच्छेद मूल अधि कारों के स्थगन और सीमाओं से सम्बद्ध हैं।

(क) सैनिक और मूल अधिकार – किसी भी देष के सैनिक और असैनिक नागरिक के जीवन में काफी अन्तर होता है। सैनिकों को एक विषेश अनुषासन के अन्तर्गत रहना पड़ता है । अतएव इस बात को ध्यान में रखते हुए संविधान द्वारा संसद को यह अधिकार दिया गया

. है कि मूल अधिकारों के सम्बन्ध में वह यह निर्धारित करे कि सेना या सुरक्षा षांति बनाये रखने वाली षक्तियों में अनुषासन बनाये रखने तथा कर्तव्यपालन के लिए ये अधिकार किस हद तक कम या समाप्त किये जा सकते हैं।

(ख) सैनिकषासन और मूल अधिकार – कभी–कभी असाधारण स्थिति में देष में सैनिक षासन (उंतजपंस सूं) लागू कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में देष का षासन सैनिक कानून द्वारा होता है। इस अवस्था में मूल अधिकारों का कोई महत्व नहीं रह जाता। इस षासन को संवैधानिक आवरण पहनाने के लिए संविधान में ही व्यवस्था कर दी गयी है। संसद को अधिकार है कि यदि देष के किसी भाग में किसी कारण से सैनिक षासन लागू हो तो उस क्षेत्र में मूल अधिकार स्थगित किये जा सकते हैं। संसद को यह भी अधिकार है कि वह सैनिक षासन द्वारा मूल अधिकारों पर किये गये अतिक्रमण को भी उचित घोशित कर दे।

(ग) संकटकाल और मूल अधिकार – कुछ विषेश स्थितियों में संविधान द्वारा राश्ट्रपति को संकटकाल की घोशणा करने का अधिकार मिला है। यदि राश्ट्रपति युद्ध, बाहरी आक्रमण या आन्तरिक अषान्ति का खतरा पैदा हो जाने के कारण संकटकाल की घोशणा कर दे तो ऐसी स्थिति में नागरिकों के भाशण लेखन की स्वतंत्रता, संघ, समुदाय तथा सभा की स्वतंत्रता आदि के मूल अधिकार स्थगित किये जा सकते हैं। पर इस प्रकार के आदेष उसी समय तक लागू रह सकेंगे जब तक संकटकाल रहेगा। उसके समाप्त होते ही मूल अधि ाकारों का स्थगन स्वयमेव समाप्त हो जायगा। संकटकाल में राश्ट्रपति यह आदेष जारी कर सकता है कि कोई भी व्यक्ति मूल अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय में प्रार्थना नहीं कर सकेगा।

ू(घ) संविधान संषोधन और मूल अधिकार संविधान में संषोधन करके भी मूल अधिकारों को सीमित किया जा सकता है। इसका एकमात्र प्रमाण तो यह है कि संविध . आन के लागू होने के कुछ ही वर्श के अन्दर मूल अधिकारों पर अनेक नियंत्रण लगा दिए गये हैं। संविध ाान के पहले, चौथे और सत्रहवें संषोधन का यही उद्देष्य था । परन्तु 27 फरवरी, 1967 को सर्वोच्च न्यायालय में यह निर्णय हुआ कि संविधान में जिन मौलिक अधिकारों की गारंटी है, उन्हें संसद संषोधन कर छीन नहीं सकती ।

परन्तु मूल अधिकारों में संषोधन का अधिकार संसद को फिर से दिलाने के उद्देष्य से संविध ाान का 24वाँ संषोधन विधेयक लोकसभा द्वारा पारित किया जा चुका है। इस विध यक को

प्रस्तुत करते हुए विधिमंत्री श्री गोखले ने कहा था कि ''सर्वोच्च न्यायालय ने गोलकनाथ वाले सुविख्यात मामले (1967, 2 एस० सी० आर०. 762) में अल्प बहुमत द्वारा अपने ही उन पूर्व निर्णयों को उलट दिया जिनमें संविधान के सभी भागों को जिनके अन्तर्गत मूल अधि ाकारों से सम्बद्ध भाग 3 भी है– संषोधित करने की संसद की षक्ति की पुश्टि की गयी थी । इस निर्णय का परिणाम यह हुआ कि संसद के बारे में अब यह विचार है कि उसमें संविध ा न के भाग 3 द्वारा गांरटी किये गये किसी भी मूल अधिकार को छीन लेने या घटाने की षक्ति नहीं है, चाहे राज्य की नीति के निर्देषक तत्वों को प्रभावी करने के लिए और संविध ा न की प्रस्तावना में वर्णित उद्देष्यों को प्राप्त करने के लिए भी ऐसा करना आवष्यक हो । अतः यह उपबन्धित करना आवष्यक समझा गया कि संसद् में संविधान के किसी भी उपबन्ध ा को संषोधित करने की षक्ति हैं जिससे कि संषोधन करने की षक्ति के अन्तर्गत भाग 3. के उपबन्ध भी आ जायँ ।''

इस विधेयक द्वारा संविधान के अनुच्छेद 368 में ऐसे परिवर्तन किये गये हैं जिनसे .इसके अन्तर्गत बनी किसी विधि को अनुच्छेद 13 से न जोड़ा जा सके। दूसरे षब्दों में, इस 'विध ेयक द्वारा इस बात का स्पश्टीकरण किया गया है कि अनुच्छेद 368 संविधान के संषोध न का तथा साथ ही साथ उसकी प्रकिया का भी उपबन्धन करता हैं। विधेयक में यह भी उपबन्ध ा किया है कि जब कोई संविधान संषोधन विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाय और राश्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाय तो उसे उस पर अपनी अनुमति दे देनी चाहिए। यह विधेयक संविधान के अनुच्छेद 13 को भी संषोधित करने के लिए है कि वह अनुच्छेद 668 के अधीन संविधान के किसी संषोधन पर लागू न रहे।

उपसंहार दृ भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को जितने मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं उतने षायद किसी अन्य देष के संविधान में उपलब्ध नहीं हैं। संविधान में इस तरह

☐ से अधिकारों का विस्तष्त वर्णन करके संविधान ने निष्चय ही व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता पर गारंटी की मुहर लगा दी है। फिर भी, संविधान में इन अधिकारों को संकुचित करने के इतने उपाय रख दिये गये हैं कि कभी–कभी यह भय होता है कि ये अधिकार संषोधन द्वारा समाप्त न कर दिये जायें। मूल अधिकारों को सीमित करने का अधिकार बहुत हद तक कार्यपालिका को दें दिया गया है। क्या वह संकट के झूठे नाम पर इस अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकती है? आलोचकों का यह भय कोई कोरी कल्पना नहीं है। नजरबन्दी कानून भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों पर एक घोर अतिक्रमण हैं। इस अधिनियम के द्वारा सरकार किसी भी व्यक्ति को बिना उस पर मुकदमा चलाये ही कैद रख सकती है। यदि सरकार समझे कि कोई व्यक्ति सार्वजनिक सुरक्षा के लिए खतरनाक है और प्रमाण के अभाव में न्यायालय द्वारा दोशी नहीं ठहराया जा सकता तो उसे बिना मुकदमा चलाये ही जेल में रखा जा सकता है। 'सार्वजनिक सुरक्षा के लिए खतरनाक घोशित करने के लिए सरकार बिल्कुल स्वतंत्र है। निष्चय ही यह अधिनियम वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिये खतरनाक है। सरकार अकारण ही किसी व्यक्ति को कम से कम तीन महीने के लिए कैद कर सकती है। इस अधिकार के दुरुपयोग और भारत के षिषु जन तंत्र की हत्या की सम्भावना भविश्य में हो सकती है। न्यायाधीष महाजन का कहना हैं कि ''नजरबन्दी कानून जनतंत्रात्मक प्राविध गानों के प्रतिकूल है और यह विष्व के किसी जन तंत्रात्मक देष के संविधान में नहीं पाया जाता है। आष्चर्य की बात यह है कि इस विशय को संविधान के मूल अधिकार वाले अध्याय में स्थान मिला है।''

इन कारणों से ऐसा प्रतीत होता है संविधान द्वारा एक हाथ से नागरिकों को मूल अधि कार दिये गये हैं तो कतिपय प्रतिबन्धों द्वारा उन्हें सीमित करके दूसरे हाथ से छीन लिया गया है। इन प्रतिबन्धों के कारण नागरिकों के मूल अधिकार नगण्य हो गये हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान में एक मूल अधिकार का अभाव काफी खटकता है। मूल अधि कारों के भाग में नागरिकों की आर्थिक स्वतंत्रता को सुरक्षित नहीं किया गया है। भाशण या लेखन की स्वतंत्रता तो दी गयी है लेकिन सोवियत संविधान की तरह हमारे संविधान में नागरिकों

को रोजगार पाने के अधिकार, उनके विश्राम के अधिकार, वष्द्धावस्था तथा रुग्णावस्था में सहायता प्राप्ति के अधिकार का उल्लेख नहीं किया गया है। इन अधिकारों के अभाव में नागरिकों को आर्थिक स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। यह कहने की आवष्यकता नहीं है कि आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में नागरिक या राजनीतिक स्वतंत्रता असम्भव और व्यर्थ है।

इन त्रुटियों के बावजूद भारतीय नागरिकों के मूल अधिकार हमारे राश्ट्र के राजनीतिक जीवन में एक नये युग के द्योतक हैं। में भारतीयों को एक आत्मज्ञान देते हैं कि उनके राश्ट्रीय जीवन में एक महान् क्रान्ति हो गयी हैं। जब हम अंग्रेजों की गुलामी की जंजीर

''में बँधे हुए थे तो हम बराबर इन अधिकारों की माँग करते थे। हमारी यह अभिलाशा अन्ततः पूरी हुई। मूल अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाना कोई बुरा नहीं है। विशम परिस्थितियों में राश्ट्र की रक्षा के लिए प्रतिबन्धों का होना आवष्यक है। लेकिन हमें इस बात को देखना है कि सरकार प्रतिबन्धों का दुरुपयोग नहीं करे। जनता द्वारा सरकार को इनके दुरुपयोग से रोका जा सकता है। डॉ. एम. वी. पायली का कथन है कि ''मूल अधिकारों की रक्षा जनता द्वारा की जा सकती ह" लेकिन मूल अधिकारों के अभिभावक के रूप में जनमत की प्रभावषीलता इस बात पर निर्भर है कि किसी देष में जनमत कितना षक्तिषाली और संगठित है।'' एक पुरानी कहावत है कि स्वतंत्रता का मूल्य सदा जागृत तथा चौतन्य रहता है। यदि भारत के : नागरिक सतर्क रहें तो कार्यपालिका के लिये मूल अधिकारों का हनन काफी कठिन कार्य हो जायगा । फिर भी आवष्यकता इस बात की है कि हमारे देष में कुछ ऐसी वैधानिक प्रथाएँ

स्थापित हो जायें किं मूल अधिकारों पर आसानी से आघात न हो सके। मूल अधिकार हमारे संविधान की अमूल्य निधि हैं। उनकी रक्षा प्रत्येक सरकार का कर्तव्य है। हमारे प्रजातंत्र की सफलता की परीक्षा मूल अधिकारों के पालन पर ही होगी।

सारांष

भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को जितने मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं उतने षायद किसी अन्य देष के संविधान में उपलब्ध नहीं हैं। संविधान में इस तरह से अधिकारों का विस्तृत वर्णन करके संविधान ने निष्चय ही व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता पर गारंटी की मुहर लगा दी है। फिर भी, संविधान में इन अधिकारों को संकुचित करने के इतने उपाय रख दिये गये हैं कि कभी–कभी यह भय होता है कि ये अधिकार संषोधन द्वारा समाप्त न कर दिये जायें। मूल अधिकारों को सीमित करने का अधिकार बहुत हद तक कार्यपालिका को दे दिया गया है। क्या वह संकट के झूठे नाम पर इस अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकती है? आलोचकों का यह भय कोई कोरी कल्पना नहीं है। नजरबन्दी कानून भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों पर एक घोर अतिक्रमण है। इस अधिनियम के द्वारा सरकार किसी भी व्यक्ति को बिना उस पर मुकदमा चलाये ही केंद रख सकती है। यदि सरकार समझे कि कोई व्यक्ति सार्वजनिक सुरक्षा के लिए खतरनाक है और प्रमाण के अभाव में न्यायालय द्वारा दोशी नहीं ठहराया जा सकता तो उसे बिना मुकदमा चलाये ही जेल में रखा जा सकता है। 'सार्वजनिक सुरक्षा के लिए खतरनाक' घोशित करने के लिए सरकार बिल्कुल स्वतंत्र है । निष्चय ही यह अधिनियम वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिये खतरनाक है। सरकार अकारण ही किसी व्यक्ति को कम से कम तीन महीने के लिए कैद कर सकती है। इस अधि कार के दुरुपयोग और भारत के षिषु जन तंत्र की हत्या की सम्भावना भविश्य में हो सकती है। न्यायाधीष महाजन का कहना है कि ''नजरबन्दी कानून जनतंत्रात्मक प्राविधानों के प्रतिकूल है और यह विष्व के किसी जन तंत्रात्मक देष के संविधान में नहीं पाया जाता है। आष्चर्य की बात यह है कि इस विशय को संविधान के मूल अधिकार वाले अध्याय में स्थान मिला है।''

इन कारणों से ऐसा प्रतीत होता है संविधान द्वारा एक हाथ से नागरिकों को मूल अधि कार दिये गये हैं तो कतिपय प्रतिबन्धों द्वारा उन्हें सीमित करके दूसरे हाथ से छीन लिया गया है। इन प्रतिबन्धों के कारण नागरिकों के मूल अधिकार नगण्य हो गये हैं। इसके अतिरिक्त

भारतीय संविधान में एक मूल अधिकार का अभाव काफी खटकता है। मूल अधि कारों के भाग में नागरिकों की आर्थिक स्वतंत्रता को सुरक्षित नहीं किया गया है। भाशण या

लेखन की स्वतंत्रता तो दी गयी है लेकिन सोवियत संविधान की तरह हमारे संविधान में नागरिकों को रोजगार पाने के अधिकार, उनके विश्राम के अधिकार, वष्द्धावस्था तथा रुग्णावस्था में सहायता प्राप्ति के अधिकार का उल्लेख नहीं किया गया है। इन अधिकारों के अभाव में नागरिकों को आर्थिक स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। यह कहने की आवष्यकता नहीं है कि आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में नागरिक या राजनीतिक स्वतंत्रता असम्भव और व्यर्थ है ।

ःइन त्रुटियों के बावजूद भारतीय नागरिकों के मूल अधिकार हमारे राश्ट्र के राजनीतिक जीवन में एक नये युग के द्योतक हैं। में भारतीयों को एक आत्मज्ञान देते हैं कि उनके राश्ट्रीय जीवन में एक महान् क्रान्ति हो गयी है। जब हम अंग्रेजों की गुलामी की जंजीर में बँधे हुए थे तो हम बराबर इन अधिकारों की माँग करते थे। हमारी यह अभिलाशा अन्ततः पूरी हुई। मूल अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाना कोई बुरा नहीं है। विशम परिस्थितियों में राश्ट्र की रक्षा के लिए प्रतिबन्धों का होना आवष्यक हैं। लेकिन हमें इस बात को देखना है कि सरकार प्रतिबन्धों का दुरुपयोग नहीं करे। जनता द्वारा सरकार को इनके दुरुपयोग से रोका जा सकता है। डॉ. एम. वी. पायली का कथन है कि ''मूल अधिकारों की रक्षा जनता द्वारा की जा सकती ह" लेकिन मूल अधिकारों के अभिभावक के रूप में जनमत की प्रभावषीलता इस बात पर निर्भर है कि किसी देष में जनमत कितना षक्तिषाली और संगठित है ।'' एक पुरानी कहावत हैं कि स्वतंत्रता का मूल्य सदा जागृत तथा चौतन्य रहता है। यदि भारत के नागरिक सतर्क रहें तो कार्यपालिका के लिये मूल अधिकारों का हनन काफी कठिन कार्य हो जायगा। फिर भी आवष्यकता इस बात की है कि हमारे देष में कुछ ऐसी वैधानिक प्रथाएँ स्थापित हो जायें कि मूल अधिकारों पर आसानी से आघात न हो सके। मूल अधिकार हमारे संविधान की अमूल्य निधि हैं। उनकी रक्षा प्रत्येक सरकार का कर्त्तव्य है । हमारे प्रजातंत्र की सफलता की परीक्षा मूल अधिकारों के पालन पर ही होगी।

स्व प्रगति की जाँच के उत्तर

भारतीय संविधान में कुछ परिस्थितियों में मूल अधिकारों को सीमित करने की भी व्यवस्था की गयी है। उदाहरण के लिए, भारतीय संविधान के अनुच्छेद 33 में यह व्यवस्था की गयी है कि सषस्त्र सेना में अनुषासन बनाये रखने के लिए तथा सैनिक कर्तव्यों का ठीक ढंग से पालन कराने के लिए भारत के सषस्त्र बल से सम्बन्ध मौलिक अधिकारों में संसद द्वारा आवष्यक संषोधन किया जा सकता है। यह उपवन्ध सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने वाले अन्य बलों पर भी लागू होता है। उसी तरह अनुच्छेद 34 के अनुसार किसी स्थान पर सेवानिधि पर मूल अधिकारों को सीमित किया जा सकता है। सेवा निधि लागू होने की स्थिति 1. में किसी व्यक्ति को भी निश्कृत किया जा सकता है। इस प्रकार मूल अधिकारों को सीमित

करने की भी व्यवस्था की गयी है ।

2. भूल अधिकारों को भी संसद के दोनों सदनों में प्रत्येक की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत और प्रत्येक सदन में उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से संषोधित किया जाता था । लेकिल 27 फरवरी 1967 ई. को 'गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य' नामक मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय के अनुसार संसद मूल अधि कारों को छीनने या सीमित करने के उद्देष्य से संविधान में संषोधन नहीं कर सकती थी । परन्तु अब (24वाँ संविधान संषोधन) विधेयक लोकसभा में पारित हो चुका है, जिसके अनुसार संसद को संविधान के किसी भाग में जिनमें मूल अधिकार भी षामिल हैं – संषोध ान करने का अधिकार दिया गया हैं ।

कोई वषत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता भारत

का प्रत्येक नागरिक कोई भी जायज पेषा, व्यापार और कारोबार करने हेतु स्वच्छन्द हैं। संविध न नागरिकों को अपनी इच्छा और योग्यता के अनुसार किसी भी पेषे को ग्रहण करने का अधिकार देता है। किन्तु संविधान यहाँ भी दो प्रकार का प्रतिबन्ध लगाता है। राज्य सार्वजनिक हित की रक्षा के लिए इस अधिकार के उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। फिर, राज्य को अधिकार है कि वह किसी व्यवसाय या पेषे के लिए कुछ आवष्यक योग्यता निर्धारित कर सके। 1951 के प्रथम संवैधानिक संषोधन ने राज्यों को अधिकार दे दिया है कि या तो वे स्वयं या राज्य के स्वामित्व अथवा नियंत्रण में किसी निगम द्वारा कोई पेषा या व्यापार चला सकते हैं और इस पेषे या व्यापार से निजी व्यक्ति पूर्णरूप से अथवा आंषिक रूप से वंचित किये जा सकते हैं।

परन्तु इस स्वतंत्रता पर भी युक्तिसंगत प्रतिबन्ध ही लगाये जा सकते हैं। यदि न्यायालय की राय में युक्तिसंगत प्रतिबन्ध युक्तिसंगत नहीं है तो न्यायालय उसे अवैध घोशित कर सकता है। उदाहरण के लिए, सर्वोच्च न्यायालय ने रषीद अहमद बनाम भारत संघ नामक मुकदमे में उत्तर प्रदेष कैराना नामक नगरपालिका के उपनियमों को क्योंकि उन उपनियमों द्वारा नागरिकों के व्यवसाय के अधिकार पर आघात पहुँचाया गया था। इसी प्रकार 1950 में सर्वोच्च न्यायालय ने 'मध्यप्रदेष बीड़ी कानून की उन धाराओं को अवैध घोशित कर दिया जिनके द्वारा मध्यप्रदेष की सरकार ने कुछ ग्रामों में बीड़ी बनाने पर प्रतिबन्ध लगाकर लोगों के जीविकोपार्जन पर अनुचित प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की थी ।

इस अधिकार को डॉ एम. बी. पायली ने बहुत अधिक महत्वपूर्ण माना है। उन्हीं के षब्दों में, ''अपने मन के अनुसार व्यवसाय, वृत्ति, उपजीविका अथवा कारोबार करने से सम्बद्ध अधि ाकार को प्रत्याभूत करने से एक गतिषील प्रजातंत्रात्मक समाज की स्थापना में पर्याप्त सहायता मिलती है। इन अधिकारों को प्रत्याभूत कर संविधान निर्माताओं ने एक वास्तविक प्रजातंत्र की स्थापना का कार्य किया है।''

ळैव्व्

4. धार्मिक संस्थाओं को चलाने का अधिकार संविधान के 26वें अनुच्छेद के – अनुसार सभी धार्मिक समुदायों को धार्मिक तथा परोपकारी संस्थाएँ स्थापित करने और उनका पोशण करने का अधिकार होगा। उन्हें इनसे सम्बद्ध विशयों का प्रबन्ध करने इनके लिए सम्पत्ति का अर्जन और कानून के अनुसार इनके प्रषासन का पूर्ण अधिकार होगा। इस स्वतंत्रता को केवल सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार तथा स्वास्थ्य की रक्षा के लिए ही सीमित किया जा सकता है।

अभ्यास–प्रष्न

1. मूल अधिकारों से आप क्या समझते है ? भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों का

संक्षिप्त वर्णन कीजिए ।

.2. भारतीय गणतंत्र के नागरिकों को कौन–कौन से मूल अधिकार हैं? कब और किस

प्रकार इन अधिकारों का स्थगित या सीमित किया जा सकता है?

3. भारत में मौलिक अधिकार निर्वाध नहीं है, वे सीमित हैं। सोदाहरण व्याख्या कीजिए ।

4. ''भारतीय संविधान स्वतंत्रता का नहीं बल्कि षक्तियों का संगठन है।'' इस कथन

की व्याख्या मौलिक अधिकारों के संदर्भ में कीजिए ।

5. ''मौलिक अधिकारों की व्यवस्था एक पुलिसमैन की दृश्टिकोण से की गयी है,

अध्याय – 5.

Self&Instructional Alain

मूल कर्तव्य एवं राज्य के

नीति–निर्देषक तत्व

परिचय

मूल कर्तव्य के बिन्दुवार परिचय

मूल कर्तव्यों का महत्व

राज्य के नीति निर्देषक तत्व और इसके महत्व

अध्याय के उद्देष्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे

: मूल कर्तव्यों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे तथा इनका महत्व समझ सकेंगे।

जान सकेंगे कि भारतीय संविधान के अंतर्गत निर्देषक तत्व की क्या विषिश्टता है.

जान सकेंगे कि निर्देषक तत्वों के पीछे जनमत की षक्ति होती है।

जान सकेंगे कि भारतीय संविधान का एकात्मकता की ओर सुझाव कैसे

हैं?

भारतीय संविधान की एकात्मक तत्व को समझ सकेंगे।

परिचय

1950 में लागू किए गए भारतीय संविधान में नागरिकों के मूल अधिकारों मात्र का ही उल्लेख किया गया था, मूल कर्तव्यों का नहीं। लेकिन 1978 में संविधान में व्यापक संषोध न करते समय यह अनुभव किया गया कि संविधान में नागरिकों के मूल कर्तव्यों का भी उल्लेख किया जाना चाहिए। अतः संविधान के चतुर्थ भाग में उपभाग 'चतुर्थ अ' जोड़ा गया, जिसमें मूल कर्तव्यों की व्यवस्था की गई है। ये 10 मूल कर्तव्य इस प्रकार हैं:

1. संविधान का पालन तथा उसके आदर्षों, संस्थाओं और राश्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। कि वह संविधान का पालन करे और उसके आदर्षों, संस्थाओं, राश्ट्रध्वज और राश्ट्रगान का आदर करे ।

2. राश्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्षों का पालन– प्रत्येक भारतीय नागरिक का कर्तव्य है कि वह स्वतंत्रता के लिये हमारे राश्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्षों को भी हृदय में सँजोये रखे और उनका पालन करे।

3. भारत की सम्प्रभुता एकता और अखण्डता की रक्षा – प्रत्येक भारतीय नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह भारत की सम्प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करें और उसे अक्षुण्ण बनाये रखे। इसे भारतीय नागरिकों के सर्वोच्च कर्तव्य की संज्ञा दी जा सकती हैं।

4. देष की रक्षा और राश्ट्र सेवा – प्रत्येक भारतीय नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह देष की रक्षा करे और बुलाये जाने पर राश्ट्र की सेवा हेतु स्वयं को प्रस्तुत करें।

(3) अत्यधिक आदर्षवादी – अनेक मूल कर्तव्य व्यावहारिक न होकर अत्यधिक आदर्षवादी और कोरे नैतिकवादी हैं। उदाहरण के लिए, राश्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्षों का पालन, समन्वित संस्कृति की गौरवषाली परम्परा की रक्षा, वैज्ञानिक दृश्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन का विकास, आदि ऐसी ही बातें हैं।

(4) षासन के अत्याचार की आषंका – कुछ पक्षों द्वारा यह आषंका भी व्यक्त की गई है कि मूल कर्तव्यों का उल्लेख करने में जिस षब्दावली को अपनाया गया है, उसकी आड़ में षासन जनता पर अत्याचार कर सकता है। उदाहरण के लिए, भारत की सम्प्रभुता के नाम पर षासन की सम्प्रभुता स्थापित करने का प्रयत्न किया जा सकता है। पिछले 25 वर्शों में समय–समय पर ऐसी सफल–असफल चेश्टाएँ की जा चुकी हैं, अतः यह आषंका पूर्णतया निर्मूल नहीं है।

मूल कर्तव्यों का महत्व यह सर्वमान्य तथ्य है कि कर्तव्यों का पालन किये बिना अधिकारों का उपयोग सम्भव नहीं है। हमारे संविधान निर्माताओं ने सोचा था कि भारतीय नागरिक राश्ट्रीय आन्दोलन के उच्च्च आदषों से प्रेरित हैं, अतः उनमें कर्तव्य–बोध सदैव ही जगा रहेगा और वे अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे। लेकिन छठे सातवें दषक में देखा गया है कि नागरिकों का दायित्व बोध कमजोर पड़ने लगा है। अंतः संविधान में मूल कर्तव्यों का उल्लेख करने की आवष्यकता अनुभव की गयी।

वस्तुतः केवल कुछ ही कर्तव्यों की भाशा अस्पश्ट है। अधिकांष कर्तव्यों की भाशा और भाव नितान्त स्पश्ट तथा उनका महत्व स्वयंसिद्ध है। इनमें संविधान के प्रति निश्ठा और राश्ट्रीय ध्वज व राश्ट्रीय गान का आदर तथा भारत की एकता और अखण्डता की जैसे कर्तव्य रक्षा विषेश उल्लेखनीय हैं। भारत जैसे बहुधर्मी और बहुभाशी संमाज में समन्वित संस्कृति की

रक्षा भी एक महत्वपूर्ण राश्ट्रीय कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त नागरिक चेतना को विकसित किए जाने की आवष्यकता है, जिससे षासन कभी भी कर्तव्यों को लागू करने के नाम पर मनमाना आचरण न कर सके ।

जापान, इटली, सोवियत रूस, चीन और अन्य यूरोपीय देषों के संविधान में अधिकारों के साथ–साथ कर्तव्यों का भी उल्लेख है और अब भारत भी इस सम्बन्ध में इन देषों की श्रेणी में आ गया है। संविधान में नागरिक कर्तव्यों के उल्लेख से यह आषा की गयी है कि भारतीय नागरिकों को अपने कर्तव्यों का अधिक स्पश्ट रूप से बोध होगा और वे अधिक अच्छे रूप . में इनका पालन कर सकेंगे। इन कर्तव्यों की अवहेलना की जाने पर अभी तक किसी प्रकार की दण्ड – व्यवस्था नहीं की गयी है, लेकिन संसद द्वारा इस सम्बन्ध में दण्ड की व्यवस्था की जा सकती है। इन कर्तव्यों का पालन करना भारत के प्रत्येक नागरिक द्वारा सर्वोच्च ध धर्म समझा जाना चाहिए।

राज्य के नीति निर्देषक तत्व (क्पतमबजपअम च्तपदबपचसमे व`िजंजम च्वसपबल)

आधुनिक राजनीतिक वातावरण में यह कहा जा सकता है कि भारत में संविधान द्वारा जो मूल अधिकार नागरिकों को प्राप्त हुए हैं वे पर्याप्त नहीं हैं। उनमें कुछ और अधि कारों को सम्मिलित करना चाहिए था । इसी अभाव की पूर्ति के लिए भारत के संविधान में एक नूतन चीज का समावेष किया गया जिसे राज्य के नीति निर्देषक तत्व (क्पतमबजपअम च्तपदबपचसमे व`िजंजम च्वसपबल) कहते हैं। संविधान का यह भाग एक अपूर्व और विलक्षण पहलू प्रस्तुत करता है। इसमें उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, जिन्हें संघ – सरकार तथा राज्य की सरकारें षासनसम्बन्धी नीति निर्धारित करते समय अपने समक्ष रखेंगी। हमारा संविधान भारत में आर्थिक, सामाजिक और राजनीति लोकतंत्र कायम करने का उद्देष्य रखता है। ये निर्देषक तत्व इसी उद्देष्य की प्राप्ति हेतु पथप्रदर्षक और दिषासूचक स्तम्भ हैं ।

राज्य के नीतिनिर्देषक तत्व भारतीय संविधान की एक बहुत बड़ी विषेशता हैं। भारतीय संविधान में जिस व्यापक रूप में इसकी चर्चा की गयीं है, उस रूप में संसार के किसी भी संविधान में इन तत्वों का उल्लेख नहीं हुआ है। ये तत्व सर्वप्रथम गणतांत्रिक स्पेन के संविधान में निर्दिश्ट हुए थे, फिर आयरलैंड ने इन्हें अपने संविधान में अपनाया। बर्मा के संविधान में भी नीतिनिर्देषक तत्वों का उल्लेख हुआ था। इसके बाद भारत का ही एक ऐसा संविधान है जिसमें इन तत्वों को स्थान मिला है।

नीति–निर्देषक तत्वों की आवष्यकता लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना आधुनिक युग की सबसे महत्वपूर्ण प्रवष्त्ति है। एक समय था जब राज्य के यंत्रों का उपयोग कुछ खास लोगों के फायदे के लिए ही होता था, लेकिन जैसे–जैसे मानव सभ्यता में विकास होता गया वैसे–वैसे इस धारणा में भी परिवर्तन होने लगा। आज राज्य का उद्देष्य यह हो गया है कि वह अधिक से अधिक लोगों के हित के लिए कार्य करे, अपने समस्त नागरिकों के उत्थान के लिये प्रयास करे। उनके लिए वह उन सभी साधनों को जुटाये, उन सभी दषाओं को उपस्थित करे जिनसे नागरिकों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो और वे अधिकतम सुख चौन की जिन्दगी व्यतीत कर सकें। लेकिन हर राज्य के साधन एक से नहीं होते। कोई देष बहुत धनवान् होता है और वह आसानी से लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना कर सकता है। पर बहुत से ऐसे देष है जिनके साधन बहुत ही सीमित हैं और वे एकाएक अपने 'नागरिकों के समक्ष उन दषाओं को प्रस्तुत नहीं कर सकते जो लोककल्याणकारी राज्य के लिए आवष्यक समझी जाती हैं। एक ही उदाहरण इसके लिए यथेश्ट है, सोवियत संघ इस

स्थिति में पहुँच गया है कि वह अपने नागरिकों को काम पाने का मूल आधिकार दे । किन्तु हमारा देष अभी इस स्थिति में नहीं पहुँचा है कि वह नागरिकों को यह अधिकार दें। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के अधिकारों को संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों की सूची में नहीं रखा जा सकता । फलतः इन्हें राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों के अध्याय में स्थान दिया गया है। तात्पर्य यह है कि राज्य अपने नागरिकों के लिए यह अधिकार भी प्रदान करने की दिषा में प्रयत्नषील होगा ।

नीति–निर्देषक तत्वों का अर्थ – कतिपय संविधानों में कुछ आदर्षों का वर्णन कर दिया जाता है। इन्हीं को राज्य के नीतिनिर्देषक तत्व कहते हैं। ये तत्व किसी भी सरकार के लिए पथप्रदर्षन का कार्य करते हैं। संविधान में इनका वर्णन नागरिकों के पालन के लिए नहीं होता। इनका सम्बन्ध केवल राज्य से होता है। यह राज्य का ध्यान अपने कर्तव्य की तरफ आकृश्ट करने के लिए संविधान में रखे जाते हैं। ये राज्य के लिए एक तरह के आदेष हैं, पर इनका पालन करना या न करना बिल्कुल राज्य की मर्जी पर निर्भर हैं राज्य के लिए इन आदेषो का इतना ही महत्व है कि जब सरकार अपना नीतिनिर्धारण करे और उसे कार्यान्वित करने के लिए कानून बनाये तो उन कानूनों को यथासम्भव इन तत्वों के आध र पर बनाने का प्रयास किया जाय। यह सरकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह इन तत्वों को बराबर ध्यान में रखे। वह जो कानून बनाये उसका उद्देष्य इन तत्वों को अमल में लाना होगा । संविधान में नीति निर्देषक तत्वों की यही उपयोगिता है, इन्हें हम संविधान द्वारा स्वीकृत राज्य के लिए कतिपय सुनिष्चित आदर्ष भी मान सकते हैं। इन आदर्षों की उपलबि

राज्य सरकार की सबसे बड़ी सफलता होगी।

निर्देषक तत्व का स्वरूप – निर्देषक तत्व कोई संवैधानिक अधिकार नहीं हैं। किसी न्यायालय (श्रनकपबपतल) द्वारा इन्हें कार्यान्वित कराने के लिए राज्य को बाध्य नहीं किया जा सकता। कोई भी बाह्य षक्ति सरकार को बाध्य नहीं कर सकती कि वह उन तत्वों को ध्यान में रखे ही। चूँकि इन तत्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है, इसलिए ये न्यायालय के क्षेत्राधिकार (श्रनतपेकपबजपवद) में नहीं आते। कोई नागरिक न्यायालय के समक्ष यह आवेदन नहीं कर सकता कि राज्य इन तत्वों की अवहेलना कर रहा है और उसे ऐसा न करने के लिए बाध्य किया जाय । निर्देषक तत्वों के इस स्वरूप से परिचित होने के बाद ऐसा लगता है कि संविधान में यह व्यर्थ की चीजें हैं। पर ऐसा कहना भी कुछ गलत ही

होगा । कानून का बल नहीं होने पर भी इन तत्वों के पीछे जनमत की षक्ति छिपी हुई हैं । कोई भी सरकार एक जागरूक जनमत के सामने इन तत्वों को अमल में लाने से खुल्लमखुल्ला इन्कार नहीं कर सकती है।

नीतिनिर्देषक तत्वों और मूल अधिकारों में गेंद – भारतीय संविधान में मूल 'अधिकारों और नीतिनिर्देषक तत्वों, दोनों का वर्णन किया गया है। लेकिन दोनों का उद्देष्य एक ही है– नागरिकों को अधिक अवसर प्रदान करना ताकि वे अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें। यही कारण है कि कुछ लेखकों ने निर्देषक तत्वों को अरक्षितं मूल अधि कर कहा है। लेकिन इस कारण इन दोनों को एक नहीं समझ लेना चाहिए। वस्तुतः दोनों मैं बड़ा अन्तर है। नीतिनिर्देषक तत्वों और मूल अधिकारों में निम्नलिखित अन्तर हैं–

1. मूल अधिकारों और राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि कि जहाँ मूल अधिकार निशेधात्मक हैं, निर्देषक तत्व निर्देषात्मक हैं। मूल अधिकारों द्वारा राज्य की षक्तियों पर कई प्रतिबंध लगाये गये हैं। इनका उद्देष्य राज्य के कार्यों पर नियंत्रण लगाकर व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना है। उदाहरण के लिए, राज्य नागरिको की

.

स्वतंत्रता, समानता और धार्मिक अधिकारों को मनमाने ढंग से अपहृत नहीं कर सकता है। स्पश्ट है कि मूल अधिकारों की प्रकृति निशेधात्मक है। इसके विपरीत, राज्य के नीतिनिर्देषक तत्व निर्देषात्मक और सकारात्मक हैं। इनके द्वारा राज्य को यह निर्देष दिया गया है कि वह किस प्रकार की आर्थिक नीति अपनावे तथा किस तरह सामाजिक व्यवस्था और अन्तरराश्ट्रीय सम्बन्ध कायम करे। कहा भी जाता है कि राज्य के नीतिनिर्देषक तत्व व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के निर्देषन–यंत्र (प्देजतनउमदज व पिदेजतनबजपवद) हैं। इस अन्तर को ग्लेडहिल ने इन षब्दों में व्यक्त किया है, ''मूल अधिकार निशेध हैं, जो सरकार को कुछ कार्य करने का आदेष देते हैं।''

2. मूल अधिकारों में नागरिकों की स्वतंत्रता, समानता, धार्मिक और साम्पत्तिक आदि अधि ाकारों का विवेचन किया गया है । परन्तु नीतिनिर्देषक तत्व उपर्युक्त अधिकारों को राज्य के नैतिक कर्तव्यों का स्वरूप प्रदान करते हैं। दूसरे षब्दों में, यदि मूल अधिकार उत्तम जीवन के दर्षन हैं. तो नीतिनिर्देषक तत्व उसके व्यावहारिक स्वरूप ।

3. मूल अधिकार संविधान द्वारा नागरिकों को प्राप्त होते हैं जिनका उपयोग वे कर सकते हैं। लेकिन नीतिनिर्देषक तत्व संविधान के आदर्ष होते हैं, जिन पर पहुँचने के लिए राज्य प्रयास करता है।

4. मूल अधिकारों का सम्बन्ध व्यक्ति (पदकपअपकनंस) और राज्य से रहता है, लेकिन निर्देषक तत्व का सम्बन्ध केवल राज्य (ंजंजम) से 1

5. मूल अधिकार आवष्यकतानुसार सीमित किये जा सकते है लेकिन निर्देषक तत्वों के साथ यह बात नहीं है। उदाहरण के लिए, भारतीय संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि संकटकाल में मूल अधिकार स्थगित कर दिये जा सकते हैं, किन्तु नीतिनिर्देषक तत्वों

के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं कही गयी है।

8. मूल अधिकारों का क्षेत्र देष तक ही सीमित रहता है, लेकिन नीतिनिर्देषक तत्वों का दायरा अर्न्तराश्ट्रीय भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, भारतीय संविधान के अनुसार नागरिकों के मूल अधिकार भारत के राज्य क्षेत्र तक ही लागू हो सकते हैं, उसके बाहर नहीं। किन्तु नीतिनिर्देषक तत्वों में दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध भी आ जाता है ।

□

7. मूल अधिकार न्यायिक क्षेत्राधिकार के विशय हैं, किन्तु निर्देषक तत्व इसकी परिधि से बिल्कुल बाहर हैं। यहाँ भी हम भारतीय संविधान का उदाहरण ले सकते हैं। संविधान द्वारा भारतीयों को कुछ मूल अधिकार दिये गये हैं और इन अधिकारों को न्यायालय का संरक्षण (चतवजमबजपवद) भी प्राप्त है। साधारण स्थिति में यदि किसी नागरिक के

। इन अधिकारों का अपहरण हो तो वह नागरिकों के मूल अधिकार की रक्षा के लिए उचित कार्यवाही कर सकता है, पर नीतिनिर्देषक तत्वों के साथ यह बात नहीं है। न्यायालय के जरिये कोई व्यक्ति सरकार को बाध्य नहीं कर सकता कि वह नीतिनिर्देषक तत्वों को कार्यान्वित करे ही। यह बिल्कुल सरकार की इच्छा के ऊपर है कि वह इन तत्वों को अपनाये या नहीं। न्यायालय इसके लिए राज्य को बाध्य नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, संविधान के नीतिनिर्देषक तत्व वाले अध्याय में यह कहा गया है कि राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि वह अपने नागरिकों को काम पाने का अधिकार दिलाये। पर यदि किसी व्यक्ति को नौकरी नहीं मिलती हो तो इसके लिए वह सरकार पर मुकदमा मही चला सकता और यदि ऐसा करता है तो न्यायालय द्वारा इसकी कोई सुनवाई नहीं होगी, क्योंकि यह न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बिल्कुल अलग है।

☐

भारतीय षासन एवं राजनीति

छव्ज्म्

स्यांग को करें :

1. नीति निर्देषक तत्वों का अर्थ

क्या है?

2. नपा निर्देषक सत्य आवष्यक

है?

ैमसा–प्देजतनब

123

भारतीय षासन एवं राजनीति

छव्ज्म्

ैमसा–प्देजतनबजपवदंस डंजमतपंस

124

8. यद्यपि 'चम्पाकन दोरायजन के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने बताया था कि नीतिनिर्देषक सिद्धान्त मूल अधिकारों का व्याघात नहीं कर सकते और यदि करें तो लागू नहीं होंगे। तथापि संविधान के चतुर्थ संषोधन के समय प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने बताया कि, ''यदि नीतिनिर्देषक सिद्धान्त और मूल अधिकारों में अन्तर्विरोध हो तो निर्देषक सिद्धान्त को ही प्राथमिकता दी जायेगी और संसद का यह कर्तव्य होगा कि संविधान में संषोधन कर इस अर्न्तविरोध का अन्त करे।'' वस्तुतः चतुर्थ संषोधन में ऐसा हुआ भी ।

मौलिक अधिकारों से राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों का अन्तर देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायालय के संरक्षण के अभाव में ये तत्व बेकार हैं, परन्तु यह कहना उचित नहीं होगा । न्यायालयों ने अपना निर्णय देते समय कभी भी राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों का अनादर

नहीं किया है। बिहार राज्य बनाम कामेष्वर सिंह तथा 'केरल षिक्षा विधेयक पर विचार करते समय न्यायालय ने यह स्पश्ट कहा था कि नीतिनिर्देषक तत्व न्याय योग्य नहीं हैं, फिर भी राज्य उनकी अवहेलना नहीं कर सकता, क्योंकि वे षासन के आधारभूत सिद्धान्त हैं। ''कुरेषी बनाम बिहार राज्य' नामक मुकदमे में न्यायालय ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा कि ''संविधान की सामंजस्यपूर्ण व्याख्या होनी चाहिए। इसकी व्याख्या ऐसी होनी चाहिए कि राज्य नीति निदेषक तत्वों को अनिवार्य रूप से प्रवर्तित करे। लेकिन साथ–साथ वह ऐसा भी नहीं करे कि उसके कानून मूल अधिकारों को समाप्त या सीमित कर दें, अन्यथा तृतीय भाग के संरक्षण उपबन्ध केवल बालू की रस्सी रह जायेंगे ।''

26 फरवरी, 1967 को भी एक मुकदमे के निर्णय के सिलसिले में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीष ने कहा, ''हमारे संविधान में मौलिक अधिकारों को अनुभवातीत स्थिति प्रदान की गयी है और उन्हें संसद की पहुँच से बाहर रखा गया है। साथ ही भाग 3 और 4 में समन्वित रूप से एक स्वयंपूर्ण संहिता का निर्माण किया गया है। यह योजना इतनी लचीली है कि नीतिनिर्देषक तत्वों को मौलिक अधिकारों के अपहरण या सीमित किये बिना न्यायसंगत रूप से लागू किया जा सकता है।'' राजनीतिज्ञों ने तो इसे और महत्वपूर्ण स्थान दे डाला है। पं. नेहरू ने बहुत पहले कहां था कि ''यदि नीतिनिर्देषक तत्वों तथा मूल अधि कारों में परस्परविरोध हो तो निर्देषक तत्वों को ही प्राथमिकता दी जायेगी।'' पायली का कहना है कि जब कभी दोनों में पारस्परिक विरोध का मामला उपस्थित हो जाय तो यथासम्भव इस भेद को समाप्त करने की दृश्टि से संविधान की आन्तरिक भावना को ध्यानं में रखते हुए विवाद को हल करना चाहिए। उन्हीं के षब्दों में, "वस्तुतः इन दोनों के बीच . कोई सही विरोध ा नहीं हो सकता। इन दोनों में घनिश्ठ सम्बन्ध है और ये एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते।'' राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों के मार्ग में न्यायालय बाधा उपस्थित नहीं कर सके, इस उद्देष्य से मूल अधिकार के अनुच्छेद 31 में संषोधन के लिए लोकसभा में संविधान का 25वां संषोधन विधेयक पेष किया जा चुका है। इस विधेयक में इस बात का उल्लेख किया गया हैं कि अनुच्छेद 39 की धारा 'ख' और 'ग' में दिये गये सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए बनाये गये किसी कानून को इस आधार पर गैरकानूनी घोशित नहीं किया जा सकता कि वह अनुच्छेद 14, 19 और 31 में दिये गये अधिकारों से मेल नहीं खाता या इन अधिकारों का अपहरण करता है या सीमित करता है। साथ ही किसी ऐसे कानून पर, जिसमें राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों को कार्यान्वित करने की घोशणा की गयी है, इस आध ार पर न्यायालय में प्रष्न नहीं उठाया जा सकता है कि वह इस तरह की नीति लागू– नहीं करता । इस प्रकार राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों के कार्यान्वयन के मार्ग की बाधाओं को दूर करने की ओर कदम उठाया जा रहा है।

निर्देषक तत्व से लाभ □ संविधान में निर्देषक तत्वों के वर्णन से एक लाभ यह कि राज्य की नीति में एक प्रकार की स्थिरता रहती है। चुनाव में चाहे कोई अनुदार दल जीते या कोई क्रांतिकारी पार्टी, किन्तु जो भी सरकार बनेगी उसके कार्यक्रम में इन्हीं निर्देषक तत्वों का आदर्ष रहेगा। संक्षेप में, हम यही कह सकते हैं कि निर्देषक तत्वों देष के षासन में मूलाध ार का काम करेंगे तथा कानून बनाने के काम में इनका उपयोग राज्य का कर्तव्य होगा

क्या निर्देषक तत्व आवष्यक हैं? निर्देषक तत्व लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में बहुत सहायक हो सकते हैं। इस बात के होते हुए भी निर्देषक तत्वों के वर्णन

के लिए संविधान उपयुक्त स्थान नहीं है। आज के युग में प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है कि

वह नागरिकों के विकास और अच्छे जीवन के लिए समुचित दषाएँ उपस्थित करे, चाहे उस

देष के संविधान में निर्देषक तत्वों का प्रतिपादन हुआ हो या नहीं। जो राज्य अपने नागरिकों के लिए ऐसा नहीं करता है, वह लोक कल्याणकारी होने का दावा नहीं कर सकता। फिर भी यह तो सत्य है कि संविधान में निर्देषक तत्वों का वर्णन तभी उचित है जब उसके पीछे कानून का भी कुछ बल हो, अन्यथा इनके वर्णन से कोई विषेश लाभ नहीं है। 'मद्रास सरकार

बनाम चम्पाकन दोरायजन (1951)' के मामले में निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने यह विचार प्रकट किया था कि नीतिनिर्देषक तत्व मूल अधिकारों को अभिभूत नहीं कर सकते और यदि करें तो अवैध है।

भारतीय संविधान और निर्देषक तत्व

राज्य के नीतिनिर्देषक तत्व भारतीय संविधान की एक ऐसी नवीनता और विषिश्टता हैं जो आयरलैंड और बर्मा को छोड़कर संसार के किसी वर्तमान संविधान में नहीं पाये जाते हैं। हमारे संविधान के चतुर्थ भाग में कुछ ऐसी धाराएँ हैं जिनमें ऐसी सुविधाओं का वर्णन किया गया है जिनकी प्राप्ति से नागरिकों का जीवन सुखमय हो सकता है। इन धाराओं में राज्य को कुछ ऐसे आदेष दिये गये हैं और कुछ ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है कि उनके आधार पर चलकर राज्य अपने उच्चतम उद्देष्यों की पूर्ति कर सकता है। हमारे

संविधान में निर्देषक तत्वों का वर्णन करके इस बात को सूचित कर दिया गया है कि राज्य. का अन्तिम उद्देष्य क्या है और वह किस चरम सीमा पर पहुंचने का प्रयास कर सकता है। ये तत्व हमारी सरकार के लिए प्रेरणा का काम करते हैं। हमारे संविधान में नीतिनिर्देषक तत्वों का यही महत्व है। इस सम्बन्ध में डॉ० अम्बेदकर ने कहा था कि ''मेरे विचार में निर्देषक सिद्धान्तों का उद्देष्य बहुत अधिक है, क्योंकि वे इस तत्व का प्रतिपादन करते हैं. कि हमारा आदर्ष आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना करना है। हम नहीं चाहते कि संविधान में इस बात का कोई निर्देष नहीं हो कि हमारा आर्थिक आदर्ष क्या होगा और हमारी सामाजिक व्यवस्था का क्या रूप होना चाहिए। अतः हमने सोच–समझकर निर्देषक सिद्धान्तों को संविध ाान में सम्मिलित किया हैं।

भारतीय संविधान में नीतिनिर्देषक तत्व तीन प्रवषत्तियों से प्रभावित हुए हैं समाजवादी, गाँध ीवादी और भारत की अपनी विषेश परिस्थितियाँ। इसके कुछ अंषों द्वारा समाजवादी सिद्धान्त को अपनाया गया है और कुछ के द्वारा गांधीवाद सिद्धान्त को । कुछ बातें ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध भारत की विषेश परिस्थितियों से है और निर्देषक तत्वों द्वारा उनके समाधान का प्रयास किया गया है। पायली के अनुसार, ''भारतीय संविधान के इस भाग में जो कुछ हुआ है उसका जर्मी बेन्थम के विचारों, पष्चिमी यूरोप के उदारवादी तथा प्रगतिवादी दलों के सिद्धान्तों, फेबियन समाजवाद तथा अंषतः श्रेणिसमाजवाद के सिद्धान्तों से बहुत मेल है ।'' सर आइवर जेनिंग्स के विचार में, ''निर्देषक सिद्धान्त सिडनी तथा बैट्रिस वेब से अत्यधिक प्रभावित हैं। सम्पूर्ण भारतीय संविधान पर सिडनी तथा बैट्रिस वेब की आत्मा विचरती नजर आती है। वस्तुतः संविधान का यह भाग फेबियन समाजवाद के सिद्धान्तों को – समाजवाद' षब्द का प्रयोग किये बिना अभिव्यक्त करता हैं क्योंकि केवल उत्पादनय वितरण तथा विनिमय के साधनों को राश्ट्रीयकरण ही इसमें नहीं है।'' परन्तु इन कथनों का यह अर्थ नहीं है कि राज्य के नीतिनिर्देषक तत्व केवल पाष्चात्य विचारधाराओं और आदर्षों से ही प्रभावित हुए हैं। वास्तविकता तो यह है कि ये भारतीय परम्पराओं और विचारधाराओं भी प्रभावित हुए हैं। डॉ० एम० पी० षर्मा ने इसी आधार पर राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों को तीन वर्गों में रखा है – (क) समाजवादी (ख) गाँधीवादी (ग) बौद्धिक उदारतावादी । किन्तु इस वर्गीकरण के आधार पर नीतिनिर्देषक तत्वों को समझने मे कुछ कठिनाई होगी। अतः अपनी सुगमता के लिए हम इन्हें निम्नलिखित षीर्शकों में बाँट सकते हैं :

(क). आर्थिक नीति और व्यवस्था से सम्बद्ध तत्व,

. (ख) सामाजिक लोककल्याण सम्बन्धी तत्व,

(ग) षासन, न्याय एवं षिक्षा से सम्बद्ध तत्व,

(घ) प्राचीन स्मारक सम्बन्धी तत्व,

(ड.) अन्तर्राश्ट्रीय षान्ति एवं सुरक्षा से सम्बद्ध तत्व,

अब हम इन तत्वों का क्रमषः वर्णन करेंगे

(क) आर्थिक नीति एवं व्यवस्था से सम्बद्ध तत्व – नागरिकों का आर्थिक . जीवन सुधारने और उन्हें समुचित आर्थिक दषा प्राप्त कराने के लिए संविधान द्वारा राज्य को

अनेक आदेष दिये गये हैं। ये निम्नलिखित हैं :

1. राज्य अपनी नीति का संचालन इस प्रकार करेगा जिससे सभी नागरिकों को अपनी जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त हो सकें अर्थात् राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह किसी को भूखों न मरने दें, किसी को आजीविकाहीन न रहने दे।

2. देष की भौतिक सम्पत्ति का वितरण इस प्रकार हो जिससे समस्त समाज का

कल्याण हो ।

3. आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार की हो कि धन तथा उत्पादन के साधन थोड़े से लोगों

के हाथों में केन्द्रित न हो जायें।

4. सभी श्रमजीवियों चाहे वे पुरुश हो अथवा स्त्री को समान कार्य के लिए समान

वेतन मिले।

5. श्रमिकों (पुरुश, स्त्री अथवा बालक) के स्वास्थ्य और षक्ति का तथा उनकी अवस्था का दुरुपयोग न हो, अर्थात् ऐसा न हो कि आर्थिक आवष्यकताओं से विवष होकर लोगों को ऐसा काम करना पड़े जो उनकी आयु या षक्ति के अनुकूल न हो ।

6. बच्चों और किषोर वय के लोगों को षोशण तथा आर्थिक और नैतिक पतन से बचाया

जाय ।

7. राज्य अपने आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार इस बात की कोषिष करे कि सभी व्यक्ति

काम और षिक्षा पा सकें।

8. राज्य इस बात का भी प्रयास करे कि बेकारी, बुढ़ापा, अंगभंग तथा अन्य अभाव की

दषाओं में नागरिक सरकारी सहायता से लाभ उठा सकें।

9. राज्य इस बात का प्रबन्ध करे कि मनुश्य उचित रूप से काम कर सके और उसे

जीवन का खतरा या षारीरिक हानि पहुँचने का खतरा न हो।

''10. प्रसूति अवस्था में स्त्रियों की सहायता के लिए भी राज्य प्रयत्न करे।

11. कानून, आर्थिक संगठन या अन्य किसी प्रकार से राज्य ऐसा प्रयत्न करे जिससे श्रमिकों, कृशकों तथा अन्य तरह के काम करने वालों को निर्वाह योग्य मजदूरी मिल सके। 12. 'श्रमिकों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया जाय ताकि वे अपने 'अवकाष का पूर्ण उपयोग कर सकें तथा सामाजिक और उन्होंने सांस्कृतिक विकास का उपयुक्त अवसर प्राप्त हो सके।

13. साथ ही राज्य ग्रामीण कुटीर उद्योगों (बवजजंहम पदकनेजतपमे) को व्यक्तिगत या सहकारी (बव–वचमतंजपअम) आधार पर प्रोत्साहित कर ग्रामों की आर्थिक दषा में सुधार लाने का प्रयास करे।

(ख) सामाजिक लोककल्याण सम्बन्धी तत्व– भारतीय समाज में कुरीतियों की कमी नहीं है। नषाखोरी और अल्पसंख्यकों के साथ दुर्व्यवहार ऐसी ही कुरीतियाँ हैं।

1. अतएव इन्हें दूर करने के लिए संविधान नीतिनिर्देषक तत्वों द्वारा राज्य को आदेष देता है कि वह हानिकारक नषाखोरी को बन्द करे और नागरिकों के स्वास्थ्य सुधार का प्रयत्न करे। राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसा कार्य करे जिसके फलस्वरूप भारतीयों को पुश्टिकर भोजन प्राप्त हो और उनका जीवनस्तर ऊँचा उठे।

2. अनुसूचित तथा आदिम जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के साथ सदियों से घोर ‘अन्याय होता आ रहा है। अतएव संविधान द्वारा राज्य को आदेष है कि वह इन जातियों की षिक्षा की व्यवस्था करे उनके अर्थसम्बन्धी हितों की रक्षा का प्रबन्ध विषेश सावधानी से करे ताकि वे उन्नति के पथ पर अग्रसर हों तथा सामाजिक अन्याय एवं आर्थिक षोशण से उनकी

रक्षा हो सके !.

(ग) षासन, न्याय एवं षिक्षा से सम्बद्ध तत्व देष में षासन, न्याय और षिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने के लिए भी संविधान राज्य को कुछ आदेष देता है। वे ये हैं : 1. महात्मा गाँधी को विष्वास था कि भारत में प्रजातंत्र की सफलता ग्रामपंचायतों की सफलता पर निर्भर है। अतः संविधान के अनुसार राज्य ग्रामपंचायतों का संगठन करेगा और उन्हें इस प्रकार विकसित कराने का प्रयत्न करेगा ताकि वे स्वायत्त षासन की अभिन्न अंग बन सकें।

2. हमारे विषाल देष में एक ही प्रकार की व्यवहारसंहिता (बपअपस बवकम) नहीं है। – इसका परिणाम देष की प्रषासनिक और न्यायिक बातों के लिए अच्छा नहीं होता। इसलिए संविधान राज्य को यह आदेष देता हैं कि वह सारे देष के लिए एक सी व्यवहार संहिता तैयार करने का प्रयास करे जिससे समस्त भारत में एक ही वैयक्तिक कानून हों।

3. कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग अलग रखने की उपादेयता पर यहाँ प्रकाष डालना आवष्यक नहीं। इस बात को अब सब मानते हैं कि इन लोकसेवाओं के मिले–जुले रहने के कारण उचित न्यान नहीं हो पाता। नीतिनिर्देषक तत्व द्वारा संविधान राज्य को यह आदेष देता है कि वह कार्यपालिका और न्यायपालिका को पष्थक करने का प्रयत्न करे जिससे नागरिकों को उचित न्याय प्राप्त हो सके।

4. कृशिप्रधान देष होते हुए भी भारत में पषुधन का जितना दुरुपयोग होता है उतना संसार के षायद किसी देष में नहीं। अतः संविधान कहता है कि राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि कृशि तथा पषुपालन आधुनिक वैज्ञानिक तरीके से हो। वह गार्यो, बछड़ों तथा अन्य

.दुधारू या भारवाहक पषुओं की नस्ल बचाने तथा सुधारने की चेश्टा करेगा। राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह पषुवध रोके ।

5. निरक्षरता हमारे देष का सबसे बडा अभिषाप है। कोई भी देष तब तक पूर्ण सभ्य कहलाने का दावा नहीं कर सकता जब तक इसके सभी नागरिक षिक्षित न हो जाएँ। अतएव इस बात को ध्यान में रखकर संविधान में यह कहा गया है कि राज्य संविधान के लागू होने के दस वर्श में चौदह वर्श की आय के बालकों के लिए निःषुल्क षिक्षा का प्रबन्ध करें। इस प्रकार की षिक्षा अनिवार्य हो ।

.(घ) प्राचीन स्मारक सम्बन्धी तत्व भारत एक बहुत ही प्राचीन देष है। इसका इतिहास लगभग तीन हजार वर्श पुराना है। अभी भी हमारे देष में ऐसे ऐतिहासिक महत्व के खंडहर और स्मारक हैं जो हमारी प्राचीन गौरवमयी सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक हैं। इन्हें नश्ट होने से बचाना हमारा पुनीत कर्तव्य है। संविधान ने इसका दायित्व राज्य को दिया है। संविध ाान के अनुसार राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह कानून बनाकर देष के ऐतिहासिक और कलात्मक महत्व के प्रत्येक स्मारक या वस्तु को जो राश्ट्रीय महत्व की है– विनश्ट,

दूशित और स्थानान्तरित किये जाने अथवा बाहर भेजे जाने से बचाये ।

जिस समय भारत

(ङ) अर्न्तराश्ट्रीय षान्ति एवं सुरक्षा से सम्बद्ध तत्व स्वतंत्र हुआ और संविधान बनने लगा उसके कुछ ही दिन पूर्व द्वितीय विष्वयुद्ध का अन्त हुआ था। संसार उस युग के विनाषकारी परिणामों से त्रस्त था। सबकी कामना थी कि विष्व में षान्ति कायम रहे। भारत के लिए विष्वषान्ति जीवन मरण का प्रष्न थी । सदियों से षोशित हमारा देष प्रगति के पथ पर तभी अग्रसर हो सकता है जब विष्व में षान्ति बनी रहे। लेकिन विष्वषान्ति के लिए कुछ आवष्यक दषाएँ जरूरी होती हैं। राश्ट्रों के बीच सद्भावना, अन्तराश्ट्रीय विधि (प्दजमतदंजपवदंस सूं) और सन्धियों (जतमंजपमे) के प्रति आदर तथा अन्तर्राश्ट्रीय विवादों का मध्यस्थता (तइपजतंजपवद) द्वारा निबटारा विष्वषान्ति की कुछ आवष्यक षर्तें हैं। अकेले भारत इन षर्तों को पूरा कर विष्वषान्ति नहीं ला सकता। अधिक से अधिक इस क्षेत्र में वह अपना सहयोग दे सकता है। हमारे संविधान निर्माताओं ने इसे महसूस किया और नीतिनिर्देषक तत्वों द्वारा इस सम्बन्ध में राज्य को कुछ आदेष दिये। ये निम्नलिखित हैंः

1. अन्तर्राश्ट्रीय क्षेत्र में राज्य षान्ति और सुरक्षा कायम करने की चेश्टा करेगा । 2. राज्य राश्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की कोषिष करेगा ।

3. राज्य राश्ट्रों के आपसी व्यवहार में अन्तर्राश्ट्रीय विधि तथा सन्धियों के प्रति आदरभाव बढ़ाने का प्रयत्न करेगा।

4. राज्य अन्तर्राश्ट्रीय झगड़ों को मध्यस्थता द्वारा निबटाने के लिए प्रयत्न करेगा। निर्देषक तत्वों की आलोचनाएँ— संविधान में नीतिनिर्देषक तत्वों रखने का. उद्देष्य भारत में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करना था । संविधाननिर्माताओं का यह उद्देष्य था कि लोककल्याण की उन्नति के लिए राज्य ऐसी व्यवस्था का प्रयास करे जिसमें सबको सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त हो। वस्तुतः यदि इन तत्वों को कार्यान्वित किया जाय तो हमारा देष एक आदर्ष लोककल्याणकारी राज्य बन सकता है । फिर भी समीक्षकों द्वारा संविधान के इस भाग की काफी आलोचनाएँ की गयी हैं। आलोचकों के तर्क निम्नलिखित हैं :

1. कानूनी अनुषक्ति का अभाव आलोचकों का कहना है कि राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों के पीछे न्यायिक षक्ति नहीं है। उन्हें लागू करने के लिए राज्य को बाध य नहीं किया जा सकता है। आलोचकों द्वारा इन्हें पुनीत इच्छाएँ उच्चतम कल्पनाएँ, नैतिक उपदेष, षुभ आकांक्षाएं इत्यादि कहा गया है। प्रोफेसर के. टी. षाह के अनुसार, ''यह एक ऐसे बैंक की हुंडी है जो जब योग्य होगी तब चुकाने योग्य होगी। उनके अनुसार इसमें वर्णित

सिद्धान्त अत्यन्त मौलिक, आवष्यक और क्रियात्मक हैं, परन्तु इन्हें न्यायपालिका के क्षेत्राधि ा कार से हटाकर सारे संविधान का घोर अपमान किया गया है । ''

संविधान परिशद के एक सदस्य नाजिरुद्दीन अहमद ने कहा था कि इन तत्वों को संवैधानिक मान्यता दिये बिना संविधान में स्थान देना उसी तरह है जैसे नये वर्श के प्रथम दिन प्रतिज्ञाएँ की जाती हैं। लेकिन दूसरी तारीख को ही तोड़ दी जाती हैं। कुछ आलोचक इन्हें भारत की भोलीभाली जनता को ठगने का प्रयास और कांग्रेस पार्टी की भोंड़ी राजनीतिक चाल बतलाते हैं। श्रीराम षर्मा ने इन्हें उच्चकोटि की मूर्खता (नइसपउम दवदेमदेम) कहकर पुकारा है। सर बी. एन. राव के अनुसार, राज्य के नीतिनिर्देषक तत्व राज्य के अधिकारियो के लिए नैतिक उपदेष के समान हैं और उनके विरुद्ध यह आलोचना की जाती है कि संविध मन में नैतिक उपदेषों के लिए स्थान नहीं है।'' डॉ. एन. आर. राघवाचारी के षब्दों में, 'इन सिद्धान्तों को व्यावहारिक राजनीति के स्थान पर राजनीतिक दर्षन ही कहा जा सकता है और व्यर्थ परन्तु वैभवपूर्ण षब्दावली में जड़ी हुई उच्चतम कल्पनाओं एवं भावनाओं की पंक्ति के अतिरिक्त एक वैधानिक आलोचक अथवा एक आलोचनात्मक वैधानिक की दृश्टि में इनका मूल्य न्यून अथवा कुछ नहीं है।'' ये आलोचनाएँ केवल इसी आधार पर की जाती हैं कि

नीतिनिर्देषक तत्वों को कोई कानूनी बल नहीं मिला है। आलोचक इन्हे केवल राज्य की षुभ इच्छाएँ मानते हैं।

☐

2. अस्पश्ट तथा अतार्किक वर्णन – आलोचकों ने राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों के विरुद्ध दूसरा तर्क यह दिया है कि ये स्पश्ट नहीं है। इन तत्वों को न तो ठीक ढंग से विभाजित किया गया है और न वैज्ञानिक रूप से क्रमबद्ध ही । जेनिंग्स के विचारानुसार, ''नीतिनिर्देषक तत्वों को किसी निष्चित तथा संयत दर्षन पर आधष्त नहीं किया गया है।'' आलोचकों का तर्क है कि, ''संविधान में उद्घोशित निर्देषक सिद्धान्त अस्पश्ट हैं और अवैज्ञानिक रूप से क्रमबद्ध किये गये हैं। साधारण समस्याओं के साथ साथ अधिक महत्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को इस प्रकार मिला दिया गया है कि एक अलग उलझन पैदा हो जाती है ।'' श्री निवासन के षब्दों में, ''इनमें बेतुके ढंग से नये को पुराने से तथा तर्क एवं विज्ञान पर आधष्त बातों को मनोभावों तथा संकीर्णता पर आधष्त बातों से मिश्रित कर दिया गया हैं ।''

3. सार्वभौम राज्य में अप्राकृतिक – अनके आलोचनाओं की दृश्टि में संविधान में इन तत्वों का समावेष अत्यन्त अप्राकृतिक तथा हास्यास्पद है। कोई उच्च सत्ता ही अपनी अधीनस्थ सत्ता को आदेष दे सकती है। परन्तु यह बात अस्वाभाविक प्रतीत होती है कि एक सर्वोपरि सत्ता स्वयं को ही निर्देषित करे। भारत भी एक सार्वभौम राज्य है। अतः राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों की व्यवस्था को अप्राकृतिक ही कहा जायगा।

4. अव्यावहारिक और अनुपयुक्त राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों के विरुद्ध आलोचकों का यह भी तर्क है कि निर्देषक सिद्धान्तों की घोशणा व्यर्थ है और यह संविधान की जटिलता बढ़ाने में सहायक है। कई तत्व अव्यावहारिक प्रतीत होते हैं। कोई भी सिद्धान्त अटल तथा निष्चित नहीं हो सकता, क्योकि वह देष की परिस्थिति और काल के अनुसार बदलता रहता है। अतः संविधान में चिरन्तन और निष्चित सिद्धान्तों की घोशणा व्यर्थ तथा महत्वहीन है।

5. सिद्धान्तों की पुनरावष्त्ति – संविधान में जिन निर्देषक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है वे प्रस्तावना में निहित ही हैं। इसके अतिरिक्त ये सिद्धान्त प्रजातंत्र – राज्य की नीति में अन्तर्हित हैं। अतः अलग से इनकी घोशणा सिद्धान्तों की पुनरावष्त्ति ही कही जायेगी ।

6. साधनों की अवहेलना – राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों की आलोचना करते हुए डॉ. जेनिंग्स ने कहा है कि संविधान का यह अध्याय सिर्फ लक्ष्य की चर्चा करता है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधनों का उल्लेख संविधान में नहीं किया गया है। उन्हीं के षब्दों में, ''यह फेबियन समाजवाद के विचारों को अपनाता है लेकिन उसके मुख्य साधनों उत्पादन,,

3. क्या निर्देषक तत्वों के पीछे जनमत की षक्ति हुआ करती है?

4. क्या निर्देषक तत्वों को मान्यता न्यायालयों द्वारा प्रदान की गई है?

वितरण तथा विनिमय के राश्ट्रीयकरण को नहीं अपनाता । इस प्रकार भारतीय संविधान राश्ट्रीयकरण के सिद्धान्त का उल्लंघन कर समाजवाद की प्राप्ति के साधनों को छोड़ देता हैं।

7. असंगत तथा असामयिक – आलोचकों का यह भी कहना है कि ये सिद्धान्त वर्तमान भारत और विषेशकर भविश्य के भारत के लिए असंगत और असामयिक हैं। जेंनिग्स 'षब्दों में, ''नीतिनिर्देषक तत्व और कुछ नहीं ब्रिटेन के उन्नीसवीं षताब्दी के राजनीतिक अनुभवों पर आश्रित सिद्धान्त हैं। वे बीसवीं षताब्दी के मध्य में भारत के लिए अनुपयुक्त है।'' आलोचकों ने कल्पना करते हुए यह भी भविश्यवाणी की है कि बाद में इन तत्वों का कोई मूल्य नहीं रह जायगा ! भविश्य में इन तत्वों की स्थिति पर प्रकाष डालते हुए जेनिंग्स ने लिखा है, ''ये सिद्धान्त केवल पुराने ही नही पड़ जायेंगे, बल्कि प्रतिक्रियावादी भी हो जायेंगे और

राश्ट्र के विकास को अवरुद्ध करेंगे।''

8. निर्देषक तत्वों को व्यावहारिक बनाने के प्रति उदासीनता आलोचकों का यह भी कहना है कि निर्देषक तत्वों को व्यावहारिक बनाने के प्रति भी राजनीतिज्ञ उत्साहित नजर नहीं आते। इन्हें जनता को अपनी ओर आकृश्ट करने का हथकंडा भर कहा जा सकता है। निर्देषक तत्वों को व्यावहारिक बनाने के प्रति उदासीनता की ओर लोगों का ध्यान आकृश्ट करते हुए एक बार लोकसभा में साम्यवादी सदस्य तुशार चटर्जी ने कहा था, ''आम जनता ब्रिटिष युग में फैली दषाओं तथा वर्तमान दषाओं में कोई अन्तर नहीं पाती है। खाद्यान्न, षिक्षा, स्वास्थ्य जैसी समस्याएँ अभी तक नही सुलझ सकी हैं तथा आम जनता का जीवन और भी कठिन तथा भार–सा हो गया है। वह सिर्फ यही अनुभव करती है कि सविध न में ये पवित्र घोशणाएँ निर्देष नहीं अपितु सजावट की साम्रगी है।''

नीतिनिर्देषक तत्वों का महत्व आलोचकों का यह विचार कुछ अंषों में ठीक भी है और गलत भी। यह बात ठीक है कि नीतिनिर्देषक तत्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है और बहुत अंषो में वे बेकार भी हैं। लेकिन यह कहना कि उनका कुछ भी मूल्य नहीं है, गलत होगा। निर्देषक तत्वों के महत्व की चर्चा इस प्रकार की जा सकती है

1. निर्देषक तत्वों के पीछे जनमत की षक्ति – निर्देषक तत्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है परन्तु फिर भी इनकी महत्ता है। इसका कारण यह है कि इनके पीछे जनमत की षक्ति विद्यमान हैं। इन तत्वों की महत्ता संविधान में ही स्पश्ट कर दी गयी है और संविधान के अनुच्छेद 37 में कहा गया है कि राज्य की नीति का संचालन करने में ये आधारभूत तत्व होंगे और राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह विधिनिर्माण के समय इन तत्वों का अतिक्रमण नहीं करे। निर्देषक तत्वों को संविधान में इसलिए स्थान दिया गया है कि केन्द्र तथा राज्यों की सरकारें इन तत्वों को सर्वदा ध्यान में रखें और कार्यान्वित करने की चेश्टा करें। यों तो कोई भी लोक कल्याणकारी राज्य इन तत्वों को प्राप्त करने की कोषिष करेगा ही चाहे इसका उल्लेख उसके संविधान में हुआ हो या नही, लेकिन संविधान में इन बातों का उल्लेख कर देने से सरकार पर एक नैतिक दबाव हो जाता है। चुनाव के समय जनता कह सकती है कि वह उस पार्टी को अपना वोट देगी जो संविधान में वर्णित निर्देषक तत्वों को अमल में लाने की प्रतिज्ञा करे। संविधानसभा में वाद विवाद के दौरान एक सदस्य ने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि इन उपबन्धों को कार्यान्वित कराने वाली जनमत. षक्ति है जो जनता की माँग की पृश्ठभूमि होती है। प्रत्येक चार या पाँच वर्श बाद जो चुनाव होंगे उनमें निर्वाचकों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे जनमत के प्रति उदासीन व्यक्तियों को पुनः न चुनें। यही वास्तविक अनुषक्ति है न कि न्यायालय की अनुषक्ति । श्री अल्लादी कृश्णास्वामी का भी कहना सही है कि कोई भी लोकप्रिय मंत्रिमण्डल संविधान के चतुर्थ भाग के उपबन्धों के उल्लंघन का साहस नही कर सकता ।

न्यायालयों द्वारा निर्देषक तत्वों को मान्यता – सविधान में निर्देषक तत्वों के पीछे कानूनी बल की व्यवस्था नहीं की जाने पर भी इन्हें न्यायालयों द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। न्यायालयों ने अपना निर्णय देते समय निर्देषक तत्वों को हमेषा ध्यान में रखा है। न्यायालयों ने इस बात को स्वीकार किया है कि उनका कर्तव्य इन तत्वों को प्रवर्तित करने

और इनकी रक्षा करने में पूर्ण सहयोग देना है, क्योंकि ये संविधान के ही अंग हैं। 'गोपालन बनाम मद्रास राज्य' नामक मुकदमे के निर्णय के सिलसिले में मुख्य न्यायाधीष कानिया ने अपना विचार व्यक्त किया था कि राज्य के नीतिनिर्देषक तत्व संविधान के अंग हैं, इसलिए इन्हें बहुमत दल की इच्छामात्र मान लेना गलत होगा। ये तत्व सारे राश्ट्र की इच्छा के प्रतीक हैं जिन्हें उस संविधान सभा के माध्यम से व्यक्त किया गया है जिसे समस्त देष की सर्वोच्च विधि निर्मित करने का आदेष दिया गया था ।''

3. संवैधानिक पवित्रता संविधान के अन्य उपबन्धों की तरह ही राज्य के नीतिनिर्देषक तत्व भी पवित्र हैं। यह कहना उचित नहीं होगा कि कानूनी बल के अभाव में ये तत्व अपवित्र

हैं। न्यायालय ने भी इनकी पवित्रता स्वीकार की है। इसके साथ साथ राजनीतिज्ञों ने भी इन्हें पवित्र बनाये रखने की कोषिष की है। पं. नेहरू ने तो यहाँ तक कह दिया था कि ''यदि संविधान का कोई उपबन्ध निर्देषक तत्वों को व्यावहारिक रूप देने में बाध क हो रहा हो तो संविधान में आवष्यक संषोधन भी किया जा सकता है।'' आज भी इनकी पवित्रता की रक्षा एक पुनीत कर्तव्य बन गया है। सरकार ने इसी की रक्षा के लिए लोकसभा में संविधान का पच्चीसवाँ संषोधन विधेयक उपस्थित किया।

संविधान का उद्देष्य नीतिनिर्देषक तत्वों में उन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिन्हें पूरा करना संविधान का उद्देष्य है। संविधान में इस बात को स्पश्ट कर दिया गया है कि ये तत्व देष के षासन में मूलभूत सिद्धान्त होंगे। अनुच्छेद 38 में स्पश्ट कह दिया गया है कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था करे जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राश्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित कर सके। संविध न–निर्माताओं का यही उद्देष्य था कि राज्य इन तत्वों को विशम से विशम परिस्थितियों में भी लागू करे। इनका उद्देष्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना है। डॉ. अम्बेदकर के षब्दों में, ''संविधान का उद्देष्य केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही प्रजातंत्र की स्थापना नही है, जहाँ कानूनी षक्ति का आधार वयस्क मताधिकार होता है और कार्यकारिणी विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होती है, बल्कि कल्याणकारी राज्य को भी बढ़ावा देना है, जिसमें सामाजिक और आर्थिक प्रजातंत्र भी होता है । ''

5. विभिन्न परिस्थितियों से सुरक्षा दृ निर्देषक तत्व विभिन्न परिस्थितियों से भी सुरक्षा प्रदान करते हैं। पायली के षब्दों में, ''राज्य के नीतिनिर्देषक सिद्धान्तों द्वारा भारतीय संविधान व्यतिगत स्वतंत्रता हेतु घातक श्रमजीवियों की तानाषाही तथा जनसाधारण की आर्थिक सुरक्षा में बाधक होने वाले पूँजीवादी अल्पतंत्र, दोनों चरम सीमाओं में सन्तुलन स्थापित करता है।'' निर्देषक सिद्धान्तों का महत्व और भी है। प्रजातंत्र में सरकार दलगत होती है अतः चाहे किसी भी दल की सरकार क्यों न हो उसके षासन के आधार ये निर्देषक सिद्धान्त होंगे और इस प्रकार सरकार की नीति में स्थिरता तथा गतिषीलता रह सकेगी और दलबन्दी के प्रवाह में भी नीतिनिर्देषक सिद्धान्त राज्य की नीति का पथप्रदर्षन करेंगे। डॉ०

में अम्बेदकर ने कहा था कि ''राज्य के नीतिनिर्देषक सिद्धान्तों की भाशा को हमने ऐसा स्वरूप दिया है जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि वे न तो स्थायी हैं और न कठोर ही। हमने विभिन्न समयों और विभिन्न विचारों के अनुसार आर्थिक प्रजातंत्र स्थापित करने का प्रयास किया और अपने विचार तथा रुचि के अनुकूल मतदाताओं पर प्रभाव डाला। मेरे विचार से आर्थिक प्रजातंत्र स्थापित करने का सबसे अच्छा उपाय यही है और इसी प्रकार आगे आने वाली पीढ़ियों को मनचाहे तरीके से कार्य का पूर्ण अवसर दिया जाना चाहिए ।''

6. नैतिक आदर्षों का महत्व राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों को हम भारतीय राजनीति का मूलमंत्र या बीजतत्व कह सकते हैं। निर्देषक तत्व हमारे संविधान के ऐसे आदर्ष हैं जो राज्य को सदा यह याद दिलाते रहेंगे कि उसे अपनी नीति इस ढंग से स्थिर करनी चाहिए तथा अपने कार्य इस प्रकार करने चाहिए कि इन आदर्षों का अधिक से अधि कि पालन हो सके। यह कहना भी उचित ही होगा कि ये तत्व ठीक उसी तरह के आदेषपत्र हैं जो 1935 के अधिनियम में ब्रिटिष सरकार द्वारा गवर्नर–जरनल तथा प्रान्तीय गवर्नरों को दिये गये थे । निर्देषक तत्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है लेकिन उन्हें जबर्दस्त नैतिक बल प्राप्त है और आज के युग में नैतिक बल की षक्ति कानूनी बल से कम नहीं है। ग्लैडहिल ने ठीक ही विचार व्यक्त किया है कि ''असंख्य व्यक्तियों का जीवन उनके मस्तिश्क से. ट्रकराने वाले नैतिक आदषों के कारण और इस प्रकार के निदेषक आदर्षों के उदाहरण. राश्ट्रों के इतिहास में पाना कठिन नहीं है । ''

7. संविधान की अस्पश्टता दूर करना – निर्देषक तत्व संविधान के उपबन्धों की, अस्पश्टता दूर करने में भी सहायक सिद्ध हुए हैं। निर्देषक तत्वों को देष के प्रषासन में आध रभूत तत्व माना गया है, अतः न्यायालय भी संविधान के उपबन्धों की व्याख्या करते समय इन तत्वों

को ध्यान में रखते हैं। कानिया के षब्दों में, "निस्सन्देह निर्देषक तत्वों को न्यायालय वैध नहीं ठहरा सकता है, अगर वे मूल अधिकार के किसी विषेश उपबन्ध का विरोध करते हैं। फिर भी इनकी व्याख्या के लिए निर्देषक तत्वों का लाभप्रद उपयोग किया जा सकता है।'' प्रो० अलेक्जन्द्राविक्स के अनुसार, ''न्यायालयों को मौलिक अधिकारों की व्याख्या के सम्बन्ध में निर्देषक तत्वों को पर्याप्त महत्व देना चाहिए ।''

उपर्युक्त महत्वों की विवेचना से ही स्पश्ट हो जाता है कि निर्देषक तत्वों के आलोचकों के तर्क उचित नहीं हैं। आलोचकों का तर्क कि राश्ट्रपति या राज्यपाल इनका दुरूपयोग कर सकता है, ठीक प्रतीत नहीं होता। संसदीय प्रजातंत्र में मंत्रिमण्डल के निर्णय को राश्ट्रपति या राज्यपाल की अस्वीकृति का प्रष्न ही नहीं उठता। डॉ० अम्बेडकर ने भी कहा है कि ''विधायिका द्वारा पारित विधि को अस्वीकृत करने के लिए राश्ट्रपति या राज्यपाल निर्देषक तत्वों का उपयोग नही कर सकते हैं।'' फिर आलोचकों का यह तर्क भी गलत है कि निर्देषक तत्व असंगत तथा अव्यावहारिक हैं। आलोचकों ने इन तत्वों की भविश्य में महत्ता पर षंका प्रकट की है। आलोचकों के इस तर्क का उत्तर देते हुए पायली ने ठीक ही लिखा है कि ''यदि कभी ये सिद्धान्त पुराने होकर लागू करने योग्य नही रहेंगे तो इनमें आवष्यकतानंसार संषोधन किया जा सकता है अथवा इनका पूर्णतः परित्याग भी किया जा सकता है। इन उपबन्धों की संषोधन प्रक्रिया अत्यन्त सरल है। जब इन्हें संषोधित करने का समय आयेगा तब तक भारत इनसे पूर्ण लाभान्वित हो चुकेगा और भारत में आर्थिक प्रजातंत्र की जड़ें गहरी हो चुकी होगी। संविधान का निर्माण वर्तमान समस्याओं को सुलझाने के लिए होता है। यदि हम वर्तमान का निर्माण सुदृढ़ नींव पर करें तो भविश्य की चिन्ता की कोई आवष्यकता नहीं रहेगी।'' श्रीराम षर्मा ने भी ठीक ही विचार व्यक्त किया है कि ''निर्देषक तत्व सरकार तथा जनता को भावी कायक्रम के सम्बन्ध में निरन्तर याद दिलाते रहेंगे ।''

नीतिनिर्देषक तत्वों का क्रियान्वयन – पिछले वर्शों के अनुभव पर हम यह कह सकते हैं कि संघ सरकार तथा विभिन्न राज्यों की सरकारों द्वारा इन तत्वों को अमल में लाने का उचित प्रयास हुआ है। निःषुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक षिक्षा की योजनाओं, सहकारी समितियों और ग्रामपंचायतों का संगठन, विविध उद्योग धन्धों का राश्ट्रीयकरण, सार्वजनिक क्षेत्रों (चनइसपब`मबजवते) पर जोर, मजदूरों की दषा में सुधार लाने के लिए तरह–तरह के अधिा नियम– षॉप ऐक्ट, फैक्टरी ऐक्ट, प्रेस ऐक्ट, भूमि सुधार सम्बन्धी कानून आदि सरकार के कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कार्य हैं। आर्थिक विशमता दूर करने के लिए भी तरह –तरह के प्रयत्न किये जा रहे हैं। कार्यपालिका को न्यायपालिका से अलग कर उचित न्याय की व्यवस्था की जा रही है। पषुओं और प्राचीन स्मारकों की रक्षा का काम भी जारी है। अर्न्तराश्ट्रीय क्षेत्र में विष्वषान्ति के लिए भारत सरकार ने प्रषंसनीय कार्य किये हैं। इन अतिरिक्त सरकार द्वारा अन्य कानून भी बनाने गये हैं और बनते जा रहे हैं जो नीतिनिर्देषक तत्वों की सार्थकता सिद्ध करते हैं। इनके कार्यों को देखकर यह कहा जा सकता है कि संविधान में नीति निर्देषक तत्वों का उल्लेख व्यर्थ ही नहीं किया गया है। सरकार द्वारा इन तत्वों के पालन तथा अपनाने का प्रयास किया जा रहा है। ऐसी व्यवस्था की जा रही है कि पूँजी किसी एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रीभूत नहीं हो। बैंकों का राश्ट्रीयकरण कर एक और क्रान्तिकारी कदम उठाया गया है । प्रिवीपर्स को समाप्त करने की बात है भी ऐसी ही है। बिहार सरकार ने षहरी सम्पत्ति की सीमा निर्धारित कर इस दिषा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है। अधिाकतम भूमि की सीमा में भी परिवर्तन किया गया है। इस प्रकार केन्द्र और विभिन्न राज्यों की सरकारें भी इस ओर सचेत हैं। नीतिनिर्देषक तत्वों की महत्ता इसी से स्पश्ट होती है। इन तर्कों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भारतीय संविधान में राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों का उल्लेख काफी सोच–समझकर हुआ है। भारत में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना हमारा मुख्य लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति में हम इन तत्वों से काफी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। नीतिनिर्देषक तत्व हमारे लिए अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए प्रकाष स्तम्भ का काम करते रहेंगे। 14 मार्च 1955 को संविधान के चतुर्थ संषोधन के सम्बन्ध में लोकसभा में बोलते हुए प्रधानमन्त्री पं. नेहरु ने नीतिनिर्देषक तत्वों की महत्ता इन षब्दों में स्वीकार की थी, ''यदि मूल अधिकारों और नीतिनिर्देषक तत्वों में अर्न्तविरोध हो तो

नीतिनिर्देषक तत्वों को ही प्राथमिकता दी जायेगी।'' इसलिए यह कहना निरर्थक है कि नीतिनिर्देषक तत्वों को संविधान में स्थान प्राप्त नहीं होना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि इनकी महत्ता दिनों–दिन बढ़ती जा रही है। लोकसभा में संविधान का 25वाँ संषोधन विध ेयक जो पेष किया गया है, वह इनकी महत्ता को और भी बढ़ा देता है। इस प्रकार यह कहना गलत नहीं होगा कि राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों का उपबंध हमारे संविधान का महत्वपूर्ण अंग है ।

सारांष

नीतिनिर्देषक तत्वों का क्रियान्वयन – पिछले वर्शों के अनुभव पर हम यह कह सकते हैं कि संघ सरकार तथा विभिन्न राज्यों की सरकारों द्वारा इन तत्वों को अमल में लाने का उचित प्रयास हुआ है। निःषुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक षिक्षा की योजनाओं, सहकारी समितियों और ग्रामपंचायतों का संगठन, विविध उद्योग धन्धों का राश्ट्रीयकरण, सार्वजनिक क्षेत्रों (चनइसपब`मबजवते) पर जोर, मजदूरों की दषा में सुधार लाने के लिए तरह–तरह के अधि ा नियम––षॉप ऐक्ट, फैक्टरी ऐक्ट, प्रेस ऐक्ट, भूमि सुधार सम्बन्धी कानून आदि सरकार के

– कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कार्य हैं। आर्थिक विशमता दूर करने के लिए भी तरह –तरह के प्रयत्न किये जा रहे हैं। कार्यपालिका को न्यायपालिका से अलग कर उचित न्याय की व्यवस्था की जा रही है। पषुओं और प्राचीन स्मारकों की रक्षा का काम भी जारी है । अर्न्तराश्ट्रीय क्षेत्र में विष्वषान्ति के लिए भारत सरकार ने प्रषंसनीय कार्य किये हैं। इन अतिरिक्त सरकार द्वारा अन्य कानून भी बनाने गये हैं और बनते जा रहे हैं जो नीतिनिर्देषक तत्वों की सार्थकता सिद्ध 1. करते हैं। इनके कार्यों को देखकर यह कहा जा सकता है कि संविधान में नीति निर्देषक तत्वों का उल्लेख व्यर्थ ही नहीं किया गया है। सरकार द्वारा इन तत्वों के पालन तथा अपनाने का प्रयास किया जा रहा है। ऐसी व्यवस्था की जा रही है कि पूँजी किसी एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रीभूत नहीं हो। बैंकों का राश्ट्रीयकरण कर एक और क्रान्तिकारी कदम उठाया गया है । प्रिवीपर्स को समाप्त करने की बात है भी ऐसी ही है। बिहार सरकार ने षहरी सम्पत्ति की सीमा निर्धारित कर इस दिषा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है। अधिकतम भूमि की सीमा में भी परिवर्तन किया गया है। इस प्रकार केन्द्र और विभिन्न राज्यों की सरकारें भी इस ओर सचेत हैं। नीतिनिर्देषक तत्वों की महत्ता इसी से स्पश्ट होती है। इन तकों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भारतीय संविधान में राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों का उल्लेख काफी सोच–समझकर हुआ है। भारत में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना हमारा मुख्य लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति में हम इन तत्वों से काफी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। नीतिनिर्देषक तत्व हमारे लिए अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए प्रकाष स्तम्भ का काम करते रहेंगे। 14 मार्च 1955 को संविधान के चतुर्थ संषोधन के सम्बन्ध में लोकसभा में बोलते हुए प्रधानमन्त्री पं. नेहरु ने नीतिनिर्देषक तत्वों की महत्ता इन षब्दों में स्वीकार की थी, ''यदि मूल अधिकारों और नीतिनिर्देषक तत्वों में अर्न्तविरोध हो तो नीतिनिर्देषक तत्वों को ही प्राथमिकता दी जायेगी।'' इसलिए यह कहना निरर्थक है कि नीतिनिर्देषक तत्वों को संविधान में स्थान प्राप्त नहीं होना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि इनकी महत्ता दिनों–दिन बढ़ती जा रही है। लोकसभा में संविधान का 25वाँ संषोधन विध ेयक जो पेष किया गया है, वह इनकी महत्ता को और भी बढ़ा देता है। इस प्रकार यह कहना गलत नहीं. होगा कि राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों का उपबंध हमारे संविधान का महत्वपूर्ण अंग है।

नीति–निर्देषक तत्वों का अर्थ – कतिपय संविधानों में कुछ आदर्षों का वर्णन कर दिया जाता है। इन्हीं को राज्य के नीतिनिर्देषक तत्व कहते हैं। ये तत्व किसी भी सरकार के लिए पथप्रदर्षन का कार्य करते हैं। संविधान में इनका वर्णन नागरिकों के पालन के लिए नहीं होता। इनका सम्बन्ध केवल राज्य से होता है। यह राज्य का ध्यान अपने कर्तव्य की तरफ आकृश्ट करने के लिए संविधान में रखे जाते हैं। ये राज्य के लिए एक तरह के आदेष हैं, पर इनका पालन करना या न करना बिल्कुल राज्य की मर्जी पर निर्भर हैं राज्य □ के लिए इन आदेषों का इतना ही महत्व है कि जब सरकार अपना नीतिनिर्धारण करे और उसे

कार्यान्वित करने के लिए कानून बनाये तो उन कानूनों को यथासम्भव इन तत्वों के आध र पर बनाने का प्रयास किया जाय। यह सरकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह इन तत्वों को बराबर ध्यान में रखे। वह जो कानून बनाये उसका उद्देष्य इन तत्वों को अमल में लाना. होगा । संविधान में नीति निर्देषक तत्वों की यही उपयोगिता है, इन्हें हम संविधान द्वारा स्वीकृत राज्य के लिए कतिपय सुनिष्चित आदर्ष भी मान सकते हैं। इन आदर्षो की उपलबि

राज्य सरकार की सबसे बड़ी सफलता होगी।

क्या निर्देषक तत्व आवष्यक हैं? – निर्देषक तत्व लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में बहुत सहायक हो सकते हैं। इस बात के होते हुए भी निर्देषक तत्वों के वर्णन के लिए संविध ाान उपयुक्त स्थान नहीं है। आज के युग में प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है कि वह नागरिकों के विकास और अच्छे जीवन के लिए समुचित दषाएँ उपस्थित करे, चाहे उस देष के संविध ाान में निर्देषक तत्वों का प्रतिपादन हुआ हो या नहीं। जो राज्य अपने नागरिकों के लिए ऐसा नहीं करता है, वह लोक कल्याणकारी होने का दावा नहीं कर सकता। फिर भी यह तो सत्य है कि संविधान में निर्देषक तत्वों का वर्णन तभी उचित है जब उसके पीछे कानून का भी कुछ बल हो, अन्यथा इनके वर्णन से कोई विषेश लाभ नहीं है। 'मद्रास सरकार बनाम चम्पाकन दोरायजन (1951)' के मामले में निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने यह विचार प्रकट किया था कि नीतिनिर्देषक तत्व मूल अधिकारों को अभिभूत नहीं कर सकते और यदि करें तो अवैध है।

निर्देषक तत्वों के पीछे जनमत की षक्ति निर्देषक तत्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है परन्तु फिर भी इनकी महत्ता है। इसका कारण यह है कि इनके पीछे जनमत की षक्ति विद्यमान है। इन तत्वों की महत्ता संविधान में ही स्पश्ट कर दी गयी है और संविधान के अनुच्छेद 37 में कहा गया है कि राज्य की नीति का संचालन करने में ये आधारभूत तत्व होंगे और राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह विधिनिर्माण के समय इन तत्वों का अतिक्रमण नहीं करे। निर्देषक तत्वों को संविधान में इसलिए स्थान दिया गया है कि केन्द्र तथा राज्यों की सरकारें इन तत्वों को सर्वदा ध्यान में रखें और कार्यान्वित करने की चेश्टा करें। यों तो कोई भी लोक कल्याणकारी राज्य इन तत्वों को प्राप्त करने की कोषिष करेगा ही चाहे इसका उल्लेख उसके संविधान में हुआ हो या नही, लेकिन संविधान में इन बातों का उल्लेख कर देने से सरकार पर एक नैतिक दबाव हो जाता है। चुनाव के समय जनता कह सकती है कि वह उस पार्टी को अपना वोट देगी जो संविधान में वर्णित निर्देषक तत्वों को अमल में लाने की प्रतिज्ञा करें । संविधानसभा में वाद विवाद के दौरान एक सदस्य ने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि इन उपबन्धों को कार्यान्वित कराने वाली जनमत षक्ति है जो जनता की माँग की पृश्ठभूमि होती है। प्रत्येक चार या पाँच वर्श बाद जो चुनाव होंगे उनमें निर्वाचकों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे जनमत के प्रति उदासीन व्यक्तियों को पुनः न चुनें। यही वास्तविक अनुषक्ति है न कि न्यायालय की अनुषक्ति । श्री अल्लादी कृश्णास्वामी का भी कहना सही है कि कोई भी लोकप्रिय मंत्रिमण्डल संविधान के चतुर्थ भाग के उपबन्धों के उल्लंघन का साहस नही कर सकता।

न्यायालयों द्वारा निर्देषक तत्वों को मान्यता – सविधान में निर्देषक तत्वों के पीछे कानूनी बल की व्यवस्था नहीं की जाने पर भी इन्हें न्यायालयों द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। न्यायालयों ने अपना निर्णय देते समय निर्देषक तत्वों को हमेषा ध्यान में रखा है। न्यायालयों ने इस बात को स्वीकार किया है कि उनका कर्तव्य इन तत्वों को प्रवर्तित करने और इनकी रक्षा करने में पूर्ण सहयोग देना है, क्योंकि ये संविधान के ही अंग हैं। 'गोपालन बनाम मद्रास राज्य' नामक मुकदमे के निर्णय के सिलसिले में मुख्य न्यायाधीष क्रानिया ने अपना विचार व्यक्त किया था कि ''राज्य के नीतिनिर्देषक तत्व संविधान के अंग हैं, इसलिए इन्हें बहुमत दल की इच्छामात्र मान लेना गलत होगा। ये तत्व सारे राश्ट्र की इच्छा के प्रतीक हैं जिन्हें

उस संविधान सभा के माध्यम से व्यक्त किया गया है जिसे समस्त देष की सर्वोच्च विधि निर्मित करने का आदेष दिया गया था ।''

अभ्यास–प्रष्न

1. राज्य के नीतिनिर्देषक तत्व से आप क्या समझते हैं? उनके महत्व का विवरण

दीजिए ।

2. मूल अधिकारों और राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों में क्या अन्तर है?

.3. क्या. संविधान में नीतिनिर्देषक तत्व का उल्लेख आवष्यक है ? अपने उत्तर का कारण

बताइए ।

4. भारतीय संविधान में वर्णित राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों का वर्णन कीजिए।

5. भारतीय संविधान में वर्णित राज्य के नीतिनिर्देषक सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। उन्हें

व्यवहार में कहाँ तक कार्यान्वित किया गया है ?

6. ''भारतीय संविधान में दिये गये राज्य के नीतिनिर्देषक तत्वों का भारत में एक आदर्ष गणतंत्र लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में बहुत अधिक महत्व है।'' इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

माड्यूल 3

निर्वाचन आयोग तथा चुनाव–सुधार

इकाई 9

निर्वाचनआयागेतथाचुनाव–सुधार

इस अध्याय के अंतर्गत :

परिचय

निर्वाचन आयोग का गठन, नियुक्ति, कार्यकाल

निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु सुझाव

चुनाव आयोग के कार्य

भारतीय चुनावों में त्रुटियाँ और उनका उपचार

अध्ययन के उद्देष्य

इस अध्याय के अध्ययन के पष्चात आप

– जान सकेंगे कि निर्वाचन आयोग का गठन कैसे होता है, इसकी नियुक्ति कैसे होती है, और इसका कार्यकाल क्या हुआ करता है।– जान सकेंगे कि चुनाव आयोग के पुनर्गठन हेतु कौन–कौन से सुझाव दिये गए।

परिचय.

भारत एक लोकतन्त्रात्मक देष है। लोकतन्त्रात्मक देषों में जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है। भारत में भी केन्द्र, प्रदेष तथा स्थानीय स्तर पर आये दिन चुनाव होते रहते हैं। इन चुनावों के माध्यम से जनता जनप्रतिनिधियों का चयन करती है। भारत के संविध न–निर्माता चुनावों के महत्व से परिचित थे और इसलिए भारतीय संविधान में उन्होंने एक ऐसे संवैधानिक आयोग की स्थापना की है जिसका प्रमुख कार्य सम्पूर्ण देष में राश्ट्रपति, उपराश्ट्रपति, लोकसभा, राज्यसभा के सदस्य एवं राज्य विधानमण्डलों के सदस्यों का निर्वाचन सम्पन्न कराना है। इस संवैधानिक आयोग को निर्वाचन आयोग के नाम से जाना जाता है। जहाँ विष्व के अधिकांष देषों में निर्वाचन को अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण विशय समझकर उसे व्यवस्थापिका की इच्छा पर छोड़ दिया गया है, वहीं भारतीय संविध ाान–निर्माताओं ने निर्वाचन सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवस्था के संचालन का प्रावधान संविधान के अन्तर्गत ही कर लिया है। सविधान निर्मात्री सभा में पं० हृदयनाथ कुंजरू ने कहा था, ''अगर निर्वाचन तन्त्र दोशपूर्ण है या निश्पक्ष नहीं है या गैर ईमानदार लोगों द्वारा संचालित होता है तो लोकतन्त्र अपने उद्‌भव काल में ही

डगमंगा जायेगा ।'' अतः निर्वाचन का महत्व समझते हुऐ भारतीय संविधान में एक स्वतन्त्र निर्वाचन आयोग की स्थापना की।

निर्वाचन आयोग का संगठन – संविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत निर्वाचनों का निरीक्षण, निर्देषन और नियन्त्रण करने के लिए एक निर्वाचन आयोग की स्थापना की गई

☐ है। निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त और अन्य उतने निर्वाचन आयुक्त होंगे जितने कि राश्ट्रपति समय समय पर मनोनीत करे।

नियुक्ति – मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति संसद द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन रहते हुए राश्ट्रपति द्वारा की जाती है। राश्ट्रपति निर्वाचन आयोग से परामर्ष करके आयोग की सहायता के लिए ऐसे प्रादेषिक आयुक्तों की नियुक्ति कर सकता है जैसा कि आवष्यक समझे । निर्वाचन आयुक्तों और प्रादेषिक आयुक्तों की सेवा षर्तें और पदावधियाँ ऐसी होगी जो कि राश्ट्रपति नियम द्वारा निर्धारित करें।

इकाई 10
चुनाव सुधार

मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य चुनाव आयुक्तों का कार्यकाल 65 वर्श की आयु तक है। अर्थात् 65 वर्श की आयु हो जाने पर वे सेवानिवष्त हो जायेंगे। मुख्य निर्वाचन आयुक्त व अन्य निर्वाचन आयुक्तों को उनके पद से उन्हीं कारणों पर और उन्हीं रीतियों से हटाया जा सकेगा जिन कारणों और रीतियों से सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीष हटाया जा सकता है। अर्थात् सिद्ध कदाचार या असमर्थता के आधार पर राश्ट्रपति द्वारा निर्वाचन आयुक्तों को पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निष्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो हो, लेकिन ऐसा प्रस्ताव संसद के दोनों सदनों के अलग अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई मत से पारित कराना होगा और वह प्रस्ताव राश्ट्रपति को भेजा जायेगा। उसके बाद राश्ट्रपति निर्वाचन आयुक्त को पदच्युत करने का आदेष जारी करेगा

व्यावहारिक स्थिति सन् 1951 में जब पहली बार संविधान के अन्तर्गत जब निर्वाचन आयोग का गठन किया गया तब से निर्वाचन आयोग एक सदस्यीय आयोग के रूप में कार्य करता रहा। 1952 ई. में आम चुनावों के संचालन हेतु दो प्रादेषिक निर्वाचन आयुक्तों की व्यवस्था को लाभदायक नहीं समझा गया और द्वितीय आम चुनावों के बाद इसे निरस्त कर दिया गया। 1956 ई0 में प्रादेषिक निर्वाचन आयुक्तों के स्थान पर उपनिर्वाचन आयुक्त

के पद सर्षजित किये गये। सन् 1957 1962 तथा 1967 के निर्वाचनों का संचालन करने हेतु दो उपनिर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की गई। 1969 ई. के मध्यावधि चुनावों के समय मुख्य निर्वाचन आयुक्त को सहायता देने के लिए उपनिर्वाचन आयुक्त, सचिव, अपर सचिव षोध ज. अधिकारी आदि पर भी उपलब्ध कराये गये थे।

16 अक्टूबर, 1998 को राश्ट्रपति आर. बेंकटरमण ने निर्वाचन आयोग को व्यापक रूप देने के उद्देष्य से दो निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की। केन्द्र सरकार ने एक अक्टूबर, 1993 ई. को एक अधिसूचना जारी करके निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बना दिया । इसके अनुसार आयोग में मुख्य चुनाव आयुक्त के अतिरिक्त दो अन्य चुनाव आयुक्त होंगे। वेतन एवं अन्य सेवा षर्तों के अतिरिक्त अन्य चुनाव आयुक्त तथा मुख्य चुनाव आयुक्त तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीष समकक्ष हो गए। अध्यादेष में मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों के बीच कार्य विभाजन भी परिभाशित किया गया। केवल पदनाम को छोड़कर सभी क्षेत्रों में मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य दो चुनाव आयुक्तों के मध्य कोई अन्तर नहीं रह गया है। निर्णय एक मत से लिए जा सकता है या चुनाव आयोग से सम्बन्धित कार्य मुख्य और अन्य चुनाव आयुक्त आपस में विभाजित कर सकते हैं। यदि मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य चुनाव आयुक्तों में मतभेद होता है तो बहुमत का निर्णय मान्य होगा। मुख्य चुनाव आयुक्त टी. एन. षेशन ने दो नये चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति तथा उन्हें मुख्य चुनाव आयुक्त के बराबर अधिकार दिये जाने से सम्बन्धित राश्ट्रपति के अध्यादेष की वैधता को चुनौती देते हुए 27 अक्टूबर, 1993 को सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की परन्तु संविधान पीठ ने 14 जुलाई, 1995 को अपने दिये गये एक फैसले में निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बनाने और मुख्य निर्वाचन आयुक्त को अन्य दो चुनाव आयुक्तों के समकक्ष मानने सम्बन्धी राश्ट्रपति की अधिसूचनाओं को वैध घोशित कर दिया। अपने फैसले के साथ ही सर्वोच्च न्यायालय ने यह

आषा व्यक्त की कि आयोग के सदस्य एक दूसरे से सन्देह की भावना से ऊपर उठकर सद्भावनापूर्ण वातावरण में काम करेंगे।

चुनाव आयोग के कार्य

निर्वाचन से सम्बन्धित समस्त कार्यों को करने का उत्तरदायित्व निर्वाचन आयोग का है। इस सम्बन्ध में उसके प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :

चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन– निर्वाचन आयोग का प्रथम कार्य निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन होता है। प्रथम आम चुनाव में निर्वाचन जन प्रतिनिधित्व अधि नियम 1950 के अन्तर्गत राश्ट्रपति द्वारा जारी किये गये आदेष पर किया गया था। परन्तु यह व्यवस्था सन्तोशजनक नहीं पाई गई। अतः संसद ने परिसीमन आयोग अधिनियम 1952 पारित किया। इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि दस वर्श बाद होने वाली प्रत्येक जनगणना के उपरान्त निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन किया जाना चाहिए। मुख्य निर्वाचन आयुक्त इस सीमांकन आयोग का अध्यक्ष होता है और उसके अतिरिक्त इसमें सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों के दो अवकाष प्राप्त न्यायाधीष होते हैं। आयोग की सदस्यता के लिए प्रत्येक राज्य से 2 से लेकर 7 तक सदस्यों का प्रावधान है। ये सहायक सदस्य सम्बद्ध राज्य से लोकसभा अथवा राज्य विधानसभा के लिए निर्वाचित सदस्यों में से चुने जाते हैं। जनता अपने सुझाव या आपत्तियाँ प्रस्तुत कर सकती है। इन सुझावों व आपत्तियों पर खुली बैठक में विचार होता है। इसके बाद आयोग सीमांकन आदेष की घोशणा करता है जो अन्तिम होता

है तथा इसके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती ।

(2) मतदाता सूचियाँ तैयार करना

निर्वाचन आयोग लोकसभा या विधानसभां के प्रत्येक निर्वाचन से पूर्व मतदाता सूचियाँ तैयार करवाता है और इस कार्य के सम्पन्न होने पर ही चुनाव होता है। मतदाता सूची तैयार करने का कार्य इस उद्देष्य से किया जाता है कि कोई ऐसा व्यक्ति मताधिकार से वंचित न रहे जो कि मताधिकार की योग्यता रखता हो। (3) विभिन्न राजनैतिक दलों को मान्यता प्रदान करना निर्वाचन आयोग विभिन्न राजनैतिक दलों को मान्यता प्रदान कराता है। इसके लिए आयोग द्वारा कोई पैमाना निष्चित किया जाता है। निर्वाचन आयोग द्वारा मान्यता प्रदान करने के आधार के सम्बन्ध में समय–समय पर परिवर्तन किये जाते रहे हैं। वर्तमान नियम के अनुसार किसी राजनैतिक दल को राज्य स्तरीय दल के रूप में तभी मान्यता मिलती है, जब उसने संसदीय या विधनसभा चुनाव में उस राज्य से कुल वैध मतों के न्यूनतम 4ः मत प्राप्त किये हों अथवा लोकसभा के लिए उस राज्य से निर्वाचित 25 या उससे कम सदस्यों के अनुपात में कम से कम उसका एक निर्वाचित सदस्य हो। इसी प्रकार राज्य विधानसभा में 30 या उससे कम विधायकों के अनुपात में कम से कम उसका एक विधायक हो । चार या उससे अधिक राज्यों में मान्यता मिल जाने पर उसे राश्ट्रीय दल की मान्यता दी जाती है।

(4) राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिह्न प्रदान करना मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिह्न प्रदान करता है। यदि चुनाव चिह्न के प्रष्न पर दो राजनीतिक दलों के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो जाये तो उस स्थिति में आयोग से यह आषां की जाती है कि वह निश्पक्ष और न्यायिक ढंग से विवाद का निपटारा करेगा। इस सम्बन्ध में आयोग के निर्णय के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय में अपील भी की जा सकती है।

(5) अर्द्ध न्यायिक कार्य – संविधान ने आयोग को कुछ अर्द्ध न्यायिक कार्य भी सौंपे हैं। जैसे– (1) अनुच्छेद 103 के अर्न्तगत राश्ट्रपति संसद के सदस्यों की अयोग्यताओं के सम्बन्ध

ा में चुनाव आयोग से परामर्ष कर सकता है1 (2) अनुच्छेद 192 के अर्न्तगत राज्य विध न मण्डल के सदस्यों के सम्बन्ध में यह अधिकार राज्यों के राज्यपालों को दिया जाता है : ।

(6) अन्य कार्य इन कार्यों के अतिरिक्त चुनाव आयोग के कुछ अन्य कार्य भी. सौंपे गये हैं, जो इस प्रकार हैं: (प) राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता तैयार करना । (पप) राजनीतिक दलों को आकाषवाणी पर चुनाव प्रचार की सुविधायें दिलवाना। (पपप) उम्मीदवारों द्वारा किये जाने वाले कुल व्यय की राषि निष्चित करना (पअ) मतदाताओं को

राजनीतिक प्रषिक्षण देना। (अ) चुनाव याचिकाओं आदि के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देना ।

इन सबको अतिरिक्त चुनाव आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय समय पर सरकार को अपने कार्यों को अपने कार्यों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देता रहेगा।

निर्वाचन प्रक्रिया का आरम्भ इस सम्बन्ध में राश्ट्रपति द्वारा जारी की गई अधिसूचना से होता है। यह अधिसूचना जन–प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 की 14वीं धारा के अंतर्गत जारी होती तथा उसे चुनाव होने की स्थिति में जारी किया जारी की जाती है तथा उसे चुनाव होने की स्थिति में जारी किया जाता है। इसके बाद निर्वाचन आयोग मतदान की तिथियों की घोशणा करता है जिसे निर्वाचन प्रक्रिया का दूसरा चरण कहा जा सकता है। इस घोशणा करता है जिसे निर्वाचन प्रक्रिया का दूसरा चरण कहा जा सकता है। इस घोशणा में नामजदगी, पत्रों की जांच की तिथि, चुनाव संघर्श से नाम वापस लेने की तिथि का उल्लेख होता है। सन् 1966 के बाद उम्मीदवारों को चुनाव संघर्श से नाम वापस लेने की तिथि का उल्लेख होता है। सन् 1966 के बाद उम्मीदवारों को चुनाव अभियान के लिए कम से कम 20 दिन का समय दिया जाता है।

निर्वाचन आयोग की निश्पक्षता

भारत में निर्वाचन आयोग एक स्वतंत्रा संवैधानिक और संविधान इस बात को सुनिष्चित करता है कि उच्चतम न्यायालय और न्यायालय और उच्च न्यायालयों की भाँति निर्वाचन आयोग भी कार्यपालिका के बिना किसी हस्तक्षेप के स्वतंत्र और निश्पक्ष रूप से अपने कार्यों का सम्पादित कर सके । निर्वाचन आयोग को स्वतंत्र और निश्पक्ष बनाये रखने के लिए निम्नलिखित प्रावधान किये गये हैं–

(1) निर्वाचन आयोग एक संवैधानिक संस्था है अर्थात इसका निर्माण संविधान ने किया

है, न कि कार्यपालिका या संसद ने

(2) मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य आयुक्तों की नियुक्ति राश्ट्रपति द्वारा की जाती है। (3) मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य चुनाव आयुक्तों को केवल महाभियोग जैसी प्रक्रिया

द्वारा ही हटाया जा कसता है।

(4) मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य चुनाव आयुक्तों का स्तर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाध

षों के बराबर है।

(5) नियुक्ति के बाद मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य चुनाव आयुक्तों की सेवा – षर्तों में

कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

(6) मुख्य निर्वाचन आयुक्त व अन्य निर्वाचन आयुक्तों का वेतन भारत की संचित निधि से दिया जाता है। उपर्युक्त प्रावधनों से स्पश्ट है कि संविधान निर्वाचन आयोग के पदाधिकारियों को पूर्ण संरक्षण प्रदान करता है जिससे कि वे अपने कार्यों को निश्पक्षतापूर्वक कर सकें।

आलोचना – निर्वाचन आयोग की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गई है:

(1) चुनाव आयुक्त पद पर भारतीय प्रषासनिक सेवा के अधिकारियों की नियुक्ति आलोचकों के अनुसार चुनाव आयुक्त या मुख्य चुनाव आयुक्त के पद पर सामान्यतः भारतीय प्रषासनिक सेवा (ए) के उन अधिकारियों को नियुक्त किया जाता है, जिन्हें षासक दल निश्ठावान मानता है। वे अधिकारी जिन्होंने सत्तारूढ़ दल के मातहत के रूप में कार्य किया है, चुनाव आयुक्त के रूप में निश्पक्ष भूमिका कैसे अदा कर सकते हैं:

(2) निर्वाचन आयोग सत्तारूढ़ दल की सरकार के इषारे पर कार्य करता सैद्धान्तिक रूप से कहा जाता है कि भारत में निर्वाचन का समय व तिथियाँ निर्वाचन आयोग द्वारा घोशित की जाती है, किन्तु व्यावहारिक रूप से यह देखा गया है कि निर्वाचन यह कार्य बहुमत प्राप्त दल की इच्छा व सुविधा को ध्यान में रखकर करता है।

(3) राज्य सरकार के कर्मचारियों पर निर्भरता – निर्वाचन आयोग के पास निर्वाचन कार्यों के लिए स्वतन्त्र कर्मचारी तन्त्र नहीं है। उसे राज्य सरकार के कर्मचारियों पर निर्भर रहना पड़ता है। ये कर्मचारी आयोग के प्रति उतने समर्पित नहीं होते और निश्पक्ष आचरण नहीं करते ।

(4) चुनाव धाँधली को रोक पाने में असमर्थ वर्तमान चुनाव आयोग धांधलियों को नहीं रोक पाता। चुनावों में बाहुबल, मतदान स्थलों पर कब्जे तथा फर्जी मतदान करने की प्रवष्त्ति बढ़ती जा रही है। किन्तु चुनाव आयुक्त मूक दर्षक बना रहता है।

(5) कागजी अधिकार – चुनाव भ्रश्टाचार पर काबू पाने के लिए चुनाव आयोग

के अधिकांष अधिकार कागजी हैं। यदि चुनाव आयोग को कारगर बनाना है तो संसद में कानून बनाकर उसे नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक जैसी हैसियत देने की आवष्यकता है। निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु सुझाव

निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं.

(1) चुनाव आयोग एक बहुसदस्यीय स्थायी आयोग को, जिसमें 3 से 5 तक स्थायी

सदस्य हों और चुनाव आयुक्त इसका अध्यक्ष हो ।

(2) चुनाव आयोग के सदस्यों की नियुक्ति एक ऐसी समिति के द्वारा की जाये जिसके

सदस्य मुख्य न्यायाधीष प्रधानमन्त्री तथा संसद में विपक्ष के नेता हों।

(3) राज्य स्तर पर भी इसी प्रकार के आयोग हों।

(4) आयोग की निश्पक्षता को बनाये रखने के लिए इसमें वर्तमान या सेवानिवष्त प्रषासनिक अधिकारियों को नियुक्त न करके वर्तमान या सेवानिवष्त उच्च्य न्यायालय और सर्वोच्च्य न्यायालय के न्यायाधीषों को ही नियुक्त किया जाना चाहिए। (5) उप–चुनाव के बारे में निर्णय लेने की अन्तिम षक्ति निर्वाचन आयोग में निहित हो,

न कि सत्तारूढ़ दल की सुविधा पर ।

(6) निर्वाचन आयोग से पनिवष्त होने वाले आयुक्तों को भविश्य में किसी लाभ के पद

पर नियुक्त न किया जाये।

निश्कर्श – निर्वाचन आयोग के कार्य करते हुए लगभग 60 वर्श बीत चुके हैं और आयोग के चुनौतीपूर्ण कार्यों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निर्वाचन क्षेत्रों में परिसीमन से लेकर निर्वाचन अधिनिर्णय तक के कार्य को निर्वाचन आयोग ने सामान्यः कार्यकुषलता, निश्पक्षता और ईमानदारी से सम्पन्न किया है।

यद्यपि भारत में अभी तक के समस्त चुनाव षान्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुए हैं परन्तु चुनावों में कुछ ऐसी बातें देखने को मिली हैं जिन्होंने जनता की चुनाव में आस्था को कम किया है। बहुत से लोग यह कहने लगे हैं कि वोट डालने जाने से क्या लाभ वहाँ पहुचने से पहले ही हमारा वोट डाल दिया गया। चुनावों में धन, हिंसा, मतदान तथा केन्द्रों पर कब्जा करने की प्रवृत्तियाँ निरन्तर बढ़ रही हैं। यदि इन्हें नियन्त्रित नहीं किया गया तो जनता की चुनावों में आस्था नहीं रहेगी जो प्रजातन्त्र के लिए घातक सिद्ध होगा।

तारकुण्डे संमिति – चुनाव सुधार के प्रष्न पर विचार और अध्ययन करने के लिए सिटीजन्स फॉर डेमोक्रेसी ने एक समिति की ओर से श्री जयप्रकाषनारायण ने एक समिति का गठन किया। महाराष्ट्र उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीष श्री बी. एम. तारकुण्डे इसके अध्यक्ष थे । इसने अपनी सिफारिषें सरकार को दीं, जो इस प्रकार हैं :

(1) मताधिकार 21 वर्श की बजाय 18 वर्श आयु वालों के दिया जाना चाहिए जाना

चाहिए ।

(2) आय के स्रोतो का उल्लेख तथा आय व्यंय का पूरा हिसाब समस्त राजनीतिक दलों के लिए अनिवार्य कर दिया जायें और निर्वाचन आयोग द्वारा इसकी जाँच कराई जाये । राजनीतिक दलों द्वारा उम्मीदवारों पर किया जाने वाला खर्च उम्मीदवारों के हिसाबों में जोड़ा जाये तथा चुनाव खर्च की वर्तमान सीमा को दुगुना कर दिया जाये।

(3) प्रत्येक उम्मीदवार को सरकार की ओर से छपे हुए मतदान पत्र निःषुल्क दिये जायें तथा प्रत्येक मतदाता का मतदान पत्र बिना टिकट लगाये डाक से भेजने की छूट दी जाये।

(4) जो लोग राजनीतिक दलों को वर्श में एक हजार रुपये दान दें, उन्हें इस राषि पर आयकर की छूट दी जाये तथा कम्पनियों पर यह प्रतिबन्ध जारी रखा जाये कि वे राजनीतिक दलों को दान नहीं दें सकतीं।

(5) लोकसभा अथवा विधानसभा के विघटन और नए चुनावों की घोशणा के बाद से सरकार काम चलाऊ सरकार की तरह काम करें। वह न नई नीतियों की घोशणा करें, न उन्हे लागू करें, न नई परियोजनाएँ चालू करें, न उनका वादा करें, न ऋण अथवा भत्ते दें, न वेतन वषद्धि की घोशणा करें।

(6) चुनाव के दौरान मंत्रिमंण्डल के सदस्य सरकारी खर्च पर यात्रा न करें। सरकारी

सवारी और विमान प्रयोग में न लायें। उनकी सभाओं के लिए सरकारी मंच न. बनवायें।

(7) जमानत की रकम लोकसभा के उम्मीदवारों के लिए 500 से बढ़ाकर 2000 रुपये और

विधानसभाओं के लिए 200 से बढ़ाकर 1000 रु. कर दी जाये ।

(8) आकाषवाणी को निगम का रूप दिया जाए। जिस प्रकार ब्रिटेन ने बी. बी. सी. पर राजनैतिक दलों को पिछले चुनाव में प्राप्त मतों के अनुपात में प्रचार को समय दिया जाता है, उसी प्रकार भारत में भी राजनैतिक दलों को रेडियो और टैलीविजन पर प्रचार हेतु समय दिया जाये ।

(9) राज्यों में निर्वाचन आयोग स्थापित किए जाएँ। केन्द्रीय निर्वाचन आयोग में एक के बजाय तीन सदस्य हों जिनकी नियुक्ति राश्ट्रपति केवल प्रधानमंत्री के परामर्ष पर ही नहीं अपितु तीन व्यक्तियों की एक समिति की सिफारिष पर करें। इस समिति में प्र नमंत्री, सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीष तथा लोकसभा में विरोध पक्ष का नेता अथवा विरोध पक्ष का प्रतिनिधि हो ।

(10) निर्वाचन आयोग की सहायता के लिए केन्द्र व राज्यों मे निर्वाचन परिशदें बनाई जायें, जो उसे सलाह दें। इन परिशदों सभी में राजनीतिक दलो के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। उल्लेखनीय हैं कि तारकुण्डे समिति ने कुछ विवादास्पद मुद्दों पर स्पश्ट राय नहीं दी है ।

भरतीय कम्युनिस्ट पार्टी का सुझाव – कम्युनिस्ट पार्टी ने निर्वाचन प्रणाली में बुनियादी संषोध् ानों की माँग की। उसने कहा कि देष में आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अर्न्तगत चुनाव प्रणाली लागू की जाये । निर्वाचन आयोग में तीन सदस्य हों। उनका चयन सांसद अपने दो तिहाई बहुमत से करे तथा उसमें कोई भी सदस्य प्रषासकीय सेवाओं का सेवानिवष्त कर्मचारी. न हो।

भारतीय जनता पार्टी का सुझाव

चुनाव प्रणाली के सम्बन्ध में भाजपा की घोशित नीति भारतीय साम्यवादी दल के एकदम समान थी, उसने भी आनुपातिक प्रतिनिधि त्व के अर्न्तगत चुनाव का सर्मथन किया ।

अन्ना द्रमुक का सुझाव– अन्ना द्रमुक के सुझावों में कहा गया है कि मतदाताओं को प्रत्यावर्तन (रिकॉल) का अधिकार दिया जाए। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को लागू किया जाए। मतदाताओं को मतदान केन्द्र तक लाने–ले जाने के लिए कारों या अन्य सवारियों के उपयोग पर पूरी तरह प्रतिबन्ध लगा दिया जाए। चुनावों से तीन महीने पहले सरकार का कार्यकाल समाप्त कर दिया जाए तथा इस बीच षासन की बागडोर राश्ट्रपति या राज्यपाल सम्भालें।

संयुक्त संसदीय समिति के सुझाव

1972 ई. में संसद की एक संयुक्त संमिति ने. भी इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन प्रमुख सुझाव दिए थे :

(1) निर्वाचन प्रणाली में बुनियादी परिवर्तनों के बारे में सुझाव देने के लिए एक विषेश

समिति का गठन हो ।कृ

(2) बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग की स्थापना हो !

(3) आकाषवाणी पर चुनाव प्रचार के लिए समस्त राजनीतिक दलों को समान मात्रा में

समय दिया जाये।

दिनेष गोस्वामी समिति के सुझाव – मई 1990 में दिनेष गोस्वामी समिति

नैं निम्नलिखित सुझाव दिये ।

(1) बूथ कब्जे की घटनाओं को रोकने के लिए पुर्नमतदान कराया जाये।

(2) आरक्षित सीटों के लिए भ्रमणषील पद्धति अपनाई जाये ।

(3) निर्वाचन याचिकाओं का षीघ्र निस्तारण किया जाये।

(4) इलेक्ट्रॉनिक मतदान मषीन का प्रयोग प्रारम्भ किया जाये ।

(5) छः माह में किसी भी रिक्त स्थान के लिए उपचुनाव का प्रावधान अनिवार्य किया

जायें । ‘

(6) मतदाताओं को फोटो चिपके परिचय पत्र दिये जायें।

भारतीय चुनावों में त्रुटियाँ और उनका उपचार

विविध पक्षों द्वारा दिये गये उपर्युक्त सुझावों के आधार पर चुनाव व्यवस्था की गम्भीर त्रुटियों और उन त्रुटियों के उपचार का अध्ययन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता हैः

(1) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली– भारत में साधारण बहुमत की जो निर्वाचन पद्धति अपनाई गई है उसके अन्तर्गत प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से वह उम्मीदवार सफल घोशित होता है जिसे सबसे अधिक मत मिले हैं चाहे विरोध अथवा पराजित उम्मीदवारों को मिलेमतों का योग उसे प्राप्त मतों से कितना ही अधिक क्यों न हो। लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत इस स्थिति को न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। निर्वाचन प्रणाली की इस असंगति को दूर करने के लिए कुछ क्षेत्रों से यह सुझाव दिया गया है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाना चाहिए। कुछ वर्श पूर्व ही जनसंघ (अब भाजपा) ने एक समिति नियुक्त की थी जिसने यह सुझाव दिया था कि भारत में चुनाव के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की सूची प्रणाली को अपनाना चाहिए जिससे प्रत्येक राजनीतिक दल को उसे प्राप्त जन समर्थन के आधार पर विधानमण्डल में स्थान प्राप्त हो सके। इससे पूर्व भारतीय साम्यवादी दल द्वारा भी इस प्रकार का सुझाव दिया गया था ।:

(2) चुनावों में धन की बढ़ती हुई भूमिका – चुनावों का एक गम्भीर दोश धन कृकी बढ़ती भूमिका के रूप में उभरा है। हमारे कानून निर्माता इस दोश के प्रति सचेत थे और इसी कारण उनके द्वारा चुनाव में उम्मीदवारों द्वारा किये जाने वाले व्यय की सीमा निष्चित की गई। कानून में यह सीमा विद्यमान है परन्तु व्यवहार रूप में राज्यों में इसका कोई 'औचित्य नहीं है। चुनाव कार्य से परिचित व्यक्ति बताते हैं कि अब तो लोकसभा चुनावों में 70 से 80 लाख रुपये खर्च करना होता है। इसके अन्तर्गत भ्रश्ट उपायों के रूप में खर्च की जाने वाली राषि सम्मिलित नहीं है। सार्वजनिक जीवन में दखल रखने वाले कुछ सूत्र बताते हैं कि कुछ उदाहरणों में लोकसभा उम्मीदवारों ने अपने चुनाव अभियान में 2 से 10 करोड़ रुपये या उससे भी अधिक धन खर्च किया। इसी तरह विधानसभा उम्मीदवारों ने अपने चुनाव

स्वप्रगति की जाँच करें :

1. मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य चुनाव आयुक्तों के कार्यकाल का परिचय प्रस्तुत कीजिए

2. निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु दिए गए सुझाव लिखें?

3. चुनाव सुधार के सम्बन्ध में।

दिनेष गोस्वामी समिति के सुझाए गए सुझाव लिखें।

अभियान में एक करोड़ रुपया या उससे भी अधिक धन खर्च किया । यह स्थिति आर्थिक क्षेत्रः और राजनीतिक क्षेत्र, दोनों में ही अनेक दोशों को जन्म देकर समस्त व्यवस्था को विकृत– करने वाली है। इस बुराई को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं–

(अ) राजनीतिक दलों के आय–व्यय विवरण की विधिवत् जांच – राजनीतिकः दलों के लिए आय व्यय का समस्त विवरण रखना अनिवार्य होना चाहिए और प्रत्येक राजनीतिक दल के लिए प्रतिवर्श मुख्य चुनाव आयुक्त द्वारा नियुक्त किये गए लेखा परीक्षक द्वारा जाँच किया हुआ हिसाब प्रकाषित करना अनिवार्य होना चाहिए, जिसमें आय के स्रोत तथा व्यय के मंद पूरे विवरण सहित बताये जायें।

(ब) चुनाव प्रचार की अवधि में कमी करना– वर्तमान समय में नाम वापस लेने की तिथि और चुनाव की तिथि में 20 दिन का अन्तर आवष्यक है। यह अन्तर 15 दिन या 10 दिन कर दिया जाये। इससे चुनाव प्रचार की अवधि कम होगी जिससे चुनाव खर्च में भी कमी होगी।

(स) चुनाव अवधि में सार्वजनिक संस्थाओं को अनुदान पर रोक चुनाव की अवधि (विधानसभा या लोकसभा भंग के दिन से लेकर चुनाव के दिन तक) में दलों या उम्मीदवारों द्वारा सार्वजनिक संस्थाओं को अनुदान देने पर रोक लगा देनी चाहिए।

(द) चुनाव खर्च पूर्णतः या आंषिक रूप राज्य द्वारा वहन करना– इस सम्बन्ध में सबसे प्रमुख सुझाव यह दिया जा रहा है कि चुनाव खर्च पूर्णतः या आंषिक रूप से राज्य के द्वारा वहन किया जाना चाहिए ।

(3) चुनावों में बाहुबल और हिंसा का प्रयोग– चुनाव में बाहुबल और हिंसा का प्रयोग, मतदान केन्द्रों पर कब्जा तथा जाली मतदान एक गम्भीर समस्या है। चुनाव में बाहुबल और हिंसा के प्रयोग की सबसे अधिक प्रवषत्ति बिहार राज्य में है। इसके बाद उत्तर प्रदेष, हरियाणा, पष्चिमी बंगाल, जम्मू कष्मीर आदि आते हैं। चिन्ताजनक बात तो यह है कि चुनावी हिंसा का दानव आमतौर पर षान्त समझे जाने वाले दक्षिण भारत में भी फैल गया है। इस बुराई को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं।

(अ) जिन निर्वाचन क्षेत्रों में हिंसा और बल प्रयोग की आषंका हो, वहाँ स्थानीय पुलिस को समस्त निर्वाचन क्षेत्र से दूर रखकर अन्य राज्यों की पुलिस व अर्द्ध सैनिक बल पर्याप्त मात्रा में तैनात किये जायें और उन्हें स्थिति से निपटने के लिए आवष्यक अधिकार दिये जायें।

(ब) समस्त निर्वाचन क्षेत्र में हथियारों के लाने ले जाने पर न केवल प्रतिबन्ध लगाया

जाये वरन् उसे कड़ाई से लागू किया जाये ।

(स) मतदान के दिन से दो दिन पहले से षराब की बिक्री पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगा

दिया जाये ।

(द) बाहुबल तथा अन्य, भ्रश्ट साधन अपनाये जाने के आधार पर चुनाव याचिकाएँ

उच्च न्यायालय में प्रस्तुत की जायें।

(य) जाली मतदान को रोकने के लिए मतदाताओं को फोटो से युक्त पहचान–पत्र दिये जाने चाहिए। साथ ही जाली मतदान को भ्रश्ट आचरण घोशित कर दिया जाना चाहिए जिसके आधार पर निर्वाचन अवैध घोशित हो सके।

. (4) निर्दलीय उम्मीदवारों की बड़ी संख्या – निर्दलीय उम्मीदवारों की बढ़ती

संख्या ने चुनाव व्यवस्था में कठिनाइयाँ पैदा कर दी हैं। अधिकांष निर्दलीय उम्मीदवार तो मखौल के रूप में चुनाव लड़ते हैं। कई बार वे प्रमुख उम्मीदवारों से चुनाव मैदान में हटने के लिए धनराषि प्राप्त करने की आषा से उम्मीदवार बन जाते हैं। इस बीमारी को दूर करने लिए यह सुझाव दिया गया है कि जमानत की रकम कम–से–कम दस गुनी बढ़ा देनी चाहिए।

(5) मतदाताओं की अनुपस्थिति – मतदाताओं की अनुपस्थिति हमारे निर्वाचनों की आम समस्या बन गई है। चुनाव में अधिकांष मतदाता रुचि नहीं लेते। अधिकतर मतदाताओं की अनुपस्थिति से भ्रश्टाचार को बढ़ावा मिलता है और प्रायः जाली मतदान भी होता रहता है।

मतदान के प्रति उदासीनता का उन्मूलन करने के लिए चुनाव में मतदान को अनिवार्य करने का सुझाव दिया गया है। भूतपूर्व चुनाव आयुक्त एस. पी. सेन वर्मा ने 1968 ई. में कहा था कि चुनावों के प्रति मतदाताओं की यह उदासीनता चुनावों को मजाक बना देती है। अतः भारतीय संसद को अनिवार्य मतदान का नियम बना देना चाहिए और जो मतदाता चुनावों में भाग न ले उन पर कुछ दण्ड लगाया जाये जो 50 रुपये से अधिक न हो । विष्व के अनेक

देषों में, जैसे बेल्जियम, नीदरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, क्यूबा, आस्ट्रिया आदि में अनिवार्य मतदान की पद्धति मौजूद है। इससे मतदान का प्रतिषत निष्चित ही बढ़ेगा।

(6) षासक दल द्वारा प्रषासन तन्त्र का दुरुपयोग– भारतीय चुनाव व्यवस्था की एक गम्भीर त्रुटि षासक दल और मन्त्रियों द्वारा दलीय लाभों के लिए प्रषासनिक तन्त्र के दुरुपयोग के रूप में सामने आई है। इसको दूर करने के लिए यह सुझाव दिया गया है कि

चुनाव की घोशणा होने से लेकर नवीन सरकार बनने तक केन्द्रीय व राज्य सरकारें केवल कामचलाऊ सरकार के रूप में कार्य करें। उन्हें नीति सम्बन्धी कोई घोशणा करने, किन्हीं वर्गों को अतिरिक्त रियायतें देने या सरकारी कर्मचारियों के वेतन, भत्ते आदि में वष्द्धि की घोशणा करने का कोई अधिकार नहीं हो !

(7) निर्वाचन अधिकारियों पर राजनीतिक दबाव निर्वाचन अधिकारियों पर राजनीतिक दबावों तथा उनके फलस्वरूप उनके द्वारा भ्रश्टाचार अपनाए जाने के कुछ उदाहरण भी सामने आए हैं। इसके लिए यह सुझाव दिया गया है कि निश्पक्ष निर्वाचन के हित में निर्वाचन के दौरान निर्वाचन अधिकारियों पर किसी भी प्रकार का अनुचित दबाव न डाला जाये ।

(8) चुनाव याचिकाओं पर निर्णय में अत्यधिक विलम्ब – चुनाव याचिका में बहुत अधिक खर्च होता है तथा विवादों का निपटारा षीघ्र नहीं हो पाता। विधानसभा या लोकसभा का कार्यकाल समाप्त हो जाता है और विवादग्रस्त व्यक्ति अपने पद पर बना रहता है।

चुनाव याचिकाओं पर षीघ्र निर्णय की आवष्यकता है। इस सम्बन्ध में कानून बनाकर 6 माह या अधिक से अधिक एक वर्श में चुनाव याचिका पर निर्णय अनिवार्य किया जा सकता है। जब भ्रश्ट साधनों को अपनाकर विजयी बने सदस्यों का निर्वाचन चुनाव के षीघ्र बाद ही अवैध् ा घोशित हुए देखा जाएगा तब चुनाव में भ्रश्ट साधन अपनाने पर लोग हिचकेंगे।

निश्कर्श – चुनाव सुधारों के लिए सरकार चिन्तित और प्रयत्नषील है। 19 जनवरी, 1992 को एक अध्यादेष जारी कर संसदीय एवं विधानसभा निर्वाचनों में प्रचार में न्यूनतम

अवधि 20 दिन से घटाकर 14 दिन कर दिया गया है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त श्री. टी. एन षेशन ने चुनाव की खामियों को दूर करने के लिए कई कदम उठाये थे, जैसे – मतदाताओं को पहचान–पत्र जारी करना चुनावो में फिजूलखर्ची रोकने के लिए पर्यवेक्षक तैनात करना, मतदान के पहले छः दिन ड्राई डे घोशित करना आदि। सरकार ने कानून बनाकर निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बना दिया है परन्तु ये सुधार पर्याप्त नहीं हैं। सबसे प्रमुख है– राज्य सरकार के कर्मचारियों को निश्पक्ष बनाना। जब तक राज्य सरकार के कर्मचारी निश्पक्षता से कार्य नहीं करेंगे चुनाव निश्पक्ष हो ही नहीं सकेंगे। बूथ कैप्चरिंग को रोकना अत्यावष्यक है। यह तभी सम्भव होगा जब राज्य पुलिस की सहायता अर्द्ध सैनिक बल तथा अन्य राज्य की पुलिस करे। जब तव निर्वाचन निश्पक्ष नहीं होगा तब तक देष में प्रजातन्त्र सफल नहीं होगा ।

सारांष

चुनाव सुधारों के लिए सरकार चिन्तित और प्रयत्नषील है। 19 जनवरी, 1992 को एक अध् यादेष जारी कर संसदीय एवं विधानसभा निर्वाचनों में प्रचार में न्यूनतम अवधि 20 दिन .से घटाकर 14 दिन कर दिया गया है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त श्री. टी. एन षेशन ने चुनाव की खामियों को दूर करने के लिए कई कदम उठाये थे, जैसे– मतदाताओं को पहचान–पत्र ☐ जारी करना, चुनावो में फिजूलखर्ची रोकने के लिए पर्यवेक्षक तैनात करना, मतदान के पहले छः दिन ड्राई डे घोशित करना आदि। सरकार ने कानून बनाकर निर्वाचन आयोग को बहुसदस्यीय बना दिया है परन्तु ये सुधार पर्याप्त नहीं हैं। सबसे प्रमुख है– राज्य सरकार के कर्मचारियों को निश्पक्ष बनाना। जब तक राज्य सरकार के कर्मचारी निश्पक्षता से कार्य

नहीं करेंगे चुनाव निशपक्ष हो ही नहीं सकेंगे। बूथ कैप्चरिंग को रोकना अत्यावष्यक है। यह तभी सम्भव होगा जब राज्य पुलिस की सहायता अर्द्ध सैनिक बल तथा अन्य राज्य की पुलिस करे। जब तव निर्वाचन निशपक्ष नहीं होगा तब तक देष में प्रजातन्त्र सफल नहीं होगा । स्व प्रगति की जाँच के उत्तर

कार्यकाल

मुख्य चुनाव आयुक्त व अन्य चुनाव आयुक्तों का कार्यकाल 65 वर्श की आयु तक है। अर्थात् 65 वर्श की आयु हो जाने पर वे सेवानिवष्त हो जायेंगे। मुख्य निर्वाचन आयुक्त व अन्य निर्वाचन आयुक्तों को उनके पद से उन्हीं कारणों पर और उन्हीं रीतियों से हटाया जा सकेगा जिन कारणों और रीतियों से सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीष हटाया जा सकता है। अर्थात् सिद्ध कदाचार या असमर्थता के आधार पर राश्ट्रपति द्वारा निर्वाचन आयुक्तों को पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि ज निष्चित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है। कार्यविधि चाहे जो हो, लेकिन ऐसा प्रस्ताव संसद के दोनों सदनों के अलग अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई मत से पारित कराना होगा और वह प्रस्ताव राश्ट्रपति को भेजा जायेगा। उसके बाद राश्ट्रपति निर्वाचन आयुक्त को पदच्युत करने का आदेष जारी करेगा

निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं–

(1) चुनाव आयोग एक बहुसदस्यीय स्थायी आयोग को, जिसमें 3 से 5 तक स्थायी

सदस्य हों और चुनाव आयुक्त इसका अध्यक्ष हो ।

(2) चुनाव आयोग के सदस्यों की नियुक्ति एक ऐसी समिति के द्वारा की जाये जिसके

सदस्य मुख्य न्यायाधीष प्रधानमन्त्री तथा संसद में विपक्ष के नेता हों।

(3) राज्य स्तर पर भी इसी प्रकार के आयोग हों तोयक लोकसभा में पारित हो चुका है, जिसके अनुसार संसद को संविधान के किसी भाग में जिनमें मूल अधिकार भी षामिल हैं – संषोधन करने का अधिकार दिया गया है ।

3. दिनेष गोस्वामी समिति के सुझाव – मई, 1990 में दिनेष गोस्वामी समिति

' ने निम्नलिखित सुझाव दिये ।

(1) बूथ कब्जे की घटनाओं को रोकने के लिए पुर्नमतदान कराया जाये ।

(2) आरक्षित सीटों के लिए भ्रमणषील पद्धति अपनाई जाये।

(3) निर्वाचन याचिकाओं का षीघ्र निस्तारण किया जाये।.

(4) इलेक्ट्रॉनिक मतदान मषीन का प्रयोग प्रारम्भ किया जाये।

(5) छः माह में किसी भी रिक्त स्थान के लिए उपचुनाव का प्रावधान अनिवार्य किया

जाये ।

(6) मतदाताओं को फोटो चिपके परिचय पत्र – दिये जायें।

अभ्यास – प्रष्न

. 1. निर्वाचन आयोग के गठन की प्रक्रिया, इसके कार्यों तथा भूमिका की समीक्षा

कीजिये ।

2. निर्वाचन आयोग के पुनर्गठन या सुधार के लिये अपने सुझाव दीजिए।

. 3. भारतीय चुनावों की त्रुटियों तथा उनके उपचारों का वर्णन कीजिये ।.

इकाई 11

रा"ट्रपति

इस अध्याय के अंतर्गत :

परिचय

राश्ट्रपति पद की अर्हताएँ

राश्ट्रपति का निर्वाचन

राश्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष्य क्यों

राश्ट्रपति की पदावधि

राश्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया

राश्ट्रपति की षक्तियाँ

राश्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

अध्ययन के उद्देष्य

इस अध्याय के अध्ययन के पष्चात आप

: राश्ट्रपति पद की अर्हताएँ और निर्वाचन के तरीके समझ सकेंगे।

जान सकेंगे कि राश्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष क्यों होता है?

जान सकेंगे कि राश्ट्रपति की पदावधि क्या है?

: राश्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया जान सकेंगे।

: राश्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति समझ सकेंगे।

परिचय

राश्ट्रपति भारतीय गणराज्य का है। पद और प्रतिश्ठा की दृश्टि से यह संस्था देष में सर्वोच्च स्थान रखती है। संविधान में लिखित प्रावधानों के अनुसार राश्ट्रपति संघ का षासन चलाने वाला प्रधान व्यक्ति है। संघ की कार्यकारी षक्ति राश्ट्रपति में निहित हैं और वही इस षक्ति का स्रोत । संविधान के अनुछेद 53 में यह व्यवस्था है कि राश्ट्रपति संघ की कार्यकारी षक्ति का या तो ''स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा संविधान के अनुसार प्रयोग करेगा।'' इसी प्रकार ''संघ की रक्षा सेनाओं की सर्वोच्च कमान राश्ट्रपति में निहित होगी और इसका प्रयोग कानून द्वारा नियमित होगा।'' साथ ही अनुच्छेद 74 में यह भी व्यवस्था हैं कि ''राश्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि परिशद होगी जिसका प्रमुख प्रधानमन्त्री होगा।'' अनुच्छेद 75 में यह व्यवस्था है कि ''मन्त्रिपरिशद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।'' ये संवैधानिक व्यवस्थाएँ प्रस्थापित करती हैं कि राश्ट्रपति व्यवहार में संवैधानिक अध्यक्ष है और वास्तविक षक्ति मन्त्रिपरिशद् में निहित है। पं. जवाहरलाल नेहरू ने संविधान–सभा में कहा भी था, ''हमारे राश्ट्रपति को कोई वास्तविक षक्ति नहीं दी गयी हैं, लेकिन हमने उसकी स्थिति और सत्ता मर्यादापूर्ण अवष्य बनाई है। राश्ट्रपति पद के लिए अर्हताएँ अथवा योग्यताएँ

अनुच्छेद 58 के अनुसार वही व्यक्ति राश्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र है जो 1. भारत का नागरिक हो,

2 35 वर्श की आयु पूरी कर चुका हो,

3. लोकसभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता रखता हो, (अर्थात् उसका नाम किसी संसदीय निर्वाचक मण्डल में मतदाता के रूप में पंजीकृत होना चाहिए), एवं

(4) भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन या इन दोनों सरकारों में से किसी से नियन्त्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकरण के अधीन कोई लाभ का पद धारण न किए हो ।

☐ पर संविधान में यह भी स्पश्ट कर दिया गया है कि निम्नलिखित व्यक्तियों को राश्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए कोई लाभ का पद धारण किए हुए नहीं समझा जाएगा

1. राश्ट्रपति या उपराश्ट्रपति,

2. राज्यों के राज्यपाल,

3. संघ या राज्य के मन्त्री,

इसका स्पश्ट अभिप्राय यह हुआ कि ये लोग राश्ट्रपति निर्वाचित होने की अर्हता रखते हैं।

अनुच्छेद 59 में व्यवस्था है कि राश्ट्रपति न तो संसद के किसी सदन और न किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन का सदस्य होगा। यदि ऐसे किसी सदन का सदस्य राश्ट्रपति निर्वाचित हो गया है तो यह समझा जाएगा कि उसने उस सदन का अपना स्थान राश्ट्रपति के रूप में अपने पद ग्रहण की तिथि से रिक्त कर दिया है। संविधान में यह भी उल्लेख है कि राश्ट्रपति अन्य लाभ का पद धारण नहीं कर सकता है।

राश्ट्रपति का निर्वाचन

संविधान में राश्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बंधित अनुच्छेद 54 और 55 है। अनुच्छेद 54 के अनुसार राश्ट्रपति का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचक मण्डल द्वारा किये जाने की व्यवस्था है।

संविधानसभा में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि ''राश्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में संघीय संसद के साथ साथ राज्य विधानमण्डलों के सदस्यों को सम्मिलित कर इस बात का प्रयत्न किया गया है कि राश्ट्रपति का निर्वाचन दलीय आधार पर न हो और संघ के इस सर्वोच्च पद को वास्तविक रूप में राश्ट्रीय पद का रूप प्राप्त हो सके।''

संसद और राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा राश्ट्रपति का चुनाव एक विषेश मत पद्धति के अनुसार होता है। इसे 'एकल संक्रमणीय मत–पद्धति (ॅपदह जतंदेमितंइसम अवजम`लेजमउ) कहा जाता है। चुनाव में मतदान गुप्त मतपत्र द्वारा होता है। चुनाव में सफलता प्राप्त करने हेतु उम्मीदवार के लिए 'न्यूनतम कोटा' प्राप्त करना आवष्यकता है। 'न्यूनतम कोटा निर्धारित करने के लिए जो सूत्र अपनाया जाता है, वह इस प्रकार है

न्यूनतम कोटा

दिए गए मतों की संख्या

. निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या. 1

न्यनतम कोटा की व्यवस्था इसलिए की गई हैं कि स्पश्ट बहुमत प्राप्त होने पर ही किसी उम्मीदवार को राश्ट्रपति का पद प्राप्त हो सकें। ऐसा करने पर ही वह अपने पद के अनुकूल सम्मान का पात्र हो सकता हैं।

राश्ट्रपति के निर्वाचन की एक मुख्य बात यह है कि निर्वाचक मण्डल के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य समान नहीं होता है। निर्वाचक मण्डल के सदस्यों में से प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या उस अनुपात से निष्चित की जाती है, जितनी संख्या का वह प्रतिनिधित्व करता है। इसी कारण प्रत्येक सदस्य की मत – संख्या समान न होकर भिन्न–भिन्न होती है।

राश्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेने वाले सदस्यों के मतों की संख्या विभाजित करने के लिए एक फार्मूला बनाया गया है। तद्नुसार, निर्वाचक मण्डल का प्रत्येक सदस्य कितने मत देने का अधिकार है, यह इस प्रकार ज्ञात ही किया जाता है

(क) राज्य–विधानसभा के निर्वाचित प्रत्येक सदस्य की मत संख्या राज्य की कुल जनसंख्या को विधानसभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या से भाग देते हैं, जो भागफल आता है। उसको पुनः 1000 द्वारा भाग दिया जाता है। आधे से अधिक का एक माना जाता है और उसे भजनफल में जोड़ा जाता है। इस प्रकार जो संख्या प्राप्त होती है वही राश्ट्रपति के निर्वाचन के लिए विधानसभा के सदस्य की मत संख्या होती है। सरल फार्मूले के रूप में इसे यों समझा जा सकता है

राज्य की कुल जनसंख्या

राज्य – विधानसभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की जनसंख्या 12 –1000

उदाहरण के लिये मान लीजिए किसी राज्य की जनसख्या 5 करोड़ है और विध नसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 430 है तो उसके एक सदस्य के मतों की संख्या होगी –

50,000,000 430

. 1000 = 116.278 अर्थात् 117

(ख) संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य की मत संख्या – राज्यों की वि नसभाओं के निर्वाचित सदस्यों की कुल मत संख्या को संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या से भाग दे दिया जाता है और उसका जो भजनफल आता है उसमें आधे से अधिक मान को एक माना जाता है तथा अन्य मानों की उपेक्षा कर दी जाती है। सरल फार्मूले के रूप में इसे इस प्रकार समझा जा सकता है :

राज्य विधानसभाओं के सभी सदस्यों के कुल मतों की संख्या

संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या

उदाहरण के तौर पर मान लीजिए सब राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों की मत संख्या का योग 3,00,000 है और भारतीय संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 700 है तो संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य

को

3,00,000

700

मत अर्थात् 428.5 यानि 429 मत देने का अधिकार होगा।

मतों के मूल्य के आधार पर मतों की गणना की जाती है और यदि प्रथम वरीयता मतों की गणना में कोई उम्मीदवार जीत के लिए आवष्यक 50 प्रतिषत से अधिक मत प्राप्त नहीं कर पाता तो द्वितीय वरीयता के मतों की गणना कर उसके आधार पर चुनाव का फैसला किया जाता है। भारत में ऐसी स्थिति अगस्त, 1969 में चौथे राश्ट्रपति के चुनाव में उत्पन्न हुई थी। इस चुनाव में निर्दलीय प्रत्याषी श्री. वी. वी. गिरि को 4,20,077 और क्रॉग्रेस के प्रत्याषी श्री संजीव रेड्डी को 4,05,447 मत प्राप्त हुए । अगस्त 1974 में स्वर्गीय श्री फखरुद्दीन. अली अहमद निर्वाचक मण्डल के 30 प्रतिषत से अधिक मत प्राप्त कर देष के पाँचवें राश्ट्रपति बने । 21 जुलाई 1977 को श्री नीलम संजीव रेड्डी सर्वसम्मति से भारत के छठे राश्ट्रपति निर्वाचित हुए। उनका निर्विरोध निर्वाचन राश्ट्रपति पद की गरिमा को बढ़ाने वाला था। सातवें राश्ट्रपति के रूप में कॉग्रेस के प्रत्याषी ज्ञानी जैलसिंह निर्वाचित घोशित किए गए। उन्होंने विपक्षी दलों के प्रत्याषी एच. आर खन्ना को पराजित किया। ज्ञानी जैलसिंह के राश्ट्रपति पद से सेवानिवष्त होने के पष्चात जुलाई, 1987 में राश्ट्रपति के पदं के लिए निर्वाचन हुआ । इस निर्वाचन में मुख्य रूप से तीन उम्मीदवार मैदान में थे। कॉग्रेस (आई) के श्री रामास्वामी वेंकटरमण, विपक्षी दलों के वी. आर. कृश्ण अय्यर और निर्दलीय प्रत्याषी के रूप में मिथिलेष कुमार सिन्हा। श्री वैंकटरण भारी बहुमत से विजयी हुए। उन्होंने 25 जुलाई, 1987 को अपने पद की षपथ ली।

राश्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष क्यों ?

संविधान सभा ने यह महसूस किया कि जब राश्ट्रपति को औपचारिक प्रधान मात्र बनाना है तो फिर उसका प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचन व्यर्थ का परिश्रम होगा। मन्त्रिमण्डलीय

षासन– व्यवस्था में राश्ट्रपति संवैधानिक मुखिया होता है, अतः भारत में अमेरिका की भाँति सभी निर्वाचकों द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन की आवष्यकता अनुभव नहीं की गई, पर साथ ही यह भी प्रयत्न किया गया कि राश्ट्रपति का निर्वाचन जहाँ तक हो सके जनता पर ही आधारित रहे। भारत में राश्ट्रपति की वर्तमान निर्वाचन – व्यवस्था से ये दोनों ही उद्देष्य पूरे हो जाते हैं। पुनः राश्ट्रपति के निर्वाचन में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों के साथ ही राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों को निर्वाचक मण्डल में लिए जाने का एक विषेश महत्व है । यदि राश्ट्राध्यक्ष के निर्वाचन में संसद के दोनों ही सदन भाग लेते तो बहुसंख्यक दल द्वारा अपने प्रत्याषी का सरलता से निर्वाचन सदैव सम्भव रहता । किन्तु राज्यों की विध ाानसभाओं द्वारा निर्वाचन में भाग लेने से स्थिति बदल गई है। यह पूर्ण सम्भव है कि संसद में जो बहुमत प्राप्त दल है उसे अधिकांष राज्यों में बहुमत न मिला हो। ऐसी स्थिति में संसद में बहुमत रखने वाला दल राज्य विधानसभाओं के समर्थन के बिना अकेला ही अपने प्रत्याषी को

राश्ट्रपति निर्वाचित करा सकता है।

सन् 1974 का राश्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम – इस अधिनियम द्वारा राश्ट्रपति–पद के लिए चुनाव लड़ने वाले प्रत्याषी के लिए निर्वाचक मण्डल के 20 सदस्यों का समर्थन प्राप्त करना आवष्यक है, अर्थात् कम से कम 10 सदस्य उसका नाम प्रस्तावित करें और 10 सदस्य उसका अनुसमर्थन करें। साथ ही उसे जमानत राषि के रुप में 2,500 रुपये भी जमा कराने होंगे। निर्वाचन सम्बन्धी विवाद

अनुच्छेद 71 यह उपबन्धित करता है कि राश्ट्रपति या उप राश्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या सम्बन्धित सभी षंकाओं और विवादों की 'जाँच' और 'विनिष्चय' उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाएगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा। किन्तु यदि राश्ट्रपति या उप राश्ट्रपति का निर्वाचन न्यायालय द्वारा षून्य घोशित कर दिया जाता है तो उनके द्वारा अपने पद की षक्तियों के प्रयोग में किए गए कार्य अमान्य नहीं होंगे। इस संविधान के अधीन रहते हुए संसद को विधि द्वारा राश्ट्रपति या उपराश्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित किसी विशय का विनियमन करने का अधिकार प्राप्त है।

राश्ट्रपति की पदावधि

'संविधान के अनुच्छेद 56 (1) में उल्लेख है कि राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तिथि से पाँच वर्श की अवधि तक पद धारण करेगा, परन्तु –

(क) राष्ट्रपति, उप राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा।

(ख) संविधान का अतिक्रमण करने पर राष्ट्रपति अनुच्छेद 61 में उपबन्धित रीति से लाए गए महाभियोग द्वारा पद से हटाया जा सकेगा।

(ग) राष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी अपने उत्तराधिकारी के पदग्रहण तक पद धारण किए रहेगा। ☐

अनुच्छेद 56 (2) में राष्ट्रपति अपने त्यागपत्र की सूचना अविलम्ब लोकसभा के अध यक्ष को देगा।

उत्तराधिकार

अनुच्छेद 62 में उत्तराधिकार की व्यवस्था की गई है। जब राष्ट्रपति का पद उसकी मष्त्यु अथवा महाभियोग से खाली हो जाए तो उप राष्ट्रपति उस पद को धारण करेगा, लेकिन

–अगर उपराश्ट्रपति भी नहीं है तो सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीष उस पद को ध ारण – करेगा। सन् 1969 में जस्टिस एम. हिदायतुल्ला ने ऐसा ही किया था ।

पुनः चुने जाने की पात्रता

संविधान में इस बात की कोई कानूनी सीमा नहीं लगाई गई है कि कोई व्यक्ति. लगातार या अन्यथा कितनी बार राश्ट्रपति चुना जा सकता है। इसके विपरीत, अमेरिका के संविधान में 22वें संविधान संषोधन द्वारा यह स्पश्ट व्यवस्था कर दी गई है कि एक व्यक्ति दो बार से अधिक राश्ट्रपति पद के लिए नहीं चुना जा सकता है। लेकिन भारतीय संविधान में इस सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं है । स्वतन्त्र भारत के इतिहास में अभी तक तीसरी बार कोई व्यक्ति राश्ट्रपति नही बना है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सन् 1952 और 1957 में दो अवधियों के लिए राश्ट्रपति चुने गए थे। इसके बाद से आज तक कोई भी व्यक्ति दूसरी बार के लिए भी राश्ट्रपति निर्वाचित नहीं हुआ । अतः आषा की जानी चाहिए कि यह बात एक स्वस्थ परम्परा का रूप ले लेगीं ।

राश्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया

संविधान के अनुच्छेद 61 में राश्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया का उल्लेख है। तदनुसार, संविधान के अतिक्रमण के लिए राश्ट्रपति पर जब महाभियोग चलाना हो, तब संसद का कोई संदन दोशारोपण करेगा। महाभियोग सम्बन्धी प्रस्ताव पर उस सदन के कम से कम एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिए और प्रस्ताव का लिखित नोटिस कम से कम 14 दिन पूर्व प्राप्त होना चाहिए । यदि यह प्रस्ताव सदन के कुल सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत से पारित हो जाए तो इसका अर्थ यह है कि राश्ट्रपति पर महाभियोग लगाया गया है। जब संसद के किसी सदन द्वारा इस प्रकार महाभियोग लगाया जा चुके तब दूसरा सदन उस महाभियोग का अनुसन्धान करेगा या कराएगा और इस अनुसन्धान में उपस्थित होने का तथा अपना प्रतिनिधित्व कराने का राश्ट्रपति को अधिकार होगा। यदि जाँच अथवा अनुसन्धान के फलस्वरूप राश्ट्रपति के विरुद्धं लगाया गया दोशारोपण सिद्ध हो जाए और अनुसन्धान करने वाला सदन भी अपने कुल सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत से महाभियोग के प्रस्ताव को स्वीकार कर ले तो इस प्रस्ताव का प्रभाव यह होगा कि उसके पारित होने की तिथि से राश्ट्रपति पदच्युत् समझा जाएगा।

उल्लेखनीय है कि अमेरिका में भी राश्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है, लेकिन भारतीय और अमेरिकन संविधानों में इस सम्बन्ध में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ

भारत के राष्ट्रपति पर महाभियोग सविधान के उल्लंघन या अतिक्रमण के लिए लगाया जा सकता है वहीं अमेरिका के राष्ट्रपति पर महाभियोग 'राजद्रोह', 'घूस लेने' तथा 'अपराध' करने के आधार पर लगाया जा सकता है । स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर आज तक किसी भी भारतीय राष्ट्रपति को आज तक महाभियोग का सामना नहीं करना पड़ा है।

राष्ट्रपति की उन्मुक्तियाँ या विषेशाधिकार

राष्ट्रपति को कुछ उन्मुक्तियाँ (प्उउनदपजपमे) या विषेशाधिकार प्राप्त हैं –.

1. अपने पद के अधिकारों और षक्तियों के प्रयोग तथा अपने कर्तव्यों के पालन में राष्ट्रपति जो कोई भी कार्य करे, उसके सम्बन्ध में उसके विरुद्ध किसी न्यायालय में

मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है।

2. भारत संघ के सभी कार्य राष्ट्रपति के नाम पर होते हैं, किन्तु उसके कार्यों के लिए वह व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं है।

3. जब तक कोई व्यक्ति राष्ट्रपति पद पर आसीन है तब तक उसके विरुद्ध किसी दीवानी या फौजदारी न्यायालय में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता, उसकी गिरफ्तारी के लिए कोई वारण्ट जारी नहीं किया जा सकता और न ही उसे कैद किया जा सकता हैं। यदि किसी व्यक्ति का उस पर किसी प्रकार का दावा (ब्संपउ) हो तो 2 महीने का नोटिस देने के बाद ही किसी प्रकार की कार्यवाही की जा सकती है।

राष्ट्रपति द्वारा पद की षपथ लेना

अनुच्छेद 60 में लिखा है कि– ''प्रत्येक राष्ट्रपति और प्रत्येक व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा है अथवा उसके कृत्यों का निर्वहन करता है, अपने पद ग्रहण करने से पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसकी अनुपस्थिति में उच्चतम न्यायालय के प्राप्य वरिश्ठ न्यायाधीष के समक्ष निम्नलिखित रूप में षपथ लेगा या प्रतिज्ञापन करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा,''

ईष्वर की षपथ लेता हूँ। सत्यनिश्ठा से प्रतिज्ञापन करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति पद का कार्यपालन (अथवा राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और मैं भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा ।''

राष्ट्रपति का वेतन और भत्ता

राष्ट्रपति को बिना किराया दिए अपने पदावासों के उपयोग का अधिकार है और वह उन उपलब्धियों, भत्तों और विषेशाधिकारों का भी अधिकारी होगा जो संसद विधि द्वारा नि रित करे और जब तक संसद कोई अन्य विधि पारित नहीं करती है उसके वेतन और भत्ते वही होंगे जो संविधान की द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित हैं। राष्ट्रपति का वेतन 1,50,000 रुपये प्रति माह तथा सेवा निवषत्ति के पेंषन (प्रेसीडेंट्स पेन्षन ऐक्ट, 1951) के अनुसार है। राष्ट्रपति की उपलब्धियाँ और उसके भत्ते उसके कार्यकाल में घटाये नहीं जा सकते हैं

☐ (अनुच्छेद 59) । लेकिन 1 नवम्बर, 1985 में भारतीय संसद ने 55 वाँ संविधान संषोध ान पारित करके राष्ट्रपति के वेतन में भारी वषद्धि की है। अब उसका वेतन 1,50,000 रु. प्रति माह कर दिया गया है। उसकी पेन्षन में भी वार्शिक बषद्धि कर दी गई है।

राष्ट्रपति की षक्तियाँ

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को बड़ी ही व्यापक षक्तियाँ प्रदान की गई हैं। राष्ट्रपति की संविधान– प्रदत्त विस्तृत और प्रभावषाली षक्तियों को मोटे रूप में चार षीर्शकों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है– (अ) कार्यपालिका षक्तियाँ, (ब) विधायी षक्तियाँ, (स) वित्तीय

षक्तियाँ एवं (द) संकटकालीन षक्तियाँ । यहाँ इन षक्तियों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) कार्यपालिका षक्तियाँ

1संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार संघ की कार्यपालिका षक्ति राश्ट्रपति में निहित है, जिसका प्रयोग वह संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करेगा। भारतीय षासन प्रणाली यदि नितान्त संसदीय नहीं है तो वह नितान्त राश्ट्रपतीय भी नहीं है क्योंकि व्यवहारतः षासन व्यवस्था में राश्ट्रपति नाम मात्र का प्रधान है और षासन

की वास्तविक कार्यकारी षक्तियाँ मन्त्रिमण्डल में निहित हैं जो सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी हैं। राश्ट्रपति की कार्यपालिका सम्बन्धी षक्तियों के सन्दर्भ में हमें इस व्यावहारिक पहलू को सदैव ही ध्यान में रखना होगा।

राश्ट्रपति की कार्यपालिका षक्तियों के अन्तर्गत प्रषासकीय, राजनीतिक, सैनिक, और न्यायिक अथवा अर्द्ध–न्यायिक सभी प्रकार की षक्तियाँ षामिल हैं। वह प्रषासन का औपचारिक अध्यक्ष है और सभी संघीय अधिकारी, चाहे वे सैनिक सेवा के हो या असैनिक सेवा के, उसके अधीन हैं। उसे संघीय अधिकारियों को नियुक्त करने की व्यापक षक्तियों प्राप्त हैं। जिन अधिकारियों की नियुक्ति राश्ट्रपति द्वारा होती है उनमें से मुख्य ये हैं– प्र आनमन्त्री तथा केन्द्रीय मन्त्रिपरिशद् के सदस्य, महाधिवक्ता, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षकः उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीष, राज्यों के राज्यपाल, राजदूत एवं अन्य राजनयिक अधिकारी, संघीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं अन्य सदस्य और अनुसूचित वर्गों के लिए विषेश अधिकारी आदि। राश्ट्रपति विभिन्न आयोगों को भी नियुक्त करता है । जैसे वित्त आयोग, योजना आयोग, निर्वाचन आयोग, भाशा आयोग आदि। राश्ट्रपति को ही अपने मन्त्रियों, राज्यपालों, महाधिवक्ता, उच्च सैनिक अधिकारियों आदि को पदच्युत करने का अधिकार है। वह प्रतिरक्षा सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति हैं और वह सेना के तीनों प्रधानों की नियुक्ति करता है। राज्य का अध्यक्ष होने के नाते वह सभी प्रकार के राजनयिक विषेशाधि कारों का उपभोग कराता है। देष के राजनयिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति उसी के द्वारा की जाती है और विदेषी राजदूत अपने पद के प्रमाण–पत्र उसी के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। सभी अन्तर्राश्ट्रीय सन्धियाँ या समझौते उसी के नाम से सम्पादित किए जाते हैं। वही न्याय और सम्मान का स्रोत है। उसे अपराधियों को क्षमा करने, दिए गये दण्ड को कम करने, दण्ड में छूट देने, दण्ड रोकने आदि का अधिकार है। राश्ट्रपति ही भारतीय नागरिकों को भारत रत्न, पद्मविभूशण, पद्मश्री आदि उपाधियों के माध्यम से सम्मानित करता है।

''यहाँ यह पुनः दोहराना होगा कि भारत में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था है, अतः राश्ट्रपति अपनी षक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल की सलाह और सहायता से करता है। राश्ट्रपति मनचाहे व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नियुक्त नहीं कर सकता क्योंकि दलगत राजनीति की माँग है कि वह लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल के नेता को प्रधानमन्त्री नियुक्त करे। इस सम्बन्ध ा में संविधान की भी व्यवस्था है कि प्रधानमन्त्री और उसके मन्त्रिमण्डल को लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार, प्रधानमन्त्री को नियुक्त करने की राश्ट्रपतीय षक्ति संवैधानिक औपचारिकता मात्र है। पर यह औपचारिक षक्ति तब बहुत कुछ व्यावहारिक बन जाती है जब लोकसभा में किसी भी दल को स्पश्ट बहुमत प्राप्त न हो। ऐसे अवसर पर राश्ट्रपति को अपने विवेक को प्रयोग में लाने के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं। 22 जुलाई, 1979 को मोरारजी देसाई सरकार के पतन के बाद चौधरी चरणसिंह को प्रध ानमन्त्री नियुक्त करने में राश्ट्रपति श्री रेड्डी ने अपने स्वविवेक का ही प्रयोग किया। अनुच्छेद 78 के अन्तर्गत राश्ट्रपति को प्रधानमन्त्री से मन्त्रिमण्डल के निर्णयों से अवगत होने और सूचना माँगने का भी अधिकार प्राप्त है। वह केन्द्र षासित प्रदेषों के लिए उप राज्यपालों और प्रषासकों की भी नियुक्ति कर सकता है। वह अनेक प्रकार के नियमों का भी निर्माण कर सकता है।

(ब) विधायी षक्तियाँ संविधान के अनुच्छेद 79 के अनुसार राश्ट्रपति संसद का एक अभिन्न अंग है। संघ की विधायी षक्तियों को इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राश्ट्रपति और संसद के दोनों सदनों में निहित माना गया है। राश्ट्रपति विधायी प्रक्रिया का अभिन्न अंग है, क्योंकि उसकी स्वीकृति के बिना कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता है। राश्ट्रपति को संसद का अधिवेषन बुलाने, उसे स्थगित करने, उसमें भाशण देने और उसे सन्देष भेजने का अधिकार है। वह राज्यसभा में 12 सदस्यों को मनोनीत करता है, जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और समाज–सेवा में से किसी क्षेत्र में विषिश्ट और व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए। इस व्यवस्था की षब्दावली बड़ी लचीली है, अतः मनोनीत सदस्यों के चयन में कार्यपालिका के पास अपने विवेक का प्रयोग करने की काफी छूट है। राश्ट्रपति को लोकसभा के भी कुछ सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार है। वह अधिक से अधिक दो एंग्लो–इण्डियन समुदाय के सदस्यों को मनोनीत कर सकता है, यदि उसे विष्वास हो जाएं कि इस सम्प्रदाय को सदन में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नही है । .

संसद द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक राश्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। वह विधेयक पर हस्ताक्षर करके उसे अधिनियम का रूप दे सकता है। वह संविधान संषोध् ान विधेयक के अतिरिक्त किसी भी विधेयक पर स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता है अथवा विधेयक को अपने सन्देष या संषोधन सहित पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। यदि ऐसा विधेयक संसद द्वारा पुनः पारित होकर स्वीकृति के लिए राश्ट्रपति के सम्मुख प्रस्तुत हो जाए तो राश्ट्रपति को उस पर स्वीकृति देनी ही पड़ती है। इस प्रकार राश्ट्रपति को निलम्बन निशेध् ाधिकार प्राप्त होता है, पूर्ण निशेधाधिकार नहीं। कुछ विषेश प्रकार के विधेयक राश्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के बिना संसद में प्रस्तावित ही नहीं किए जा सकते, जैसे वित्तं विधेयक, किसी राज्य की सीमा अथवा नाम को बदलने से सम्बन्धित विधेयक, व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने से सम्बन्धित विधेयक । संविधान के अनुच्छेद 123 के अन्तर्गत, संसद के विश्रान्तिकाल में राश्ट्रपति को अध्यादेष जारी करने का अधिकार है। इन अध्यादेषों का वही बल और प्रभाव होता है जो संसद के अधिनियम का होता है। किन्तु ऐसे प्रत्येक अध्यादेष को संसद के सत्र के प्रारम्भ होने के 6 सप्ताह के भीतर ही संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता है और ऐसा न करने पर अथवा संसद द्वारा उसे 6 सप्ताह की अवधि के भीतर ही अस्वीकृ त कर देने पर अध्यादेष अवैध हो जाता है। राश्ट्रपति अपने अध्यादेष को अपनी इच्छानुसार कभी भी वापस ले सकता है।

अध्यादेष कार्यपालिका को आकस्मिक परिस्थितियों से निपटने की षक्ति प्रदान करता है। इसमें न्यायालय द्वारा किसी विधि के अवैध घोशित किए जाने से उत्पन्न परिस्थिति भी षामिल है, जिसके निपटारे के लिए अध्यादेष जारी किया जा सकता है। अध्यादेष द्वारा कर––विधियों में संषोधन या परिवर्तन भी किया जा सकता है क्योंकि अध्यादेष जारी करने की राश्ट्रपति की षक्ति संसद की सह–विस्तारी है।

विष्व की किसी भी लोकतन्त्रात्मक षासन प्रणाली में कार्यपालिका को ऐसी षक्ति नहीं प्रदान की गई है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 123 अभिव्यक्त रूप से राश्ट्रपति की अध्यादेष जारी करने की षक्ति के बारे में काफी वाद–विवाद हुआ था और यह कहा गया था कि कार्यपालिका को ऐसी षक्ति देना अलोकतान्त्रिक है और वह उसका दुरुपयोग कर सकती है। कार्यपालिका को इस षक्ति का दिया जाना इस आधार पर न्यायोचित बतलाया गया कि गम्भीर परिस्थितियों में षीघ्रातिषीघ्र कार्यवाही करने के लिए राश्ट्रपति में ऐसी षक्ति का होना आवष्यक है। ऐसी परिस्थितियों की कल्पना करना असम्भव नहीं है जबकि कार्यवाही में विलम्ब होने पर देष को काफी क्षति हो सकती है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि राश्ट्रपति अध्यादेष जारी करने की अपनी षक्ति का प्रयोग मन्त्रिपरिशद् की सलाह पर

करता है। राश्ट्रपति का व्यक्तिगत समाधान मन्त्रि परिशद का समाधान होता है। इसके बावजूद भी अध्यादेष जारी करने की षक्ति का दुरुपयोग किया जाना सम्भव है। इसको. प्रबुद्ध जनमत द्वारा ही रोका जा सकता है।

राश्ट्रपति को अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप, मिनिकाय और अमीनदीवी द्वीप समूह आदि संघीय क्षेत्रों की षान्ति, विकास और सुप्रषासन के लिए नियम बनाने का अधि िकार है।

(स) वित्तीय षक्तियाँ

संविधान के अन्तर्गत राश्ट्रपति को महत्वपूर्ण वित्तीय षक्तियाँ प्राप्त हैं। वित्त विधेयक संसद के समक्ष केवल उसकी सिफारिष पर ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। उसे आकस्मिक निधि ा पर भी नियन्त्रण प्राप्त है, क्योंकि वह किसी भी ऐसे व्यय के लिए इस निधि से धनराषि निकालने का अधिकार दे सकता है जिसके सम्बन्ध में संसद् की पूर्व स्वीकृति प्राप्त न हुई हो, तथापि इस पर कालान्तर में संसद की स्वीकृति ली जानी आवष्यक है। राश्ट्रपति समय समय पर वित्त आयोग नियुक्त करता है जिसकी सिफारिषों के आधार पर आयकर का राज्यों में विभाजन किया जाता है। राश्ट्रपति ही यह निष्चित करता है कि पटसन के निर्यात करं की आय में से कुछ राज्यों (पष्चिमी बंगाल, बिहार और उड़ीसा) को बदले में क्या ध ानराषि मिलनी चाहिए।

(द) न्यायिक षक्तियाँ

राश्ट्रपति को न्यायिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। वह देष के सर्वोच्च न्यायालय और राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीषों की नियुक्ति करता है। उसे क्षमादान करने की भी षक्ति प्राप्त है। वह अपराधियों के दण्ड को कम करने, स्थगित करने या माफ करने का अधिकार रखता है। वह संसद की स्वीकृति से देष में आम माफी की घोशणा भी कर सकता है।

राश्ट्रपति की आपात्कालीन षक्तियाँ

जर्मनी के वाइमर संविधान की भाँति भारतीय संविधान ने भी संकटकाल में राश्ट्रपति को अधि िकार प्रदान किए हैं, जिन्हें राश्ट्रपति की आपात्कालीन अथवा संकटकालीन षक्तियाँ कहा जाता है। संविधान में तीन प्रकार के संकटों का वर्णन है और तद्नुसार राश्ट्रपति तीन प्रकार की आपात घोशणाएँ कर सकता है– .

1. युद्ध या बाह्य आक्रमण या 'सषस्त्र विदोह' से उत्पन्न संकट (अनुच्छेद 352), 2. राज्यों में संवैधानिक तन्त्र के विफल होने से उत्पन्न संकट (अनुच्छेद 356) एवम् 3. वित्तीय संकट (अनुच्छेद 360)।

राश्ट्रपति के अधिकारों और कार्यों की व्यवस्था का मूल्यांकन

☐ हम देख चुके हैं, कि राश्ट्रपति के कार्य और अधिकार दो प्रकार के हैं– प्रथम, वे जिनका सम्बन्ध सामान्यकालीन परिस्थिति से है, एवम् द्वितीय वे जिनका सम्बन्ध संकटकालीन या आपात्कालीन परिस्थिति से है।

सामान्यकालीन कार्यों और अधिकारों का मूल्यांकन

राश्ट्रपति की षक्तियों अथवा कार्यों व अधिकारों की सामान्यकालीन व्यवस्था पर दृश्टिपात करने पर हमारा ध्यान संविधान के दो अनुच्छेदों की ओर जाता है। अनुच्छेद 53

1. भारतीय राश्ट्रपति का चुनाव 'अप्रत्यक्ष क्यों होता है?

2. राश्ट्रपति की पदावधि स्पश्ट करें ।

में कहा गया है कि संघ की कार्यपालिका षक्ति राश्ट्रपति में निहित होगी तथा उसका प्रयोग वह संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के माध्यम से करेगा। दूसरा अनुच्छेद 74 है जिसका मूल पाठ यह था कि ''राश्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में

सहायता एवं परामर्ष देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रि परिशद होगी'', किन्तु जिसका पाठ संविधान के 42वें संषोधन के बाद यह हो गया कि ''राश्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता एवं परामर्ष देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रि परिशद् होगी और वह उसके परार्मष के अनुसार कार्य करेगा'' तथा 44वें संषोधन के द्वारा जिसका पाठ अब यहं हो गया है कि राश्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता व परामर्ष देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रिपरिशद् होगी और वह उसके परामर्ष के अनुसार कार्य करेगा। परन्तु राश्ट्रपति मंन्त्रिपरिशद से सामान्यतः या अन्यथा, अपनी ऐसी मन्त्रणा पर पुनर्विचार करने की अपेक्षा कर सकता है तथा फिर राश्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पष्चात् दीं हुई मन्त्रणा के अनुसार कार्य करेगा।''

उपर्युक्त दोनों उपबन्धों के आधार पर ही राश्ट्रपति के कार्यों एवं अधिकारों की संवैध ानिक व्यवस्था का मूल्यांकन किया जाता रहा है। जहाँ तक संविधान की भूल व्यवस्था का प्रष्न है, उसकी आलोचना इस आधार पर की जाती रही है कि उस व्यवस्था द्वारा राश्ट्रपति इस बात पर बाध्य नहीं था कि वह जनता के प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल की इच्छा पर ही अपने अधि ाकारों का प्रयोग करे। संविधान के 53वें अनुच्छेद की व्यवस्था के अन्तर्गत वह अपनी कार्यपालिका षक्ति का प्रयोग अपने अधीन कर्मचारियों के माध्यम से न करके स्वयं भी कर सकता था। अतः यदि राश्ट्रपति स्वेच्छा से इन अधिकारों का प्रयोग करने लगता, तो वह तानाषाह बनकर जनतन्त्र के लिए चुनौती उपस्थित कर सकता था । ऐसी स्थिति में यह कहा जाता कि संविधान में इस बात की स्पश्ट व्यवस्था कर दी जानी चाहिए कि राश्ट्रपति अपने कार्यों के करने में मन्त्रिपरिशद् के परामर्ष पर चलने के लिए बाध्य हो । संविधान के 42वें संषोधन के द्वारा यही किया गया और संविधान के 74वें अनुच्छेद को संषोधित करके यह प्रावधान कर दिया गया कि ''राश्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता व परामर्ष देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रिपरिशद होगी तथा वह उसके परामर्ष पर चलेगा।'' इससे अब यह स्पश्ट हो गया है कि राश्ट्रपति को अपने कार्यों के सम्पादन में मन्त्रिपरिशद् की सहायता व उसके परामर्ष पर निर्भर होना पड़ेगा। परन्तु इस व्यवस्था का भी एक दोशपूर्ण पक्ष है तथा वह यह है कि ऐसी दषा में प्रत्येक अवस्था में मन्त्रिपरिशद का परामर्ष मानने पर बाध्य होने के कारण राश्ट्रपति की स्थिति एक रबर की मोहर की होगी तथा संविधान के पालन, संरक्षण एवं प्रतिरक्षण तथा भारत की जनता की सेवा सम्बन्धी अपने उस कर्तव्य के पालन के सम्बन्ध में अपनी बुद्धि से वह कुछ भी करने में सक्षम नहीं होगा जिसके लिए राश्ट्रपति का पद ग्रहण करने से पहले वह षपथ लेता है। इस आलोचना को बिल्कुल महत्वहीन नहीं कहा जा सकता तथा राश्ट्रपति को प्रधानमन्त्री व मन्त्रिपरिशद् के हाथों की रबर की मुहर बना देने को भी पूर्णतः उचित नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि इस स्थिति का निराकरण करने का प्रयत्न अब संविधान के 44वें संषोधन द्वारा संविधान के 74वें अनुच्छेद में यह व्यवस्था की गई है कि ''राश्ट्रपति मन्त्रि परिशद् से सामान्यतः या अन्यथा अपनी ऐसी मन्त्रणा पर पुनर्विचार करने की अपेक्षा कर सकता है तथा फिर राश्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के बाद दी हुई मन्त्रणा के अनुसार कार्य करेगा।'' अब वर्तमान स्थिति यह है कि सामान्यतः राश्ट्रपति को मन्त्रिपरिशद की मन्त्रणा के अनुसार कार्य करना है, यद्यपि राश्ट्रपति के चाहने पर मन्त्रिपरिशद अपनी मन्त्रणा पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य है तथा राश्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के बाद मन्त्रिपरिशद द्वारा दी गई मन्त्रणा को मानने के लिए बाध्य है। 44वें

संविधान संषोधन का मन्तव्य भी लगभग 42वें संषोधन जैसा ही है। इन संविधान संषोधनों साथ ही यह बात स्पश्ट हो जाती है कि राश्ट्रपति मन्त्रिपरिशद का निर्णय मानने के लिए बाध्य है।

आपात्कालीन कार्यों एवं अधिकारों का मूल्यांकन

:भारतीय संविधान में राश्ट्रपति की आपात् कालीन षक्तियों की आलोचना संविधान निर्माण के समय से अब तक होती आ रही है। इस व्यवस्था की आलोचना मुख्यतः निम्नलिखित आधारों पर की जाती रही है।

1. राश्ट्रपति के अधिनायक होने की सम्भावना,

2. प्रधानमन्त्री तथा उसके दल के तानाषाह बनने की सम्भावना,

’3. संविधान के संघात्मक स्वरूप की समाप्ति –

4. केन्द्र में सत्तारूढ़ दल द्वारा प्रतिपक्षी दलों की सरकारों के दमन की सम्भावना,

5. राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता की समाप्ति एवम्

6. मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित संवैधानिक उपचार की व्यवस्था को निरस्त किए

जाने की संभावना ।

यद्यपि उपर्युक्त आधारों पर राश्ट्रपति की आपातकालीन षक्तियों की आलोचनाएँ.

बहुत कुछ उचित प्रतीत होती हैं। लेकिन यदि हम इन षक्तियों के मूल उद्देष्य को ध्यान में रखकर उनकी व्यावहारिकता पर विचार करें तो हम इसी निश्कर्श पर पहुँचेंगे कि ये षक्तियाँ निरपेक्ष रूप से आलोच्य नहीं हैं। आपात्कालीन उपबन्ध केवल विषेश परिस्थितियों के लिए हैं और इनमें भी ऐसे रक्षा कवच मौजूद हैं कि राश्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री स्थाई रूप से अधिनायक नहीं बन सकते। यदि कार्यपालिका अपनी आपातकालीन षक्तियों का दुरुपयोग करती है तो संसद उसे सबक सिखा सकती है और यदि संसद भी षक्तियों के. ’दुरुपयोग में कार्यपालिका को सहयोग देती है तो आम चुनाव में जनता उसे सबक सिखा सकती है। इसके अतिरिक्त, आपात्काल में नागरिकों के अधिकारों की अपेक्षा देष की सुरक्षा का महत्व अधिक होता है। देष में वित्तीय संकट की स्थिति भी भयंकर ही होती है और यदि इससे निपटने के लिए आपात्कालीन का प्रावधान किया गया है तो वह हमारे संविधान निर्माताओं की दूरदर्षिता का परिचायक ही है। यहाँ हम केवल टी. टी. कृश्णामाचारी के इस वक्तव्य का समर्थन करना चाहेंगे जो उन्होने संविधान–सभा में दिया था – ‘‘हमें इन धाराओं को चाहें वे किसी भी प्रकार की हों, संविधान में स्थान देना ही होगा। सम्भवतया उसके बिना हमारे संविधान के निर्माण करने के प्रयत्न असफल हो जाएँगे। वास्तव में एक महत्वाकाँक्षी राश्ट्रपति संकटकालीन अधिकारों का प्रयोग करके अपनी स्थिति को अल्पकाल के लिए भले हीं षक्तिषाली बना ले लेकिन वह इन अधिकारों के बल पर स्वेच्छाचारी नहीं बन सकता। उसके इन अधिकारों के प्रयोग को कुचलने के लिए पर्याप्त षस्त्र मौजूद हैं। साधारणतया स्पश्ट है कि राश्ट्रपति को वैधानिक प्रधान की तरह आचरण करना पड़ेगा । ’’

राश्ट्रपति के अधिकार (जुलाई–अगस्त, 1979 की घटनाओं के प्रकाष में)

जुलाई, 1979 में प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई के त्याग पत्र के बाद 22 अगस्त, 1979 को लोकसभा के विघटन और चौधरी चरण सिंह को कामचलाऊ प्रधानमन्त्री बने रहने तक जो घटनाएँ घटित हुई, उनके प्रकाष में राश्ट्रपति के अधिकारों और उसकी वास्तविक स्थिति पर बहुत कुछ कहा गया। विभिन्न संविधान विषेशज्ञों और विधिवेत्तओं ने अपना अपना मत

व्यक्त किया। जुलाई और अगस्त, 1979 में कुछ अवसरों पर राश्ट्रपति को स्व विवेक के प्रयोग का पूर्ण अवसर मिला। राश्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी ने जिस प्रकार अपने स्व–विवेक के अधिकार का प्रयोग किया, ऐसे राश्ट्रपति पद पर्याप्त विवाद का विशय बन गया। भारतीय संविधान की अनेक व्यवस्थाओं के मौन होने के कारण जुलाई, 1979 में केन्द्र में राजनीतिक घटनाचक्र बड़ी तेजी के साथ घटित हुआ । तत्कालीन काँग्रेस के नेता श्री यषवन्तराव चहवाण ने देसाई – मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविष्वास प्रस्ताव रखा। इसी बीच श्री राजनारायण के नेतष्त्व में जनता पार्टी के अनेक संसद सदस्यों ने जनता पार्टी छोड़कर जनता (एस) पार्टी की स्थापना की। इससे केन्द्र में जनता सरकार का पतन अवष्यम्भावी हो गया। इसी तथ्य को दृश्टिगत रखते हुए राश्ट्रपति के अधिकारों के बारे में कुछ महत्वपूर्ण प्रष्न उठ खड़े हुए?

चौधरी चरणसिंह की जुलाई, 1979 में प्रधानमन्त्री के रूप में नियुक्ति

15 जुलाई, 1979 को प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने अपने पद से त्याग–पत्र दे दिया। इस प्रकार 28 महीने पुरानी जनता पार्टी की सरकार का पतन हो गया। राश्ट्रपति द्वारा वैकल्पिक व्यवस्था (नई सरकार के गठन) तक श्री देसाई से अपने पद पर बने रहने का अनुरोध किया गया।

जनता पार्टी (एस) के नेता चौधरी चरणसिंह और मोरारजी देसाई दोनों ने ही राश्ट्रपति के समक्ष अपने–अपने बहुमत का दावा किया। देसाई का कहना था कि उन्होंने प्रध नमन्त्री के रूप में त्यागपत्र दे दिया है, पर जनता संसदीय दल के वे अभी भी नेता हैं और बहुमत का विष्वास उन्हे प्राप्त हैं, अतः राश्ट्रपति द्वारा उन्हें पुनः सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करना चाहिए। यह विवाद पैदा हो गया कि क्या ऐसे व्यक्ति को जो लोकसभा के अविष्वास प्रस्ताव का सामना किए बिना ही प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र दे चुका हो, पुनः सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया जा सकता है?

राश्ट्रपति श्री रेड्डी ने दोनों ही पक्षों से अपने–अपने समर्थकों की सूचियाँ माँगी। दोनो सूचियों में समर्थकों की संख्या एक समान 279 थी। अतः राश्ट्रपति ने सूचियों की जाँच–पड़ताल कराई। इस दौरान कुछ संविधान विषेशज्ञों द्वारा कहा गया कि यदि श्री देसाई या श्री चौध ारी केन्द्र में स्थिर वैकल्पिक सरकार नही बना पाते तो राश्ट्रपति के सामने फिर यह रास्ता रह जाता है कि वह सम्प्रभु लोकसभा से भत और मार्गदर्षन प्राप्त करें। राश्ट्रपति लोकसभा के अध्यक्ष के मार्फत संदेष भेजकर लोकसभा की राय माँग सकते हैं। इसके बाद सदन किसी एक सदस्य को प्रधानमन्त्री बनाने की सिफारिष कर सकता है। यह सिफारिष सर्वसम्मति, आम राय या चुनाव पर आधारित हो सकती है। यदि सदन प्रधानमन्त्री के पद के बारे में कोई सिफारिष न कर सके तो वह लोकसभा भंग कर नए चुनाव कराने की सिफारिष कर सकता है। भारतीय संविधान में लोकसभा सर्वाधिक षक्ति सम्पन्न संस्था है जिसमें जनता की सम्प्रभुता निहित है।

लेकिन यहाँ लोकसभा की सिफारिष मानने का प्रष्न ही नहीं उठा क्योंकि राश्ट्रपति श्री रेड्डी ने दोनों सूचियों की जो जाँच पड़ताल कराई उसमें चौधरी चरणसिंह के 262 के मुकाबले जनता गुट (देसाई समर्थक) के 236 नाम प्रमाणित हुए। इसके पष्चात् ही राश्ट्रपति ने चौध ारी चरणसिंह को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। 28 जुलाई, 1979 को चौध

री चरणसिंह ने नए प्रधानमन्त्री के रूप में षपथ ली।

राश्ट्रपति श्री रेड्डी ने प्रधानमन्त्री के चयन में अपने विवेक का बहुत ही निश्पक्ष ढंग से प्रयोग किया। राश्ट्रपति को इस बात का अहसास सदैव बना रहा कि प्रधानमन्त्री ऐसा

व्यक्ति होना चाहिए जिसे लोकसभा के बहुमत का विष्वास प्राप्त हो और इसलिए श्री चौध ा री को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करते हुए उन्होंने उनसे अनुरोध कर दिया था कि ‘‘लोकतन्त्र के ऊँचे सिद्धान्तों के अनुरूप और स्वस्थ परम्परा के नाते वह अधिक से अधिक अगस्त के तीसरे सप्ताह तक लोकसभा की बैठक बुलाकर अपना बहुमत सिद्ध कर देंगे।’’ इस प्रकार से राश्ट्रपति ने उन पर विष्वास मत प्राप्त करने की नई षर्त लगा दी थी । लोकसभा का 22 अगस्त, 1979 को विघटन और श्री चरणसिंह को कामचलाऊ प्रधानमन्त्री बनाए रखना

चौधरी चरणसिंह काँग्रेस (इ) के समर्थन के कारण ही राश्ट्रपति के सामने अपना बहुमत सिद्ध कर सके थे। लेकिन 20 अगस्त, 1979 को श्रीमती गाँधी ने अपना समर्थन वापस ले लिया। इस दिन ही श्री चरणसिंह लोकसभा का विष्वास प्राप्त करने वाले थे । काँग्रेस (इ) द्वारा समर्थन वापस लेने के बाद लोकसभा में विष्वास मत प्राप्त करने के स्थान पर प्रध ाानमन्त्री चरणसिंह ने अपने पद से त्यागपत्र देकर (20 अगस्त को प्रातः) राश्ट्रपति से लोकसभा भंग कर मध्यावधि चुनाव कराने की सिफारिष कर दी। राश्ट्रपति ने त्यागपत्र स्वीकार कर लिया किन्तु अन्य व्यवस्था न होने तक चरणसिंह को कार्य करते रहने को

कहा। इसके बाद राश्ट्रपति ने विधिविषेशज्ञों से सलाह—मषविरा प्रारम्भ कर दिया। विपक्ष के नेता श्री जगजीवनराम ने (श्री देसाई की जगह श्री जगजीवनराम जनता पार्टी संसदीय दल के नेता बन चुके थे) राश्ट्रपति से भेंट करके उनसे उन्हें वैकल्पिक सरकार गठित करने का मौका देने का अनुरोध किया । जनता पार्टी के षीर्श नेताओं का स्पश्ट मत था कि चौधरी चरणसिंह को मध्यावधि चुनावों के आयोजन की सिफारिष करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि वे लोकसभा का विष्वास प्राप्त करने में विफल रहें हैं।

22 अगस्त, 1979 को राश्ट्रपति श्री रेड्डी ने कामचलाऊ प्रधानमन्त्री की सलाह मानते हुए. लोकसभा भंग करने और दिसम्बर, 1979 में मध्यावधि चुनाव कराने की घोशणा कर दी। राश्ट्रपति ने यह भी निर्णय किया कि चुनाव होने तक चरणसिंह मन्त्रिमण्डल ही कामचलाऊ सरकार के रूप में देष का षासन चलाएगा लेकिन वह कोई नई नीति सम्बन्धी फैसला नहीं करेगा और बड़ी रकम के खर्च वाली कोई योजना स्वीकार नहीं करेगा।

'' राश्ट्रपति श्री रेड्डी के निर्णय ने राश्ट्रपति पद को गम्भीर विवाद का विशय बना दिया । जनता पार्टी ने उन पर महाभियोग चलाने तक की धमकी दी। राश्ट्रपति ने विधि विषेशज्ञों के विभिन्न मतों, संविधान की व्यवस्थाओं और राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर अपने उपरोक्त निर्णय में 'स्व विवेक' का आश्रय लिया था। कुछ विधि—विषेशज्ञों का यह मत् था कि श्री चरणसिंह को उस लोकसभा को भंग करने की सिफारिष करने का कोई अधि ाकार नहीं था जिसका उन्हें कभी विष्वास मत प्राप्त नहीं हुआ। श्री रेड्डी ने श्री चौधरी को इस षर्त पर प्रधानमन्त्री बनाया था कि वे लोकसभा में अपना बहुमत सिद्ध करेंगे। श्री चरणसिंह ने इसी उद्देष्य से 29 अगस्त, 1979 को संसद का अधिवेषन भी बुलाया। किन्तु जब उन्हें विष्वास हो गया कि वे लोकसभा का विष्वास प्राप्त नहीं कर सकते तो उन्होंने सदन में उपस्थित होने की बजाय सीधे राश्ट्रपति को जाकर अपना त्याग पत्र दे दिया और लोकसभा को भंग करने की सिफारिष कर दी। श्री मुहम्मद करीम छागला तथा वी. एस. तारकुण्डे—जैसे संविधानविदों और भूतपूर्व न्यायाधीषों ने मत व्यक्त किया कि सारी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राश्ट्रपति श्री रेड्डी वर्तमान प्रधानमन्त्री श्री चरणसिंह की सलाह स्वीकार करने को बाध्य नहीं हैं। दूसरी ओर कुछ विधि विषेशज्ञों ने यह मत व्यक्त किया कि राश्ट्रपति के सामने निवर्तमान प्रधानमन्त्री श्री चरणसिंह की सिफारिष स्वीकार करने के सिवाय दूसरा कोई विकल्प नहीं था। इस दलील का आधार संविधान का अनुच्छेद 74 रहा 1 42वें और 44वें संविधान संषोधन अधिनियम के बाद इस अनुच्छेद का वर्तमान स्वरूप यह व्यवस्था करता है कि

''राश्ट्रपति को अपने कार्यों का सम्पादन करने में सहायक और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रिपरिशद होगी जिसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होगा। राश्ट्रपति अपने कृत्यों के निर्वहन में उसकी मन्त्रणा के अनुसार चलेंगे। यह व्यवस्था की जाती है कि राश्ट्रपति मन्त्रिपरिशद से उसकी मन्त्रणा पर पुनर्विचार की माँग कर सकते हैं। ऐसे पुनर्विचार के बाद जो भी मन्त्रणा राश्ट्रपति के पास भेजी जाती है। उसे वह उसी रूप में स्वीकार करेंगे।''

अनुच्छेद 74 की व्यवस्था के आधार पर दूसरे पक्ष का स्पश्ट मत था कि राश्ट्रपति यदि निवर्तमान प्रधानमन्त्री की सिफारिष को कबूल करते हुए मध्यावधि चुनावों का आदेष देते हैं तो कोई संवैधानिक व्यवस्था रास्ते में बाधक नहीं बनती। राश्ट्रपति ने इसी मार्ग को ग्रहण किया था। तत्कालीन विधि मन्त्री एस. एन. कक्कड़ ने भी संविधान के इस प्रावधान की दुहाई दी थी ।

भारतीय संविधान एक विशद् ग्रन्थ है जिसमें कार्यपालिका, न्यायपालिका, तथा संसद विध ाानमण्डलों की कार्य—प्रणाली तथा अधिकारों की विस्तष्त रूप में व्याख्या की गई है। विष्व का दूसरा कोई भी संविधान षायद इतना विस्तष्त और स्पश्ट नहीं है। फिर भी, कोई भी संविध न भविश्य में पैदा होने वाली समस्त संवैधानिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों की कल्पना नहीं कर सकता है। इसलिए नई परिस्थिति पैदा होने पर राश्ट्रपति से उपेक्षा की जाती है कि वह अपनी बुद्धि और विवेक का उपयोग करते हुए स्वस्थ तथा न्यायसंगत परम्परा की स्थापना करेगा। राश्ट्रपति पद की षपथ लेने के कुछ समय बाद संविधान—सभा

के अध्यक्ष तथा देष के प्रथम राश्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने इस अवधारणा को चुनौती दी थी कि भारतीय संविधान में राश्ट्रपति की स्थिति मात्र रबर स्टाम्प वाली भूमिका है। उनका मत था कि अनेक परिस्थितियों में राश्ट्रपति को अपने विवेकानुसार कदम उठाने की छूट है। यदि राश्ट्रपति को किसी प्रकार के अधिकार नहीं हैं तथा वह अच्छा या बुरा कोई भी कदम उठाने की स्थिति में नहीं है तो फिर उसे हटाने के लिए संविधान में महाभियोग की व्यवस्था क्यों है ? डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने लगभग 40 वर्श पीछे जो कहा था, आज की परिस्थितियों ने उसकी सच्चाई सिद्ध कर दी है। परिस्थितियाँ ऐसी थी कि केन्द्रीय राजनीति पूर्णतः राश्ट्रपति श्री रेड्डी के विवेकसंगत निर्णय पर निर्भर हो गई और राश्ट्रपति ने चरणसिंह मन्त्रिमण्डल की सिफारिष को स्वीकार करना उपयुक्त समझा।

राश्ट्रपति के लिए लोकसभा भंग करना और नए चुनावों की घोशणा करना राजनीतिक परिस्थितियों की दृश्टि से भी आवष्यक हो गया था। कोई भी व्यक्ति सम्भवतः इस स्थिति में नहीं था कि लोकसभा का बहुमत प्राप्त कर पाता । राजनीतिक दलों में 'आयाराम—गयाराम' का बोलबाला षुरू हो गया था। इस प्रकार कोई दल स्थिर सरकार बनाने में समर्थ नहीं था । यदि कोई दल सरकार बना भी पाता तो वह कुछ ही दिन टिकती और राश्ट्र के सामने फिर 'सरकार— विहीनता' की स्थिति पैदा हो जाती । अतः राश्ट्रपति ने, राजनीतिक अस्थिरता के दौर को समाप्त करने के लिए, मध्यावधि चुनाव को ही उपर्युक्त मार्ग समझा। श्री चरणसिंह की मध्यावधि चुनाव की सिफारिष एक राजनीतिक पैंतरेबाजी थी, किन्तु श्री रेड्डी ने परिस्थितियों के प्रकाष में उसे स्वीकार कर दूरदर्षिता का काम किया । '' क्या राश्ट्रपति के लिए परामर्षदात्री परिशद की जरूरत है ?

.जुलाई और अगस्त, 1979 में जो समस्याएँ पैदा हुई, संविधान निर्माताओं ने उनकी 'कल्पना नहीं की थी। इन घटनाओं के प्रकाष में इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि यह जरूरी नहीं कि राश्ट्रपति का पद ग्रहण करने वाला व्यक्ति सदा ही अत्यन्न बुद्धिमान और विलक्षण राजनीतिज्ञ होगा अथवा निजी आकाँक्षा या अन्य बाहरी विचारों से प्रभावित नहीं होगा ।

राश्ट्रपति के लिए परामर्षदात्री परिशद की आवष्यकता के सम्बन्ध में अगस्त, 1979 के अपने एक लेख में जस्टिम एच. आर. खन्ना ने अत्यन्त महत्वपूर्ण और सामयिक विचार अभिव्यक्त करते हुए कहा :

''संविधान की धारा 74 के अनुसार राश्ट्रपति को अपनी मन्त्रिपरिशद की सलाह पर ही कार्य करना है । परन्तु प्रष्न यह है कि राश्ट्रपति उस मन्त्रिपरिशद की सलाह कहाँ तक मानने को बाध्य है जो सदन में विष्वास खो चुकी है व कामचलाऊ रूप में काम कर रही हो । पुनः ऐसे मामले जो बहुत राजनीतिक महत्व के हों या विवादास्पद हों उनमें उक्त कामचलाऊ मन्त्रिपरिशद की सलाह कहाँ तक मानना उचित होगा।''

इसके अतिरिक्त ऐसी भी स्थिति आ सकती है जब प्रधानमंन्त्री की मष्त्यु हो गई या उसने त्यागपत्र दे दिया व प्रधानमन्त्री पद के लिए तब दो दावेदार सामने हों जिनके समर्थक लोकसभा में बराबर हों, तब राश्ट्रपति अपनी सलाह व विवेक से ही यह सब निर्णय करे ।

अब लोकसभा भंग करने की बात लें। सामान्यतः राश्ट्रपति बाध्य है कि वह इस बारे में प्रध ाानमन्त्री की सलाह माने, चाहे वह प्रधानमन्त्री विष्वास मत में हार चुका हो। पर ऐसा भी हो सकता है कि राश्ट्रपति की राय हो कि वैकल्पिक टिकाऊ सरकार बन सकती है व देष को चुनावों के भार व व्यय से बचाया जा सकता है। इन सभी मामलों में राश्ट्रपति को निर्णय करना कठिन होता है। इन अवसरों पर आगे राश्ट्रपति को सलाह देने के लिए तन्त्र बनाना लाभकर हो सकता है। फिर भी राश्ट्रपति मन्त्रिपरिशद की सलाह पर तो बाध्य होगा, पर अपने विवेक से काम लेने के लिए व असामान्य स्थितियों में उसे सलाह पाने के लिए एक उचित तन्त्र मिल जाएगा जो अनुभव व विचार षक्ति में विषेशज्ञ हो। इसमें एक लाभ यह भी होगा कि राश्ट्रपति का भार कम हो जाएगा।

उल्लेखनीय है कि संविधानसभा में संविधान सलाहकार ने भी राश्ट्रपति के लिए एक सलाह परिशद का सुझाव दिया था। लेकिन जून, 1947 में संविधान निर्माण समिति ने ऐसी परिशद की स्थापना की कोई आवष्यकता नहीं समझी। समिति का कहना था कि सरकार संसदीय प्रणाली की होगी जिसमें राश्ट्रपति को कोई अधिकार निहित न होंगे व सभी कार्य यहाँ तक कि लोकसभा भंग करने का कार्य भी वह मन्त्रियों की सलाह पर ही करेगा। राश्ट्रपति की कोई विषेश भूमिका नहीं रही तो उक्त परिशद का सुझाव लाना ही व्यर्थ है। राश्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति

–

राश्ट्रपति की षक्तियों का सिद्धान्त और व्यवहारों में (प्द जीमवतल ंदक च्तंबजपबम) जो विवेचन पूर्व पृश्ठों में किया गया है उससे यह स्पश्ट है कि यद्यपि कुछ अवसरों पर राश्ट्रपति को स्वविवेक का प्रयोग करना पड़ता है, तथापि मूलतः वह एक संवैधानिक राज्याध यक्ष (ब्वदेपजनजपवदंस भ्मंक) है जो अपनी षक्तियों का प्रयोग मन्त्रिपरिशद् की सलाह से करता है, अर्थात् वास्तविक कार्यपालिका – षक्ति राश्ट्रपति में नही बल्कि मन्त्रिपरिशद में निहित है जिसका नेता प्रधानमन्त्री होता है। राश्ट्रपति की स्थिति के बारे में संविधानसभा में भी अनेक बार वाद विवाद हुआ और प्रत्येक बार राज्याध्यक्ष के संवैधानिक गुणों पर ही बल दिया गया ।

3. भारतीय संविधान में भारतीय राश्ट्रपति के पद के उत्तराधि कारी की क्या व्यवस्था की गई है?

4. भारतीय राश्ट्रपति पर भारतीय संविधान के अन्तर्गत महाभियोग लगाने की प्रक्रिया

क्या है?

संविधानसभा के कार्यकाल के अन्तिम दिन, सभा के अध्यक्ष और बाद में भारत के प्रथम राश्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था कि–

''एक निर्वाचित राश्ट्रपति तथा निर्वाचित विधान मण्डल की परस्पर स्थिति का हमें, समाध ाान करना पड़ा है। इस विधान में हमनें ब्रिटिष सम्राट् की स्थिति, भारत के निर्वाचित राश्ट्रपति के लिए स्वीकार की है जो संवैधानिक राज्याध्यक्ष की स्थिति है । मन्त्रि मण्डल विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी है। मंत्री राश्ट्रपति को परामर्ष देते हैं जो उक्त परामर्ष के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है। संविधान में, जहाँ तक मुझे विदित है, ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जो राश्ट्रपति को मन्त्रियों द्वारा दिए गए परामर्ष को स्वीकार करने के लिए बाध्य करता हो, किन्तु आषा है इस सम्बन्ध में ब्रिटेन की तरह निरुढ़ि परम्परा स्थापित हो जाएगी। ब्रिटिष सम्राट के अनुरूप भारतीय राश्ट्रपति भी अपने मन्त्रियों के परामर्ष के अनुसार कार्य करेगा– इसलिए नहीं कि संविधान उसे बाध्य करता है। बल्कि इसलिए कि यह एक स्वतन्त्र निरुढ़ि होगी और इससे राश्ट्रपति संवैधानिक राज्याध्यक्ष बन जाएगा ।''

राश्ट्रपति की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए और यह देखने के लिए कि संविधान द्वारा उसे एक सांवेधानिक अध्यक्ष बनाया गया है अथवा वास्तविक अध्यक्ष, राश्ट्रपति और मन्त्रिपरिशद के पारस्परिक सम्बन्धों की समीक्षा करना आवष्यक है। इस सम्बन्ध ज में अनुच्छेद 74, 75, और 78 विषेश महत्व रखते हैं, जिनके अनुसार यह निर्धारित किया गया है कि

1. राश्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता एवं मन्त्रणा देने के लिए

एक मन्त्रिपरिशद् होगी, जिसका मुखिया प्रधानमन्त्री होगा ।.

2 राश्ट्रपति अपने कृत्यों के निवर्हन में मन्त्रिपरिशद् की मन्त्रणा के अनुसार चलेगा । 3. राश्ट्रपति मन्त्रिपरिशद से उसकी मन्त्रणा पर पुनर्विचार की माँग कर सकता है। ऐसे

पुनर्विचार के बाद जो भी मन्त्रणा राश्ट्रपति के पास भेजी जाती है उसे वह उसी के रूप में स्वीकार करेगा ।

4. क्या मन्त्रियों ने राश्ट्रपति को मन्त्रणा दी ? और यदि दी तो क्या दी ? इस प्रष्न की न्यायालय में जाँच नहीं की जाएगी।

5. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राश्ट्रपति स्वयं करेगा और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राश्ट्रपति प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर करेगा ।

6. राश्ट्रपति के विष्वास पर्यन्तं मन्त्री अपने अपने पद धारण करेंगे।

7. मन्त्रिपरिशद लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से (ब्वससमबजपअमसल) उत्तरदायी होगी।

8. प्रधान मन्त्री का कर्तव्य होगा कि वह–

(क) मन्त्रिपरिशद् के द्वारा संघ के कार्यों के प्रषासन सम्बन्धी समस्त विनिष्चयों तथा प्रस्तावित विधान सम्बन्धी सभी सूचनाएँ राश्ट्रपति को दे ।

(ख) संघ के कार्य के प्रषासन सम्बन्धी तथा विधानविशयक प्रस्थापनाओं सम्बन्धी जिन जानकारियों को राश्ट्रपति मँगाए, वह प्रदान करे।

(ग) किसी ऐसे विशय को, जिसे एक मन्त्री ने विनिष्चत किया हो किन्तु जिस पर मन्त्रिपरिशद ने विचार न किया हो, राश्ट्रपति की इच्छा पर मन्त्रिपरिशद के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत करे।

इन सब उपबन्धों के अध्ययन से यही निश्कर्श निकलता है कि भारतीय संविधान 'निर्माता भारत में ब्रिटिष षासन प्रणाली की संसदीय षासन व्यवस्था अपनाना चाहते थे और साथ ही ऐसी षब्दावली का प्रयोग भी करना चाहते थे। जिससे ब्रिटिष षासन प्रणाली का अनिवाय गुण लचीलापन' (थ्सम•पइपसपजल) विनश्ट न हो जाए। जैसा कि डॉ० पायली ने लिखा है–

''ब्रिटिष सम्राट् तथा मन्त्रिमण्डल के परस्पर सम्बन्ध निर्धारित करने वाली प्रथाओं (परम्पराओं) को षब्दबद्ध करना संविधान निर्माताओं के सम्मुख एक जटिल कार्य था । इसीलिए हम देखते हैं कि कुछ उपबन्धों का तात्पर्य स्पश्ट है एवं असंदिग्ध भाशा में है और कुछ उपलब्ध पूर्णतः स्पश्ट नहीं हो पाए हैं। इस प्रकार यह स्पश्ट है कि राश्ट्रपति को उसके कर्त्तव्यों का पालन करने में उसकी सहायता करने तथा परामर्ष देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में मन्त्रिपरिशद् आवष्यक है। क्या इसका तात्पर्य यह है कि राश्ट्रपति मन्त्रिपरिशद का परामर्ष लेने को बाध्य है तथा उनके परामर्ष के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता। इसका उत्तर डॉ. अम्बेडकर ने इस प्रकार दिया था– सामान्यतः भारत संघ की राश्ट्रपति अपने मन्त्रियों का परामर्ष स्वीकार करने के लिए बाध्य होगा। उनकी सम्मति के विपरीत अथवा बिना परामर्ष के वह कोई कार्य नहीं कर सकता। डॉ० अम्बेडकर के समर्थकों का कहना है कि मंत्रिपरिशद की सलाह से देष का षासन चलाना प्रधानमंत्री का कार्य है। इस कार्य में समय–समय पर राश्ट्रपति प्रधानमन्त्री की सहायता कर सकता है व परामर्ष दे सकता है। इस प्रकार हमें यथार्थ को देखना चाहिए, षब्दाडम्बर को नहीं क्योंकि ये षब्द केवल प्रथाओं में व्यक्त हैं। तब इस समय राश्ट्रपति की स्थिति क्या है ? क्या यह मन्त्रिमण्डल द्वारा दिए गए, परामर्ष का अनुसरण करने के लिए बाध्य है ? इसका उत्तर यही होगा, ''हाँ' साधारणतः राश्ट्रपति बाध्य ही है। 42वें संषोधन द्वारा अब यह स्पश्ट कर दिया गया है कि मन्त्रिपरिशद के परामर्ष को मानने के लिए राश्ट्रपति बाध्य है । इस प्रकार अब यह विवाद समाप्त – प्रायः है। 44वें संषोधन में यह प्रावधान जोड़ दिया गया है कि राश्ट्रपति मन्त्रिपरिशद् से उसकी मन्त्रणा पर पुनर्विचार की माँग कर सकता है। लेकिन साथ ही यह

भी स्पश्ट कर दिया है कि ऐसे पुनर्विचार के बाद जो भी मन्त्रणा राश्ट्रपति के पास भेजी जाएगी उसे वह उसी के रूप में स्वीकार करेंगे। इसका स्पश्ट अर्थ है कि पुनर्विचार में भी यदि मन्त्रिपरिशद मूल मन्त्रणां में कोई परिवर्तन नहीं करती तो उसे स्वीकारना राश्ट्रपति के लिए लाजमी होगा। इस प्रकार नवीनतम व्यवस्था भी राश्ट्रपति को संवैधानिक राज्याध्यक्ष ही बनाती है, हाँ साधारण अवसरों पर उसे 'स्वविवेक' के प्रयोग से वंचित नहीं करती।''

ये संवैधानिक प्रावधान राश्ट्रपति को संवैधानिक अध्यक्ष का ही दर्जा प्रदान करते हैं, वास्तविक षासक का नहीं। राश्ट्रपति की स्थिति और भूमिका का मूल्यांकन करते हुए ख्यातिप्राप्त विद्वानं डॉ. कृशणकान्त मिश्र ने विदेषी विद्वानों के दृश्टिकोण व्यक्त करते हुए जो विचार प्रस्तुत किए हैं, वे पठनीय हैं :

''भारत की राजनीतिक प्रणाली में राश्ट्रपति की स्थिति और भूमिका का मूल्यांकन करते हुए दो परस्पर विरोधी विचार प्रस्तुत किए गए हैं। कुछ आलोचकों के अनुसार राश्ट्रपति एक नाममात्र का षासक है जो प्रधानमन्त्री के लिए रबर की मोहर का काम करता है। इसके विपरीत अन्य आलोचकों का विचार है कि यदि राश्ट्रपति चाहे तो संविधान द्वारा प्रदत्त षक्तियों का उपयोग करते हुए एक प्रभावषाली षासक की भूमिका निभा सकता है। अब तक के राश्ट्रपतियों ने व्यवहार में इन अधिकारों का प्रयोग नहीं किया । इसका अर्थ यह नही कि वे भविश्य में भी इन षक्तियों का प्रयोग नही करेंगे।

अलान ग्लेडहिल ने एक कल्पित उदाहरण देते हुए बताया है, मान लीजिए कि एक— महत्वाकाँक्षी राश्ट्रपति संवैधानिक नियमों का दुरुपयोग करते हुए तानाषाह बनना चाहता हैः । संसद का एक सदन उसके विरुद्ध महाभियोग की प्रक्रिया षुरू करने के लिए 14 दिन का नोटिस देता है। राश्ट्रपति तुरन्त लोकसभा को भंग कर देता है और एक नए मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर लेता है, जो उसकी इच्छा के अनुसार षासन चलाता है। तदुपरान्त वह राश्ट्रीय आपातकाल की घोशणा कर देता है और आपात्कालीन षक्तियों का प्रयोग करते हुए संघात्मक प्रणाली को एकात्मक प्रणाली में बदल लेता है। फिर राजनीतिक दलों पर पाबन्दी लगा देता है और समाचार पत्रों को समाचारों और विचारों के प्रकाषन की आजादी नहीं देता । वह मूल अधिकारों का भी निलम्बन कर देता है। दमन के वातावरण में चुनाव कराकर वह ऐसी संसद का निर्माण कर लेता है जो राश्ट्रपति और उसके द्वारा नियुक्त और उसी पर निर्भर मन्त्रिमण्डल का पूर्ण समर्थन करे। दमन के वातावरण में संसद और मन्त्रिमण्डल को राश्ट्रपति का विरोध करने का साहस नहीं हो सकता। जर्मनी के वाइमर संविधान की धाराओं का दुरुपयोग करते हुए इसी प्रकार हिंडनवर्ग और हिटलर ने नाजी अधिनायक तंत्र की स्थापना की थी। लेटिन अमेरिका में भी प्रायः तानाषाही की स्थापना उपर्युक्त ढंग से की गई हैं।

ग्रेनविल आस्टिन तथा अलेक्जेंड्रोविज ने अलान ग्लेडहिल के उपर्युक्त मत को कल्पना की उड़ान बताया है। उनके कथनानुसार कोई भी राश्ट्रपति भारत के संसदीय षासन के अन्तर्गत संसद की अवहेलना करते हुए तानाषाह नहीं बन सकता है। वह ऐसा केवल सेना के उच्च अधिकारियों की सहमति से ही कर सकता है। यह स्थिति तो क्रान्ति की स्थिति है और क्रान्ति के समय कोई भी संविधान काम नहीं देता है। क्रान्ति की स्थिति में तो सभी संवैधानिक नियम बेकार हो जाते हैं।

हमारे देष की राजनीतिक प्रणाली में अभी तक आपात्कालीन षक्तियों का प्रयोग वस्तुतः प्रध ाानमन्त्रियों ने ही किया है, राश्ट्रपतियों ने नहीं। आपात्कालीन षक्तियों के उपयोग से यदि किसी की षक्तियों का विस्तार हुआ है, तो वह व्यक्ति प्रधानमन्त्री है, न कि राश्ट्रपति द्य भारत की राजनीतिक परिस्थितियों में राश्ट्रपति की तुलना में प्रधानमन्त्री के पद में षक्तियों के केन्द्रीयकरण की कहीं अधिक सम्भावना है।''

संसदीय लोकतन्त्र का सर्वोपरि मौलिक सिद्धान्त ही यह है कि राज्य का प्रधान षासन का प्रधान नहीं होता है। भारत का राश्ट्रपति राश्ट्र का प्रतीक है, राश्ट्र का षासक नहीं ।

अनुच्छेद 75 (2) के अनुसार यद्यपि मन्त्रिगण राश्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त ही अपने पदों पर रहते हैं लेकिन राश्ट्रपति का 'प्रसाद' वास्तव में संसद का ही प्रसाद है और संसद के ही प्रसादपर्यन्तं मन्त्रिगण पदासीन रहते हैं। मन्त्रिपरिशद को यदि लोकसभा का विष्वास प्राप्त है तो कोई भी राश्ट्रपति उसे अपदस्थ करने का साहस नहीं कर सकता क्योंकि यह कार्य असंवैधानिक होगा। राश्ट्रपति के इस दुस्साहस का परिणाम यह भी हो सकता है कि स्वयं राश्ट्रपति अपने पद को खो बैठे। संसद के लिए यह असहनीय स्थिति होगी कि राश्ट्रपति संसद की विष्वासपात्र मन्त्रि परिशद को अपदस्थ करके स्वयं संसद की राजनीतिक और संवैधानिक सत्ता को ही चुनौती दे दे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भारत का राश्ट्रपति अपने मन्त्रियों का आलोचक है, परामर्षदाता है और मित्र है। परामर्षदाता के रूप में वह अपने विचारों को मन्त्री के समक्ष बल के साथ रख सकता है। आलोचक के रूप में वह उस मन्त्रणा पर आपत्ति कर सकता है जो मन्त्री ने उसे किसी विशय पर दी हो किन्तु उसे जिंद या हठ नहीं करना चाहिए और अन्तिम उपचार के रूप में यदि मन्त्री राश्ट्रपति की बात को न मानना चाहे जो उसे मान लेना चाहिए। मन्त्रिमण्डल के मित्र के रूप में राश्ट्रपति को इतनी सावध नी बरतनी चाहिए कि वह अपनी बात पर व्यर्थ के लिए ही अड़ा न रहे, जिसके फलस्वरूप षासन का स्थायित्व खतरे में न पड़ जाए। जब तक राश्ट्रपति ऐसी मन्त्रिपरिशद की मन्त्रणा पर चलता है जिसकों लोकसभा का विष्वास प्राप्त है, वह कोई असंवैधानिक कृ त्य नहीं कर सकता है।

सारांष – संसदीय लोकतन्त्र का सर्वोपरि मौलिक सिद्धान्त ही यह है कि राज्य का. प्रधान षासन का प्रधान नहीं होता है। भारत का राश्ट्रपति राश्ट्र का प्रतीक' है, राश्ट्र का षासक नहीं। अनुच्छेद 75 (2) के अनुसार यद्यपि मन्त्रिगण राश्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त ही अपने पदों पर रहते हैं लेकिन राश्ट्रपति का ''प्रसाद वास्तव में संसद का ही प्रसाद है और संसद के ही प्रसादपर्यन्त मन्त्रिगण पदासीन रहते हैं। मन्त्रिपरिशद को यदि लोकसभा का विष्वास प्राप्त है तो कोई भी राश्ट्रपति उसे अपदस्थ करने का साहस नहीं कर सकता क्योंकि यह कार्य असंवैधानिक होगा। राश्ट्रपति के इस दुस्साहस का परिणाम यह भी हो सकता है कि स्वयं राश्ट्रपति अपने पद को खो बैठे। संसद के लिए यह असहनीय स्थिति होगी कि राश्ट्रपति संसद की विष्वासपात्र मन्त्रि परिशद को अपदस्थ करके स्वयं संसद की राजनीतिक और संवैधानिक सत्ता को ही चुनौती दे दे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भारत का राश्ट्रपति अपने मन्त्रियों का आलोचक है, परामर्षदाता है और मित्र है। परामर्षदाता के रूप में वह अपने विचारों को मन्त्री के समक्ष बल के साथ रख सकता है। आलोचक के रूप में वह उस मन्त्रणा पर आपत्ति कर सकता है जो मन्त्री ने उसे किसी विशय पर दी हो किन्तु उसे जिद या हठ नहीं करना चाहिए और अन्तिम उपचार के रूप में यदि मन्त्री राश्ट्रपति की बात को न मानना चाहे जो उसे मान लेना चाहिए । मन्त्रिमण्डल के मित्र के रूप में राश्ट्रपति को इतनी सावध नी बरतनी चाहिए कि वह अपनी बात पर व्यर्थ के लिए ही अड़ा न रहे, जिसके फलस्वरूप षासन का स्थायित्व खतरे में न पड़ जाए। जब तक राश्ट्रपति ऐसी मन्त्रिपरिशद की मन्त्रणा पर चलता है जिसको लोकसभा का विष्वास प्राप्त है, वह कोई असंवैधानिक कृत्य नहीं कर सकता है।

स्व प्रगति की जाँच के उत्तर

राश्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष क्यों ?

संविधान–सभा ने यह महसूस किया कि जब राश्ट्रपति को औपचारिक प्रधान मात्र बनाना है तो फिर उसका प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचन व्यर्थ का परिश्रम होगा। मन्त्रिमण्डलीय षासन–व्यवस्था में राश्ट्रपति संवैधानिक मुखिया होता है, अतः भारत में अमेरिका की भाँति सभी निर्वाचकों द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन की आवष्यकता अनुभव नहीं की गई, पर साथ ही यह भी प्रयत्न किया गया कि राश्ट्रपति का निर्वाचन जहाँ तक हो सके जनता पर ही आधारित रहे। भारत में राश्ट्रपति की वर्तमान निर्वाचन–व्यवस्था से ये दोनों ही उद्देष्य पूरे हो जाते हैं। पुनः राश्ट्रपति के निर्वाचन में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों के साथ ही राज्यों

की विधान सभाओं के सदस्यों को निर्वाचक मण्डल में लिए जाने का एक विषेश महत्व है। यदि राष्ट्राध्यक्ष के निर्वाचन में संसद के दोनों ही सदन भाग लेते तो बहुसंख्यक दल द्वारा अपने प्रत्याषी का सरलता से निर्वाचन सदैव सम्भव रहता। किन्तु राज्यों की विधानसभाओं द्वारा निर्वाचन में भाग लेने से स्थिति बदल गई है। यह पूर्ण सम्भव है कि संसद में जो बहुमत प्राप्त दल हैं उसे अधिकांष राज्यों में बहुमत न मिला हो। ऐसी स्थिति में संसद में बहुमत रखने वाला दल राज्य विधानसभाओं के समर्थन के बिना अकेला ही अपने प्रत्याषी को

राश्ट्रपति निर्वाचित करा सकता है।

राश्ट्रपति की पदावधि

संविधान के अनुच्छेद 56 (1) में उल्लेख है कि राश्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तिथि से पाँच वर्श की अवधि तक पद धारण करेगा, परन्तु –

(क) राश्ट्रपति, उप राश्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा।

(ख) संविधान का अतिक्रमण करने पर राश्ट्रपति अनुच्छेद 61 में उपबन्धित रीति से लाए गए महाभियोग द्वारा पद से हटाया जा सकेगा ।

(ग) राश्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी अपने उत्तराधिकारी के पदग्रहण तक पद धारण किए रहेगा।

अनुच्छेद 56 (2) में राश्ट्रपति अपने त्यागपत्र की सूचना अविलम्ब लोकसभा के अध यक्ष को देगा।

3.

उत्तराधिकार

अनुच्छेद 62 में उत्तराधिकार की व्यवस्था की गई है। जब राश्ट्रपति का पद उसकी मष्त्यु अथवा महाभियोग से खाली हो जाए तो उप राश्ट्रपति उस पद को धारण करेगा, लेकिन अगर उपराश्ट्रपति भी नहीं है तो सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीष उस पद को धारण करेगा। सन् 1969 में जस्टिस एम. हिदायतुल्ला ने ऐसा ही किया था ।

राश्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया

संविधान के अनुच्छेद 61 में राश्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया का उल्लेख है। तदनुसार, संविधान के अतिक्रमण के लिए राश्ट्रपति पर जब महाभियोग चलाना हो, तब संसद का कोई सदन दोशारोपण करेगा। महाभियोग सम्बन्धी प्रस्ताव पर उस सदन के कम से कम एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिए और प्रस्ताव का लिखित नोटिस कम से कम 14 दिन पूर्व प्राप्त होना चाहिए । यदि यह प्रस्ताव सदन के कुल सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत से पारित हो जाए तो इसका अर्थ यह है कि राश्ट्रपति पर महाभियोग लगाया गया है। जब संसद के किसी सदन द्वारा इस प्रकार महाभियोग लगाया जा चुके तब दूसरा सदन उस महाभियोग का अनुसन्धान करेगा या कराएगा और इस अनुसन्धान में उपस्थित होने का तथा अपना प्रतिनिधित्व कराने का राश्ट्रपति को अधिकार होगा। यदि जाँच अथवा अनुसन्धान के फलस्वरूप राश्ट्रपति के विरुद्ध लगाया गया दोशारोपण सिद्ध हो जाए और अनुसन्धान करने वाला सदन भी अपने कुल सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत से महाभियोग के प्रस्ताव को स्वीकार कर ले तो इस प्रस्ताव का प्रभाव यह होगा कि उसके पारित होने की तिथि से राश्ट्रपति पदच्युत् समझा जाएगा।

उल्लेखनीय है कि अमेरिका में भी राश्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है, लेकिन भारतीय और अमेरिकन संविधानों में इस सम्बन्ध में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ

भारत के राश्ट्रपति पर महाभियोग सविधान के उल्लंघन या अतिक्रमण के लिए लगाया जा सकता है वहीं अमेरिका के राश्ट्रपति पर महाभियोग 'राजद्रोह', 'घूस लेने' तथा 'अपराध' करने के आधार पर लगाया जा सकता है । स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर आज तक किसी भी भारतीय राश्ट्रपति को आज तक महाभियोग का सामना नहीं करना पड़ा है।

अभ्यास–प्रष्न

यास– राश्ट्रपति पद की अहर्ताओं तथा निवाचन प्रक्रिया का उल्लेख करें । राश्ट्रपति की षक्तियों का वर्णन करें।

राश्ट्रपति के अधिकारों की समीक्षा करें।

'राश्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति की विवेचना करें।

इकाई 12

संसद

इस अध्याय के अंतर्गत :

परिचय

भारतीय संसद का ब्रिटिष संसद से तुलना –

लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष

लोकसभा तथा राज्यसभा की षक्तियों और आपसी सम्बन्ध

संसद की षक्तियाँ और उनकी सीमाएँ

संसद में कानून बनाने की प्रक्रिया

साधारण विधेयकों को पास करने की प्रक्रिया द्य

अध्ययन के उद्देष्य

इस अध्याय के अध्ययन के पष्चात आप

भारतीय संसद का ब्रिटिष संसद से तुलना कर सकेंगे।

: लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की स्थिति समझ सकेंगे !

: लोकसभा तथा राज्यसभा की षक्तियों और आपसी सम्बन्ध समझ सकेंगे।

:

संसद की षक्तियाँ और उनकी सीमाएँ समझ सकेंगे।

: संसद में कानून बनाने की प्रक्रिया समझ सकेंगे।

साधारण विधेयकों को पास करने की प्रक्रिया समझ सकेंगे।

परिचय.

'हमारे संविधान के अनुसार राश्ट्रपति और संसद को मिलाकर संघीय विधानमण्डल की रचना की गयी है। यद्यपि राश्ट्रपति संसद के सदस्य नहीं रह सकता हैं परन्तु उसके हस्ताक्षर प्रत्येक कानून के लिए आवष्यक हैं। इसीलिए वह संधीय विधानमण्डल के भाग समझा जाती है । यहाँ पर हमने ब्रिटिष संविधान का अनुकरण किया है, जहाँ पर राजा और संसद दोनों केन्द्रीय विधानमण्डल के अंग माने जाते हैं। यहाँ पर हमारा संविधान अमेरिका के संविधान से भिन्न है क्योंकि अमेरिका में षक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त (जेमवतल वि ैमचंतंजपवद व च्वूमत) के कारण राश्ट्रपति काँग्रेस (पार्लियामेंट) का अंग नहीं माना जाता है।

1. हमारी पार्लियामेंट की ब्रिटिष पार्लियामेंट से तुलना हमारी पार्लियामेंट की प्रायः ब्रिटिष पार्लियामेंट से तुलना की जाती है परन्तु हमारी पार्लियामेंट तथा ब्रिटिष संसद की षक्तियों में महान अन्तर है। हमारे देष में पार्लियामेंट राजसत्ताधारी ैवअमतमपहद) नहीं है और इसकी षक्तियों पर अनेक संवैधानिक रुकावटें हैं परन्तु ब्रिटिष पार्लियामेंट राजसत्ताधारी है। इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट की राजसत्ताधारी षक्तियों को दिखाने के लिए डायसी ने लिखा है, "वह एक बालक को पूर्ण वयस्क (बालिग) घोशित कर सकती है, वह मृत्यु के बाद किसी भी व्यक्ति को राजद्रोही सिद्ध कर सकती है, वह दोगली सन्तान (प्समहपजपउंजम बीपसक)

को औरस सन्तान (समहपजपउंजम बीपसक) बना सकती है और यदि वह उचित समझें, तो किसी भी व्यक्ति को अपने मामले में न्यायाधीष बना सकती है।''

ब्रिटिष पार्लियामेंट द्वारा बनाये हुए किसी भी कानून को वहाँ का कोई भी न्यायालय गैर कानूनी घोशित नहीं कर सकता है और पार्लियामेंट संवैधानिक कानूनों को भी उसी तरह से बनाती, और संषोधित (ंउमदक) करती है जिस तरह साधारणं कानूनों को, परन्तु भारत में यह स्थिति नहीं है। हमारे देष में सविधान सर्वोच्च कानून हैं और पार्लियामेंट संविधान में सादा कानूनों की तरह कोई परिवर्तन नहीं कर सकती है। संविधान में संषोधन करने के लिए पार्लियामेट के दो तिहाई बहुमत की आवष्यकता है और उसका समर्थन आधे राज्यों के विध नमण्डलों द्वारा कराना आवष्यक है। इसके अतिरिक्त हमारे देष में सुप्रीम कोर्ट पार्लियामेंट के किसी कानून को गैर–कानूनी घोशित कर सकती है यदि वह संविधान के विरुद्ध हो ! अब हम संसद की रचना और कार्यों का वर्णन करते हैं। भारत की संसद के दो सदन राज्यसभा और लोकसभा हैं। इंग्लैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, आस्ट्रिया, लंका, कैनेडा, आस्ट्रेलिया, अमेरिका और सोवियत संघ की भाँति भारत में भी दो सदन ही रखे गए हैं, जिनकी रचना और षक्तियाँ निम्नलिखित हैं :

प्प राज्यसभा

रचना (ब्वउचवेपजपवद) – राज्यसभा या परिशद संसद (पार्लियामेंट) का दूसरा या उपरि सदन (न्चचमत भ्वनेम) है। राज्यसभा के सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक 250 हो सकती है। मार्च 1972 से यह संख्या 243 हो गई है। इन 243 सदस्यों में से 231 सदस्य विविध राज्यों की विधानसभाओं द्वारा एक विषेश प्रणाली के अनुसार चुने जाते हैं। इस प्रणाली को इकहरी मतपरिवर्तन प्रणाली (एकल संक्रमणीय मत –ैपदहसम ज्तंदेमितंइसम टवजम) तथा अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति (च्तवचवतजपवदंस त्मचतमेमदजंजपवद ैलेजमउ) कहा जाता है। षेश बारह सदस्य राश्ट्रपति द्वारा नामजद किए जाते हैं। ये ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिन्होंने कलाय साहित्य, विज्ञान, समाजसेवा और सहकारिता में विषेश अनुभव प्राप्त कर लिया है। चुने हुए सदस्य राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह याद रखने योग्य बात है कि हमारे संविधान में राज्यों का प्रतिनिधित्व आबादी के आधार पर दिया गया है न कि छोटे–बड़े सभी राज्यों को बराबर का प्रतिनिधित्व । अतः यहाँ हमारा संविधान अमेरिका के संविधान से भिन्न हैं। अमेरिका पार्लियामेंट के उपरि सदन को सीनेट कहा जाता है। सीनेट में प्रत्येक बड़े और छोटे राज्य को बराबर का प्रातेनिधित्व दिया गया है और प्रत्येक राज्य को सीनेट में दो सदस्य भेजने का अधिकार हैं। वहाँ पर आजकल सीनेट के कुल 100 सदस्य हैं। भारत में अमेरिकन संघ के सिद्धान्त को नहीं अपनाया गया है और राज्यसभा में प्रत्येक राज्य की सीटों को संविधान में निष्चित कर दिया गया है।

राज्यसभा के सदस्य के लिए योग्यताएँ और कार्यकाल

सदस्य के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ आवष्यक हैं।

1. वह भारत का नागरिक हो,

2. कम से कम तीस वर्श की आयु का हो, तथा राज्यसभा के

3. ऐसी अन्य योग्यताएँ रखता हो जो संसद के किसी कानून द्वारा निष्चित की जाएँ। 1951 के लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम (त्मचतमेमदजंजपवद व जीम च्मवचसम ।बज, 1951) के अनुसार राज्यसभा के लिए चुने जाने वाले उम्मीदवार के लिए उन राज्य से संसद का निर्वाचक (मतदाता) होना आवष्यक है, जिसमें से वह चुनाव लड़ता है।

राज्यसभा एक स्थायी सदन होगा और इसकी अवधि 6 वर्श होगी। इसको स्थायी सदन इस लिए माना गया है क्योंकि इस अवधि से पूर्व राश्ट्रपति इसको भंग नहीं कर सकते हैं। राज्यसभा के पष्चात् सेवानिवष्त (त्मजपतम) हो जायेंगे।

राज्यसभा के अधिकारी (व्fपिबपंसे व ट्रिल ईीं) भारत का उपराश्ट्रपति (टपबम च्तमेपकमदज) राज्यसभा का अध्यक्ष होता है। इसको राज्यसभा के अध्यक्ष के रूप में 1,25,000 रुपये मासिक वेतन तथा अन्य भत्ते मिलता है। राज्यसभा को अपना एक उपसभापति (क्मचनजल बैंपतउंद) भी चुनने का अधिकार है। उपसभापति राज्यसभा के बहुमत से चुना जाता है। उसको 1,25,000 रुपये मासिक वेतन मिलता है। जब राश्ट्रपति की मष्त्यु त्याग पत्र, महाभियोग द्वारा पदच्युति अथवा लम्बी बीमारी के कारण उसका स्थायी या अस्थायी रूप से खाली होगा, तो उपराश्ट्रपति उस समय राश्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। उस समय उपराश्ट्रपति को राश्ट्रपति की सभी षक्तियों व अधिकार प्राप्त होंगे। उसको उस समय उतना ही वेतन और भत्ते मिलेंगे जो राश्ट्रपति को मिलते थे । यदि राश्ट्रपति का स्थान स्थायी रूप से खाली है, तो उसे 6 महीने की भीतर चुनाव कराने पड़ेंगे 1

जब उपराश्ट्रपति राश्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा, तो उसको राज्य सभा की बैठकों का सभापतित्व करने का कोई अधिकार नहीं होगा। उसे उस समय राज्यसभा के सभापति के रूप में वेतन नहीं मिलेगा बल्कि राश्ट्रपति का वेतन ही मिलेगा। उपराश्ट्रपति को राज्यसभा एक प्रस्ताव द्वारा हटा सकती है, यदि उस प्रस्ताव से लोकसभा भी सहमत हो । जिस समय उप राश्ट्रपति को हटाने के लिए राज्यसभा में एक प्रस्ताव पर विचार हो रहा हो तो उस समय उपराश्ट्रपति राज्यसभा की बैठकों का सभापतित्व नहीं करेगा बल्कि उपसभापति ही राज्यसभा की बैठकों की अध्यक्षता करेंगा। उपराश्ट्रपति को उस समय अपनी रक्षा के लिए बोलने का अधिकार होगा और सदन की अन्य कार्यवाहियों (च्तवबममकपदहे) में भाग लेने का अधिकार होगा, परन्तु मतदान का अधिकार नहीं होगा। ऐसे प्रस्ताव को राज्यसभा के तत्कालीन सदस्यों की संख्या के बहुमत से पास करना आवष्यक है । उपसभापति को राज्यसभा अपने तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से हटा सकती है। इस हेतु लोकसभा का समर्थन प्राप्त करने की आवष्यकता नहीं है। उप सभापति को हटाने का प्रस्ताव राज्य में चौदह दिन की पूर्व सूचना से सदन में पेष होगा, उस समय वह सदन की बैठकों की अ यक्षता नहीं कर सकता है। राज्यसभा के सभापति और उप सभापति को भारत की संचित निधि (ब्वदेवसपकंजमक निदक) से वेतन दिया जाता है।

राज्यसभा में सभापति तथा उपसभापति की अनुपस्थिति में वह व्यक्ति सदन की अध् यक्षता करेगा जो सदन के नियमों के अनुसार निष्चित किया जाये । सभापति सदन में अनुषासन कायम रखता है और सदस्यों को बोलने की आज्ञा देता हैं। यह बिलों पर मतदान लेता है और फल घोशित करता है।

गणपूर्ति (फनवतनउ) – राज्यसभा की बैठकों के लिए इसकी समस्त संख्या का दसवाँ भाग उपस्थित होना आवष्यक है। इसके बिना सदन की बैठक नहीं हो सकती ।

राज्यसभा के सदस्यों के विषेश अधिकार तथा उन्मुक्तियाँ – राज्यसभा के सदस्यों को वे सब अधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्राप्त हैं जो प्रायः लोकतन्त्रात्मक देषों में संसद के सदस्यों को मिलती हैं। राज्य सभा के सदस्यों को अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है और राज्य सभा की बैठकों में दिए गए भाशणों के कारण उनके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त अधिवेषन के दिनों में तथा उसके 40 दिन पूर्व अथवा बाद में भी किसी भी दीवानी मुकदमें के कारण उन्हें गिरफ्तार नहीं किया जा सकता।

रचना संसद के निचले सदन को लोकसभा कहा जाता है। संविधान के चौदहवें संषोधन के अनुसार इसके निर्वाचित सदस्यों की अधिक से अधिक संख्या 525 हो सकती है।

20 जनवरी 1972 को पूर्वी भारत में नए राज्य मेघालय और केन्द्रीय क्षेत्र अरुणाचल प्रदेष का प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने उद्घाटन किया। 21जनवरी, 1972 को उन्होनें दो नए राज्यों मणिपुर तथा त्रिपुरा और केन्द्रीय क्षेत्र मिजोरम का उद्घाटन किया। मेघालय को लोकसभा में दो और मिजोरम को एक स्थान दिया गया है। अरुणाचल प्रदेष (नेफा) का

Notes

लोकसभा में सदस्य राश्ट्रपति द्वारा मनोनीत होने की बजाय निर्वाचित बना दिया गया है। इसलिए मार्च, 1972 से लोकसभा में निर्वाचित सदस्यों की संख्या 522 हो गई है। एंग्लो इण्डियन सम्प्रदाय को प्रतिनिधित्व देने के लिए दो सदस्य राश्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जायेंगे। इस तरह से मार्च 1972 से लोकसभा के कुल सदस्य 524 हो गए।

लोकसभा के सदस्यों के लिए योग्यताएँ – लोकसभा के उम्मीदवार के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ (फनंसपपिबंजपवदे) रखी गयी हैंः ऐसी अन्य योग्यताएँ रखता हो जो संसद के किसी कानून द्वारा निष्चित कीँ इसके अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति लोकसभा के लिए उम्मीदवार के रूप में नहीं खड़ा हो सकता, यदि उसको निम्निलिखित कारणों से अयोग्य (क्पेुनंसपपिमक) कर दिया गया हो। भारत या राज्यसरकार के किसी लाभ के पद (र्वपिबम व चितवपिज) पर हो (मन्त्रियों के पद लाभ के पदो में षामिल नहीं हैं ।) 2. वह किसी अधिकार प्राप्त (सक्षम) न्यायालय द्वारा पागल घोशित कर दिया गया हो। 3. वह दिवालिया हो । 4. संसद द्वारा बनाए गए किसी कानून द्वारा वह अयोग्य ठहराया गया हो, जैसे चुनावों के सम्बन्ध में भ्रश्टाचार या गैर कानूनी गतिविधियों का दोशी होने पर होता है।

लोकसभा के चुनावों के सम्बन्ध में सब झगड़ों और याचिकाओं (च्मजपजपवदे) को चुनाव आयोग द्वारा नियुक्त किया हुआ एक अधिकरण (ज्तपइनदंस) सुनता है।

अवधि (कार्यकाल) – लोकसभा की अवधि अथवा कार्यकाल पाँच वर्श का है। इसका यह अर्थ है कि प्रत्येक पाँच वर्श के पष्चात लोकसभा के चुनाव होंगे । पाँच वर्श पूर्व भी राश्ट्रपति प्रधानमन्त्री की प्रार्थना पर लोकसभा को भंग कर सकता है। प्रधानमंत्री ऐसी प्रार्थना. उस समय करता है, जबकि लोकसभा उसके विरुद्ध अविष्वास प्रस्ताव पास कर दे, परन्तु सारे देष का जनमत उसके साथ हो। उस समय इस बात को जाँचने के लिए कि प्रधानमंत्री के साथ सारा देष है, या नही राश्ट्रपति लोकसभा को भंग करके सारे देष में नये चुनाव करवा सकता है। संकटकालीन अवस्था की घोशणा के समय संसद अपना कार्यकाल एक बार में एक वर्श तक बढ़ा सकती है। और उस घोशणा के समाप्त होने के बाद अपना समय 6 माह से अधिक नहीं बढ़ा सकती जब ऐसी संकटकालीन घोशणा जारी है, तो संसद अपना कुल कार्यकाल 3 वर्श तक बढ़ा सकती है।

चौथी लोकसभा भंग (क्पेवसनजपवद व 4जी स्वा ईं) – 27 दिसम्बर, 1970 को राश्ट्रपति श्री वी. वी. गिरि द्वारा लोकसभा भंग कर दी गयी। उन्होंने ऐसा प्रधानमंत्री की सिफारिष पर किया। चौथी लोकसभा का जीवन काल 3 वर्श 285 दिन रहा। लोकसभा की अवधि पाँच वर्श होती है । परन्तु प्रधान मंत्री इन्दिरा गाँधी तथा मंत्रिमण्डल की सलाह पर राश्ट्रपति ने इसे अवधि से पूर्व ही भंग कर दिया। चौथी लोकसभा के लिए फरवरी, 1967 में आम चुनाव हुए थे और 3 मार्च, 1967 को नई लोकसभा को बुलाने के लिए अधिसूचना जारी. की गयी थी । चौथी लोकसभा की पहली बैठक 16 मार्च, 1967 को हुई। चौथी लोकसभा के कार्यकाल में चौदह बैंकों का राश्ट्रीयकरण हुआ तथा लोकसभा द्वारा राजाओं के प्रिवीपर्स खत्म करने के लिए विधेयक पास किया गया परन्तु राज्यसभा ने इसे पास नहीं किया । लगभग चार वर्शों में 219 विधेयक पास किये गये।

गणपूर्ति (फनवतनउ) – राज्यसभा के समान ही लोकसभा की गणपूर्ति भी कुल संख्या का दसवाँ भाग होगी। इसका यह अभिप्राय है कि यदि किसी लोकसभा की बैठक में 20 से कम सदस्य उपस्थित हों और वहाँ कोई फैसला किया जाए, तो वह कानून के विरुद्ध समझा जायेगा।

लोकसभा के सदस्यों के विषेश अधिकार – हमारी लोकसभा के सदस्यों को कुछ विषेश अधि ाकार प्राप्त हैं। उदाहरणस्वरूप उन्हें लोकसभा में अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता है और सरकार की आलोचना के कारण उनके विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती है। लोकसभा के अधिवेषन के दिनों में और ‘उसके चालीस दिन पहले तथा चालीस दिन बाद में किसी दीवानी अभियोग के बारे में उनको गिरफ्तार नहीं किया जा सकता है। लोकसभा का अध्यक्ष सदस्यों के विषेश अधिकारों की रक्षा करता है।

ïïï. लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष

लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का चुनाव – हमारे संविधान में लिखा है कि लोकसभा षीघ्र से षीघ्र अपना एक अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष चुनेगी । व्यवहार में प्रधानमंत्री लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के बारे में विरोधी दलों के नेताओं से विचार विमर्ष करके. तय कर लेते हैं कि किस व्यक्ति का नाम सदन के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के लिए पेष किया जाए। प्रायः अध्यक्ष या उपाध्यक्ष षासक दल में से विरोधी दलों के परामर्ष से ले लिया जाता है। ऐसी रूढ़ि (परम्परा) अब हमारे देष में स्थापित हो गयी है। इसके बाद औपचारिक रूप से लोकसभा में षासक दल का कोई सदस्य इंग्लैण्ड की भांति हमारी लोकसभा के अध्यक्ष के लिए किसी सदस्य का नाम प्रस्तावित कर देता है और विरोधी दलों के सदस्य उसका अनुमोदन कर देते हैं। इस तरह से लोकसभा का अध्यक्ष सर्वसम्मति से चुन लिया जाता है। इस तरह से उपाध्यक्ष भी निर्विरोध चुन लिया जाता है। कई बार ऐसा भी होता है कि विरोध दल का कोई सदस्य उपाध्यक्ष का नाम प्रस्तावित कर देता है और षासक दल के सदस्य उसका समर्थन कर देते हैं। वास्तविकता यह है कि लोकसभा के ये दोनों अधिकारी लोकसभा द्वारा सर्वसम्मति से चुन लिए जाते हैं। यहाँ पर हमारे देष की रूढ़ि इंग्लैण्ड से मिलती–जुलती है और अमेरिका से भिन्न है जहाँ पार्लियामेंट के निचले सदन (भ्वनेम वि त्मचतमेमदजंजपअमे) के अध्यक्ष पद के लिए बहुमंत दल तथा अल्पसंख्यक दल अपना–अपना उम्मीदवार खड़ा करते हैं और अध्यक्ष निर्विरोध (नदवचचवेमक) नहीं चुना जाता है। पाँच वर्श के बाद जब लोकसभा की सदस्यता के लिए पहला अध्यक्ष चुनाव लड़ता है, तो प्रायः वह निर्विरोध ही चुन लिया जाता है। इसका कारण यह है कि अपने चुनाव के बाद इंग्लैण्ड की तरह हमारी लोकसभा का अध्यक्ष भी राजनीति से अपना सम्बन्ध पूर्ण रूप से तोड़ देता है 1 अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को हटाने का तरीका यदि अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष लोकसभा के सदस्य न रहें, तो उन्हें अपना पद छोड़ना पड़ेगा। अध्यक्ष अपने हस्ताक्षर सहित अपना त्यागपत्र उपाध्यक्ष के पास और उपाध्यक्ष अपना त्यागपत्र अध्यक्ष के पास भेज सकता है. । अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष अपने पद से हटाए जा सकते हैं, यदि लोकसभा के तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से इस हेतु एक प्रस्ताव पास हो जाए। परन्तु इस प्रकार का कोई प्रस्ताव लोकसभा में तभी पेष हो सकेगा जबकि कम से कम चौदह दिन की पूर्व ऐसे प्रस्ताव के पेष करने के लिए सूचना (छवजपबम) दी गई हो। यदि लोकसभा को भंग कर दिया हो, तो अध यक्ष लोकसभा के भंग होने के बाद और नई लोकसभा की प्रथम बैठक के ठीक पहले तक अपने मंद को खाली नहीं करेगा।

जब अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष में से किसी को हटाने के लिए किसी प्रस्ताव पर विचार हो रहा हो तो उस समय वह व्यक्ति जिसको हटाने के लिए प्रस्ताव पर बहस हो रही हो, लोकसभा का सभापतित्व नहीं करेगा। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष सभापतित्व करेंगा। यदि अध्यक्ष या उपाध्यक्ष दोनों के स्थान खाली हैं तो अध्यक्ष के कार्य लोकसभा के उसी सदस्य द्वारा किए जायेंगे, जिसको राश्ट्रपति इस हेतु नियुक्त करे। लोकसभा द्वारा 1956 ई. में स्वीकृ त प्रक्रिया नियम (1) के अनुसार लोकसभा के प्रारम्भ पर या समय समय पर अ यक्ष सदस्यों में से अधिक से अधिक 6 सभापतियों की एक तालिका निर्देषित करेगा जिनमें से कोई एक अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में, उनके कहने पर लोकसभा का सभापतित्व करेगा। यह इसलिए किया गया है ताकि यदि अध्यक्ष या उपाध्यक्ष लोकसभा में किसी कारण से उपस्थित न हो सके तो कोई कठिनाई उत्पन्न न हो। यदि अध्यक्ष या उपाध यक्ष के हटाने के लिए लोकसभा में किसी प्रस्ताव पर विचार हो रहा हो, तो उस समय अध् यक्ष या उपाध यक्ष को बोलने तथा दूसरे प्रकार से उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधि कार होगा और उसमें मत देने का अधिकार होगा। परन्तु अगर मत बराबर हैं तो निर्णायक मत (ब्ंजपदह टवजम) देने का अधिकार नहीं होगा। भारत के संविधान में यह भी लिखा है कि अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को वे सब वेतन और भत्ते मिलेंगे जो पार्लियामेंट निर्धारित करे ।

अध्यक्ष के कार्य और षक्तियाँ 1. अध्यक्ष लोकसभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है और इसकी कार्यवाही को चलाता है। 2 वह यह निर्णय करता है कि कौन सदन मैं बोलेगा और सभी लोग बोलने में अध्यक्ष को ही सम्बोधित करते हैं। 3. वह सदन में

अनुषासन और षांति कायम रखता है। वह किसी भी सदस्य को असंसदीय भाशा में बोलने

'से को रोक सकता है और यदि कोई सदस्य, उसकी आज्ञा का पालन न करे तो वह उसे सदन से बाहर निकलवा सकता है। इस हेतु सषस्त्र परिचारक (डंतींस व जीम भ्वनेम) अह युक्ष के कहने पर आज्ञा भंग करने वाले सदस्य को षक्ति प्रयोग द्वारा भी बाहर निकाल सकता है। 4. यदि सदन में अव्यवस्था इस हद तक पहुँच जाए कि सदन की कार्यवाही चलाना कठिन हो जाय तो वह (अध्यक्ष) सदन की कार्यवाही को स्थगित कर सकता है। 5. वह लोकसभा के नियमों का पालन करवाता है, मत गिनता है और फल बतलाता है। 6. वह यह निर्णय करता है कि कौन–सा बिल धन विधेयक हैं या नहीं। 7. जब कोई बिल संसद के दोनों सदनों से पास हो जाए, तो वह उस पर हस्ताक्षर करता है। 8. वह यह निर्णय करता है. कि कौन–से प्रष्न सदन में पूछे जा सकते हैं या नहीं। 9. संसद के दोनों सदनों का जब. अधिवेषन होता है तो वह प्रधान पद धारण करता है। 10. वह लोकसभा के सदस्यों के विषेश अधिकारों की रक्षा करता है। 11. वह आमतौर पर अपना मत नहीं देता परन्तु यदि किसी प्रस्ताव के पक्ष तथा विपक्ष में समान मत हों, तो वह अपना एक निर्णायक मत (ब्ंजपदह. टवजम) अवष्य दे सकता है। 12 वह राश्ट्रपति के सम्मुख लोकसभा का मुख्य प्रवक्ता होता है, अर्थात वह राश्ट्रपति के सामने लोकसभा के निर्णयों को रखता है। 13. उसे यह भी निर्णय, करने की षक्ति प्राप्त हैं कि किसी सदस्य द्वारा पेष किया हुआ काम रोको प्रस्ताव नियम के अनुसार है या नहीं। 14. वह संसद की कार्यवाही से ऐसे षब्दों को अपने विवेक के अनुसार निकाल सकता है जो उसकी समझ में अषिश्ट तथा असंसदीय हों। 15. यदि कोई सदस्य सदन की कार्यवाही में लगातार बाधा उपस्थित करे और अध्यक्ष के आदेषों को न मानें तो अध्यक्ष उसकी सदस्यता को निलम्बित कर सकता है।

'16. वह प्रक्रिया सम्बन्धी विवादास्पद प्रष्नों पर अपना निर्णय देता है जो अन्तिम होता. है। 17. वह दर्षकों के प्रवेष पर नियंत्रण लगा सकता है और सदन की दीर्घाओं (ळंससमतपमे) को खाली करा सकता है, यदि वहाँ से बहुत षोर आ रहा हो या सदन की कार्यवाही में अन्य कोई बाधा उपस्थित हो रही हो ।

भारत के अध्यक्ष की स्थिति और उसकी इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के अध्यक्षों की स्थिति से तुलना भारत में लोकसभा के अध्यक्ष का दर्जा. . बहुत सम्मान का है । उसको भारत का सातवाँ दर्जा प्राप्त है जो सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस के बराबर है। हमारे देष में लोकसभा अध्यक्ष के पद के बारे में काफी हद तक इंग्लैण्ड की परम्पराएँ अपनाने का यत्न किया गया है। इंग्लैण्ड के हाउस ऑफ कामन्स (भ्वनेम व ब्वउउवदे) के अध्यक्ष के बारे में ब्राइस ने लिखा है कि ''ज्यों ही कोई व्यक्ति अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठता है, त्यों ही उससे यह आषा कि जाती है कि वह सब दलों से अपना सम्बन्ध ज तोड़ लेगा। जब वह अध्यक्ष की पोषाक पहन लेता है, तो उसकी अपनी कोई राजनीतिक राय नहीं रहती है और उसको अपने राजनीतिक मित्रों तथा विरोधियों के साथ एक समान व्यवहार करना चाहिए।''

फ्रेडरिक आस्टिन ऑग ने लिखा है कि ''सभा भवन के अन्दर ही नहीं, बल्कि बाहर भी अंग्रेजी स्पीकर दलबन्दियों की छाया मात्र से अलग रहता है। सार्वजनिक रूप से दलगत प्रष्नों पर वह अपना मत कभी व्यक्त नहीं करता है। वह अपने दल की सभा में कभी नहीं जाता है, उसका दल के समाचार पत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, वह अपने पुनर्निर्वाचन के लिए अभियान (ब्उचंपहद) नहीं करता है।'' इसके विरुद्ध अमेरिका की प्रतिनिधि सभा (भ्वनेम व त्मचतमेमदजंजपअमे) का अध्यक्ष बहुमत दल से सम्बन्धित होता है। वह बहुमत दल की सहायता से चुना जाता है और विरोधी दल उसके मुकाबले में अपना उम्मीदवार खड़ा करता है। जब वह अपने बहुमत दल की सहायता से चुना जाता है तो वह राजनीति

अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं करता और सदन में भी आवष्यकता के अनुसार अपने दल का पक्षपात करता है । भारत में अध्यक्ष की स्थिति अमेरिका और इंग्लैण्ड के अध्यक्षों के बीच की स्थिति है। इसका कारण यह है कि भारत में लोकसभा का अध्यक्ष न तो अपना सम्बन्ध ा राजनीति दलों से और राजनीति से इतना तोड़ लेता है जितना अमेरिका की प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष द्य भारत में अध्यक्ष अपने चुनाव के बाद अपने दल से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद नहीं करता है। बल्कि वह अपने दल की सदस्यता रखता है। परन्तु सक्रिय राजनीति (।बजपअम च्वसपजपबे) में भाग नहीं लेता है। वह सदन में सब दलों को बोलने का समान अवसर देता है और सदन की कार्यवाही अत्यन्त निश्पक्ष रूप से चलाता है ।

जिस समय बाबू पुरुशोत्तम दास टण्डन उत्तर प्रदेष की विधानसभा के अध्यक्ष थे, उन्होंने स्पश्ट षब्दों में घोशणा की थी '' अध्यक्ष पद के सम्बन्ध में यह आवष्यक नहीं है कि भारत में इंग्लैण्ड की प्रथा का अनुकरण किया जाए। सदन में स्पीकर निर्दलीय व्यक्ति के समान आचरण करे, किन्तु सदन के बाहर वह दलगत निश्ठाएँ रख सकता है।'' इसी प्रकार के विचार स्वतंत्र भारत की लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष श्री जी. वी. मावलंकर के भी थे। लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री मावलंकर ने कहा था ''भारत का स्पीकर इस समय उस प्रकार राजनीति से दूर नहीं रह सकता जिस प्रकार ब्रिटिष हाउस ऑफ कामन्स का स्पीकर राजनीति से संन्यास ले लेता है। फिलहाल भारत का स्पीकर राजनीति में भाग लेता रहेगा यद्यपि राजनीतिक कार्यवाहियों में उसे सोच–समझकर थोड़ा और सीमित ही भाग लेना चाहिए। वह अपने दल का सदस्य बना रह सकता है किन्तु दल की विभिन्न कार्यवाहियों से उसे हाथ खींच लेना चाहिए, विषेशकर ऐसे मामलों में उसे विषेश रुचि नहीं लेनी चाहिए जो संसद में विचार के लिए आने वाले हों। संक्षेप में, उसे ऐसे किसी प्रचार कार्य में नहीं लगना चाहिए या अपने विचार इस प्रकार प्रकट नहीं करने चाहिए जिससे ऐसा प्रतीत हो कि स्पीकर किसी विषेश दल का आदमी है।'' यही कारण है कि लोकसभा के अध्यक्ष की वह स्थिति हमारे देष में नहीं हो सकती जो इंग्लैण्ड में है। 18 दिसम्बर, 1954 ई. लोकसभा में अध्यक्ष के विरुद्ध प्रस्ताव पेष किया गया। प्रधानमन्त्री ने इस प्रस्ताव की निन्दा की और वह प्रस्ताव पास नहीं हो सका परन्तु इससे हमको इंग्लैण्ड और भारत में स्पीकर की स्थिति में अन्तर का पता लग जाता है। भारत में लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष और उनके पुनर्निर्वाचन (तम–मसमबजपवद) के बारे में भी रूढ़ियाँ स्थापित नहीं हुई हैं, जो इंग्लैण्ड में हुई हैं। इंग्लैण्ड में स्पीकर निर्विरोध चुना जाता है। सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के पुनर्निर्वाचन के समय विरोधी दल अपना उम्मीदवार खड़ा कर देते हैं। उदाहरणार्थ, एक बार लोकसभा के स्पीकर शण्मुखम चेट्टी को एक काँग्रेसी उम्मीदवार ने एक चुनाव में हरा दिया था। उसके बाद लोकसभा के अध्यक्ष के विरुद्ध सदैव अन्य दलों के उम्मीदवार चुनाव लड़ते रहे हैं। तीसरे आम चुनाव में लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष अनन्त षयनम् आयंगर और उपाध यक्ष सरदार हुक्मसिंह के विरुद्ध भी विरोधी उम्मीदवार खड़े हुए परन्तु अनन्त षयनम् आयंगर चित्तूर (आंध्र प्रदेष) और सरदार हुक्मसिंह पटियाला से लोकसभा के सदस्य तीसरे आम चुनाव में चुन लिए गए। इतना सब कुछ होते हुए भी हम कह सकते हैं कि लोकसभा के स्पीकर का पद बहुत सम्मान का है। स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू के षब्दों में, ''वह सदन की षान है क्योंकि सदन राश्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए अध्यक्ष राश्ट्र की स्वतन्त्रता का प्रतीक बन जाता है। अतः यह ठीक है कि अध्यक्ष की सम्मानजनक स्थिति होनी चाहिए। उसकी स्वतन्त्र स्थिति होनी चाहिए और इस पद पर अत्यन्त योग्य तथा निश्पक्ष व्यक्ति आरूढ़ होने चाहिए।''

तीसरे आम चुनाव के बाद हुक्मसिंह को लोकसभा का अध्यक्ष चुन लिया और अनन्त

षयनम् आयंकर को बिहार का राज्यपाल (गवर्नर) नियुक्त कर दिया गया। मार्च 1971 के चुनाव के बाद श्री गुरबख्षसिंह ढिल्लों को लोकसभा का अध्यक्ष तथा श्री सीवेल को उपाध ्‌ यक्ष चुना गया।

अ. लोकसभा तथा राज्यसभा की षक्तियाँ और आपसी सम्बन्ध

भारतीय संसद की षक्तियाँ हमारी संसद राजसत्ताधारी नहीं हैं। क्योंकि राजसत्ता संविधान के पास है। हमारी संसद कोई ऐसा कानून नहीं बना सकती जो संविध न के विरुद्ध हो । यदि यह ऐसा कोई कानून गलती से बना दे तो सुप्रीम कोर्ट उस कानून को रद्द कर सकती है। संसद राज्य सूची पर भी कानून केवल उसी समय बना सकती है जब राश्ट्रपति संकटकालीन घोशणा कर दे या राज्यसभा 2ध्3 बहुमत से घोशणा कर दे कि राज्य सूची का कोई विशय राश्ट्रीय महत्व का बन गया है। संसद संघसूची तथा समवर्तीसूची पर कानून बना सकती है।

संसद का बजट और मंत्रिपरिशद पर भी पूर्ण नियंत्रण रहता है। इसे संविधान में संषोधन करने और राश्ट्रपति पर महाभियोग चलाने में भाग लेने का अधिकार है। इसे उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट), हाई कोर्ट के जजों नियंत्रक महालेखा परीक्षक तथा मुख्य निर्वाचन आयुक्त को हटाने का अधिकार है।

. लोकसभा तथा राज्यसभा का धन (वित्त) विधेयक के बारे में सम्बन्ध (तमसंजपवद व सिवा ईीं दक त्रल ईीं तमहंतकपदह उवदमल इपससे) –लोकसभा तथा राज्यसभा की षक्तियाँ ध ान (वित्त) विधेयक के बारे में बराबर नहीं हैं। लोकसभा धन विधेयक सम्बन्धी मामलों में राज्यसभा से अधिक षक्तिषाली है । सविधान में लिखा है कि धन विध यक केवल लोकसभा में ही सबसे पहले पेष किया जा सकता है। वित्त विधेयक लोकसभा में प्रायः वित्तमंत्री द्वारा हीं प्रस्तुत किया जाता है किन्तु उसकी अनुपस्थिति में किसी अन्य मंत्री द्वारा धन विधेयक रखा जा सकता है, परन्तु उसे कोई भी ऐसा व्यक्ति पेष नहीं कर सकता है जो मंत्री नहीं है। धन विधेयक या बजट प्रधानमंत्री, वित्तमंत्री द्वारा तैयार करवाते हैं और राश्ट्रपति की सिफारिषों पर लोकसभा के सामने रखवाते हैं। धन विधेयक प्रायः नए टैक्स लगाने अथवा पुराने टैक्सों को बदलने, रद्द करने, क्षमा करने या संषोधित करने के बारे में होता है। सूद लेने या देने, ऋण लेने या देने अथवा धन सम्बन्धी और कोई गारण्टी देने का सम्बन्ध भी धन विधेयक से ही होता है। यदि लोकसभा ने बजट को पास कर दिया हो और राज्यसभा उसको चौदह दिन के अन्दर पास न करे तो भी बजट दोनों सदनों द्वारा पास समझा जाएगा। इससे पता चलता है किं धन सम्बन्धी मामलों में वास्तविक षक्तियाँ केवल लोकसभा के पास हैं। राज्यसभा तो बजट पर केवल वाद–विवाद कर सकती है और अपने उपयोगी सुझाव लोकसभा को दे सकती है। लोकसभा की इच्छा पर निर्भर हैं कि वह उनकों माने या न माने । अतः यहां पर हमारी राज्यसभा की स्थिति इंग्लैण्ड के हाउस आफ लार्ड्स से मिलती–जुलती है जो राज्यसभा की तरह ही धन सम्बन्धी मामलों में निर्बल सदन है। अमेरिका की सीनेट हमारी राज्यसभा से अधिक षक्तिषाली है क्योंकि वहाँ सीनेट प्रतिनिधि

सभा द्वारा पास किए धन विधेयक में इच्छानुसार संषोधन कर सकता है।

लोकसभा और राज्यसभा का अवित्तीय या साधारण विधेयकों के बारे में आपसी सम्बन्ध – साधारण या अवित्तीय विधेयकों के बारे में दोनों सदनों की षक्तियां बराबर हैं। साधारण विध ेयक दोनो सदनों में से किसी में भी पहले पेष किए जा सकते हैं। उनके लिए यह भी आवष्यक नहीं कि वे मंत्रियो द्वारा ही पेष किए जाएँ। वे मंत्रियों द्वारा पेष किये जा सकते हैं और पार्लियामेंट के ऐसे सदस्यो द्वारा भी जो मंत्री नहीं हैं। यदि दोनों सदनों में किसी बिल के बारे में गतिरोध उत्पन्न हो जाए तो उस समय राश्ट्रपति उनकी संयुक्त बैठक बुला सकता है। संयुक्त बैठक में लोकसभा का अध्यक्ष प्रधान पद धारण करेगा। वहाँ पर दोनों सदन बहुमत से उस बिल को पास कर सकते हैं या संषोधन कर सकते हैं अथवा अस्वीकार कर सकते हैं। इस संयुक्त बैठक में लोकसभा को यह लाभ रहेगा कि उसकी संख्या राज्यसभा से दुगनी से भी अधिक है। अतः यदि लोकसभा किसी मामले पर अड़ जाए तो यह साधारण मामलों में भी अपनी मनमानी कर सकती है। 1961 ई० में राज्यसभा और लोकसभा दहेज विधेयक के बारे में गतिरोध उत्पन्न हो गया था। इसे दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में हल किया गया। इस तरह से हम कह सकते हैं किं राज्यसभा का साध ारण विधेयकों के बारे में षक्तियाँ लोकसभा के बराबर होते हुए भी व्यवहार में उसकी स्थिति इतनी मजबूत नहीं जितनी लोकसभा की है।

लोकसभा और राज्यसभा का कार्यपालिका पर नियंत्रण – जहाँ तक मंत्रिपरिशद् का सम्बन्ध है, वह केवल लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है न कि राज्यसभा के प्रति । पष्चिमी जर्मनी, फ्रांस, स्वीडन, नार्वे और डेनमार्क इत्यादि के नवीन संविधानों मे भी मंत्रिपरिशद् को केवल निचले सदन के प्रति ही जिम्मेदार बनाया गया है। इंग्लैण्ड में यद्यपि अलिखित संविधान है, परन्तु वहाँ पर मंत्रिपरिशद सामूहिक रूप से केवल हाउस आफ कामन्स के प्रति ही जिम्मेदार है। इसका यह अर्थ है कि इंग्लैण्ड में हाउस आफ लार्ड्स के सदस्य मंत्रियों से प्रष्न तथा पूरक प्रष्न पूछ सकते हैं, परन्तु उन्हें मंत्रियो को हटाने का कोई अधिकार नहीं है। हमारे देष में भी यही स्थिति है। राज्यसभा के सदस्य मंत्रियों से प्रष्न तथा. पूरक प्रष्न पूछ सकते हैं और उनकी आलोचना भी कर सकते हैं, परन्तु उन्हें अविष्वास प्रस्ताव द्वारा मंत्रियों को हटाने का कोई अधिकार नहीं हैं। लोकसभा मंत्रियों से प्रष्न तथा पूरक प्रष्न पूछ सकती है। वह मंत्रियों के विरुद्ध कामरोको प्रस्ताव तथा निन्दा प्रस्ताव पास कर सकती है और मंत्रियों के कार्यों अथवा षासन सम्बन्धी भ्रश्टाचार की जाँच के लिए एक समिति नियुक्त कर सकती है। अतः मंत्रिपरिशद पर जितना नियन्त्रण लोकसभा का रहता है उतना राज्यसभा का नहीं।

लोकसभा तथा राज्यसभा के अन्य कार्य तथा षक्तियाँ पार्लियामेंट के दोनों सदन राश्ट्रपति तथा उपराश्ट्रपति के चुनावों में भाग लेते हैं। उनको राश्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाने की भी षक्ति प्राप्त है । यदि राज्यसभा उपराश्ट्रपति के विरुद्ध अविष्वास प्रस्ताव पास कर दे और लोकसभा उससे सहमत हो जाएं तो उपराश्ट्रपति को हटाया जा सकता है। पार्लियामेंट को सुप्रीम कोर्ट तथा हाई कोर्ट के जज, नियंत्रक महालेखा परीक्षक और मुख्य चुनाव आयुक्तों तथा प्रादेषिक चुनाव आयुक्तों को भी हटाने का अधिकार है । राश्ट्रपति को संकटकालीन स्थिति की घोशणा की मंजूरी भी पार्लियामेंट के दोनों सदनों

से लेनी पड़ती है। संविधान के संषोधन में भी दोनों सदन भाग लेते हैं।

राज्यसभा की उपयोगिता – ऊपर दिए गए विवरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राज्यसभा एक व्यर्थ सदन नहीं है। चाहे इसे धन सम्बन्धी और कार्यपालिका के नियंत्रण में थोड़ी षक्तियां प्राप्त हैं। गोपाल स्वामी आयंगर ने एक बार कहा था ”संविध न के निर्माताओं का राज्यसभा को बनाये रखने का उद्देष्य यह था कि यह सदन महत्वपूर्ण मामलों पर षानदार वाद–विवाद करे और उन बिलों को पास करने में देरी उत्पन्न करे जो षीघ्रता से निचले सदन लोकसभा में जोष से पास कर दिए जाते हैं।'' यद्यपि राज्यसभा में प्रत्येक राज्य को बराबर का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है तथापि इसकी अनुमति के बिना संसद में राज्यों के प्रतिनिधित्व अथवा केन्द्र और राज्यों में षक्तियों के बंटवारें में कोई तब्दीली नहीं हो सकती हैं। यदि राश्ट्रीय हित में संसद राज्यसूची पर षान्ति काल में

4 कानून बनाना चाहे तो भी ऐसा राज्यसभा की अनुमति से ही किया जा सकता है। राज्यसभा – इस हेतु 2ध्3 बहुमत से एक प्रस्ताव पास करती है। जब राश्ट्रपति लोकसभा को भंग कर देते हैं तो राज्यसभा उस समय भी रहती है और राश्ट्रपति को अपनी संकटकालीन घोशणा की मंजूरी उससे लेनी पड़ती है। अतः राज्यसभा लोकसभा द्वारा जल्दी पास किए हुए विध् यको पर नियंत्रण लगाकर राज्य के हितों का संरक्षण करके और राश्ट्रपति को संकटकालीन घोशणाओं पर अंकुष लगाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकती है। इसके अतिरिक्त राज्यसभा में 12 सदस्य विषेश योग्यता के आधार पर राश्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। हमारी राज्यसभा में इस आधार पर स्व. महाकवि मैथिलीषरण गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर और स्व. सरदार पणिक्कर नियुक्त किए गए थे। जब लोकसभा राश्ट्रपति पर महाभियोग के समय आरोप लगाती है तो राज्यसभा उन आरोपों की जाँच करती है। उस समय राज्यसभा एक न्यायालय के रूप में कार्य करती है। राज्यसभा में बहस का स्तर लोकसभा से काफी ऊँचा रहता है । वहाँ पर प्रत्येक विधेयक पर षान्तिपूर्वक विचार होता है। अतः ऊपर लिखे हुए कारणों से राज्यसभा की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है।

टप्. संसद की षक्तियाँ और उनकी सीमाएँ

1. कानूनी षक्तियाँ– हमारे देष में कानूनी मामलों में संसद के पास राज्यसत्ता नहीं है। हमारे देष में संसद का साधारण तरीके से संविधान में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। संसद को केवल साधारण कानूनों को संषोधित करने, बनाने और रद्द करने का अधिकार है।

राज्य सूची पर भी कानून बनाने का अधिकार प्रायः नहीं हैं – यह अधिकार केवल राज्य विधानमण्डलों को ही दिया गया है, परन्तु यदि राज्यसभा दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर दें कि राज्यसूची का कोई विशय राश्ट्रीय महत्व का बन गया है तो संसद को कुछ समय के लिए उस विशय पर भी कानून बनाने का अधिकार होगा। यदि राश्ट्रपति संकटकालीन अवस्था की घोशणा कर दे तो भी संसद को राज्यसूची पर कानून बनाने का 'अधिकार हो जायेगा ।

जब संसद किसी बिल को पास कर देती है तो यह राश्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राश्ट्रपति या तो उस विधेयक पर हस्ताक्षर करके उसे अपनी स्वीकृति दे देता है या उस पर अपने निशेध अधिकार का प्रयोग करता है। इसका यह अभिप्राय है कि यदि राश्ट्रपति किसी विधेयक को पसन्द नहीं करता है तो वह उस विधेयक पर अपने हस्ताक्षर करने से इन्कार कर देता है और उस विधेयक को अपने तर्कों सहित संसद के पास पुनर्विचार के लिए भेज देता है। यदि संसद उस बिल को मौलिक रूप से या संषोधित रूप से दुबारा पास करती है तो राश्ट्रपति अपनी स्वीकृति देने से इन्कार नहीं कर सकता ।

2. वित्तीय मामलों पर नियन्त्रण संसद का वित्तीय मामलों पर भी बहुत नियन्त्रण है । प्रतिवर्श 31 मार्च से पूर्व वित्तमंत्री संसद के सामने बजट पेष करता है। इसमें गत वर्श की आय तथा खर्च के अतिरिक्त आगामी वर्श के खर्चे तथा आमदनी का अनुमान होता है। बजट के लिए संसद की स्वीकृति लेना परम आवष्यक है। भारत की संचित निधि. ज (बवदेवसपकंजमक निदक) से होने वाले खर्च में पार्लियामेंट कोई कटौती नहीं कर सकती है। इस खर्च के अतिरिक्त संसद की स्वीकृति के बिना सरकार द्वारा कुछ भी खर्च नहीं किया जा सकता और न ही नए टैक्स लगाए जा सकते हैं।

3. मंत्रिमण्डल पर नियन्त्रण – संसद का कार्यपालिका पर भी पूर्ण नियन्त्रण है । संविधान में कहा गया है कि मंत्रिपरिशद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी। लोकसभा मंत्रियों के विरूद्ध अविष्वास प्रस्ताव, कामरोको प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव ला सकती है, उनके वेतन में कटौती प्रस्ताव ला सकती है तथा मंत्रियों के हटा भी सकती है। संसद मंत्रियों से प्रष्न तथा पूरक प्रष्न भी पूछ सकती है।

4. संविधान में, कुछ विशय ऐसे रखे गये हैं, जिनके संषोधन के विशय में राज्यों के

विधानमण्डलों से स्वीकृति लेने की आवष्यकता नहीं है और उन विशयों में संसद के दोनों सदन कुल संख्या के बहुमत और उपस्थिति तथा मतदात देने वाले सदनों के दो तिहाई बहुमत से संषोधन कर सकते हैं।

संसद

5. राश्ट्रपति के चुनाव और महाभियोग में भाग लेने का अधिकार राश्ट्रपति तथा उपराश्ट्रपति के चुनाव में संसद भाग लेती है। उपराश्ट्रपति के चुनाव में केवल संसद ही भाग लेती है, परन्तु राश्ट्रपति के चुनाव में संसद के अतिरिक्त विधान सभाएँ भी भाग लेती हैं। संसद का एक सदन राश्ट्रपति पर आरोप लगा सकता है और दूसरा सदन उसकी जांच–पड़ताल कर सकता है।

6. उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के न्यायाधीषों तथा महानियन्त्रक लेखा परीक्षक (आडीटर जनरल) को भी संसद के विषेश बहुमत द्वारा हटाया जा सकता है। टप्ः संसद में कानून बनाने की प्रक्रिया

विधेयक दो प्रकार के होते हैं– धन विधेयक तथा साधारण विधेयक । दोनों के बनने की अलग–अलग विधियाँ हैं । पहले हम धन विधेयक के बारे मे विचार करते हैं ।

धन विधेयक अथवा बजट के पास करने की प्रक्रिया – यह पहले बताया जा चुका है कि धन विधेयक का सम्बन्ध किसी नए कर को लगाने, पुराने कर को हटाने और संषोधित करने से होता है। यदि भारत की संचित निधि या आकस्मिक नीधि में कुछ धन डालने या निकालने अथवा भारत सरकार के ऋण लेने या किसी आर्थिक भार में तब्दीली करने के सम्बन्ध में कोई नया नियम बनाया जाए, तो वह धन भी विधेयक कहलायेगा। इसके अतिरिक्त भारत की संचित नीधि से होने वाल खर्चे भी इसमें षामिल हैं। यदि प्रष्न उठे कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उसके सम्बन्ध में लोकसभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम समझा जायेगा ।

हमारे संविधान में यह स्पश्ट रूप से लिखा है कि धन विधेयक या बजट सबसे पहले लोकसभा के सामने रखा जाए। प्रतिवर्श नया वित्तीय वर्श आरम्भ होने से पहले अर्थात् पहली अप्रैल से पूर्व बजट वित्तमंत्री द्वारा तैयार किया जाता है और राश्ट्रपति की सिफारिषों के अनुसार पहले लोकसभा के सामने रखा जाता है। वित्तमंत्री बजट तैयार करने से पहले प्रत्येक विभाग में मंत्री से उस विभाग के सम्बन्ध में अनुमानों या प्राक्कलनों को मंगवाता है ! यदि वित्तमंत्री और किसी अन्य मंत्री में इन मांगों के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हो जाए तो यह मामला सारे मंत्रिमण्डल के सामने आता है और इस विशय में प्रधानमंत्री का निर्णय अन्तिम होता है।

बजट के दो भाग भारत में बजट या वार्शिक वित्त–विवरण लोकसभा के सामने दो भागों में पेष किया जाता है। इनमें एक तो रेलवे का बजट और दूसरा सामान्य बजट होता है। रेलवे बजट में केवल रेलों के आगामी वर्श की अनुमानित आमदनी और खर्चों का वर्णन रहता है। रेलवे का बजट लोकसभा में रेल मंत्री द्वारा पेष किया जाता है। सामान्य बजट में रेलों के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार के सब मंत्रालयों के आगामी वर्श के अनुमानित खचों और आमदनी षामिल होती है। सामान्य बजट लोकसभा में वित्तमंत्री द्वारा पेष किया जाता है। दोनों बजटों का स्वरूप और पास होने का तरीका एक ही प्रकार का है।

यद्यपि हमारे देष में बजट के बारे के प्रक्रिया इंग्लैण्ड से ली गई है परन्तु एक महत्वपूर्ण अन्तर अवष्य है इंग्लैण्ड में बजट के ऊपर सारे हाउस ऑफ कॉमन्स की एक समिति विचार करती है। उस समय वहाँ पर स्पीकर प्रधान पद धारण नहीं करता है, बल्कि सारे सदन की समिति का चेयरमैन ही अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठता है। हमारे देष में सारा

सदन एक समिति में रूप में बजट पर विचार करने के लिए नहीं बैठता है। बल्कि स्पीकर की अध्यक्षता में ही बजट पर सारे सदन में विचार होता है। सामान्य बजट के दो भाग होते हैं– 1. भारत की संचित निधि से होने वाला खर्च, जिसको भारित व्यय भी कहा जाता है। 2. अभारित व्यय अर्थात् साधारण खर्च द्य अब हम इन दोनों प्रकार के खर्चों का वर्णन नीचे देते हैं।

भारत की संचित निधि से होने वाले खर्च – निम्निलिखित खर्चे भारित व्यय

कहलाते हैं–

1. राश्ट्रपति के वेतन भत्ते तथा उसके पद से सम्बन्ध रखने वाले अन्य खर्चे ।

2. लोकसभा तथा राज्यसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते ।

3. उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के न्यायाधीषों तथा भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के वेतन भत्ते और पेंषन ।

4ऋण सम्बन्धी खर्चे 1.

5. ऐसे अन्य खर्चे जिनको संविधान अथवा संसद के किसी कानून द्वारा भारित व्यय में रख दिया गया हो, जैसे उच्चतम न्यायालय के संघटन का पूरा व्यय और रियासतों के राजाओं को दी जाने वाली निजी पेंषन ।

6. संघीय न्यायालय (फेडरल कोर्ट) के न्यायाधीषों की पेंषन (संघीय न्यायालय 1937 ई. से 1950 तक कार्य करता रहा । नये संविधान के लागू होने के बाद इसको सुप्रीम कोर्ट में बदल दिया गया)।

7. ऐसी अन्य राषि जो किसी न्यायालय के निर्णय या आदेष को लागू करने के लिए आवष्यक हो ।

भारित व्यय पर संसद के दोनों सदन बहस तो कर सकते हैं, परन्तु मतदान नहीं कर सकते । संविधान के संषोधन के बिना इन खर्चों में पार्लियामेंट किसी प्रकार की कोई कटौती नहीं कर सकती है।

अभारित व्यय – ऊपर लिखे हुए खर्चों के अतिरिक्त सरकार के षेश खर्चे अभारित व्यय कहलाते हैं। इसके सम्बन्ध में पार्लियामेंट की स्वीकृति की आवष्यकता है। उन्हें लोकसभा के सामने वित्तमंत्री अनुदान के लिए मांगों के के रूप में रख सकते हैं। बजट पर विचार वित्तमंत्री के भाशण से आरम्भ होता है। अपने बजट भाशण में वित्तमंत्री राश्ट्र की वित्तीय स्थिति और नीति का जिक करते हैं और पुराने टैक्सों में परिवर्तन या नए टैक्सों को लगाने का सुझाव रखते हैं।

बजट पर साधारण वाद विवाद – वित्तमंत्री के भाशण के बाद बजट के सिद्धान्तों पर लोकसभा में बहस होती है। इस हेतु प्रायः तीन–चार दिन निष्चित कर दिए जाते हैं। इस समय आमदनी और खर्चे की विस्तष्त बातों के सम्बन्ध में विचार नहीं होता है और न ही किसी प्रकार का कटौती प्रस्ताव ही पेष किया जा सकता है। इस समय विरोधी दल के सदस्यों को सरकार की वित्तीय नीति और षासन की आलोचना करने का भी अवसर मिल जाता है।.

मारिस जोन्स ने लिखा है कि ''यह ऐसा अवसर होता है जिस पर सदन अपने मन की बात खुलकर कह सकता है और इस अवसर पर सरकार को यह भी पता लग जाता है कि वित्तीय सुझावों के विभिन्न स्तरों पर सरकारी माँगों को किस प्रकार ग्रहण किया जाने वाला है।'' बाद में लोकसभा को यह अधिकार है कि अनुदान के लिए माँगों को स्वीकार कर दे या अस्वीकार कर दे या घंटा दे। लोकसभा के निजी सदस्यों को किसी नए खर्चे का प्रस्ताव करने या किसी खर्चे का बढ़ाने का अधिकार नहीं है। इसीलिए किस मद पर कितना

खर्च किया जाए इस पर कार्यपालिका का नियन्त्रण है। हमारी ये परम्पराएँ इंग्लैण्ड से मिलती जुलती हैं। वहाँ पर भी हाउस ऑफ कॉमन्स के किसी निजी सदस्य को किसी नई रकम का प्रस्ताव रखने या अन्य रकम को बढ़ाने का अधिकार नहीं है।

विनियोग विधेयक जब ये माँगें लोकसभा द्वारा स्वीकृ5 हो जाती हैं तो फिर संचित निधि पर भारित व्यय सहित अनुदानों के लिए ये माँगे (क्मउंदके वित ळतंदजे) एक विनियोग विधेयक के रूप में लोकसभा के सामने पेष की जाती हैं। इनमें संचित निधि पर भारित व्यय तथा अनुदान के लिए माँग स्पश्ट रूप से दिखाई जाती हैं और इसमें अब कोई ऐसा संषोधन नहीं किया जा सकता जिससे किसी अनुदान या भारित व्यय में कोई तब्दीली आ जाए। इसके पष्चात विनियोग विधेयक पास कर दिया जाता है। विनियोग विधेयक के पास होने के बिना संचित निधि से कुछ भी खर्च नहीं किया जा सकता ।

Notes

भारतीय शासन राजनीति

वित्तीय विधेयक इन माँगों के स्वीकार होने के बाद सरकार को लोगों पर टैक्स लगाने की आवष्यकता होती है। विषेश टैक्स लगाने, बढ़ाने या घटाने के सम्बन्ध में सरकारी प्रस्ताव लोकसभा के सामने वित्त विधेयक के रूप में रखे जाते हैं। इन करों के सुझावों को लोकसभा के सदस्य स्वीकार कर सकते हैं या अस्वीकार कर सकते हैं अथवा उनको घटा सकते हैं परन्तु उनको बढ़ा नहीं सकते। वे कोई नया टैक्स लगाने के लिए सुझाव भी नहीं. रख सकते हैं। इस विधेयक के पास होने के बाद सरकार को जनता पर नए टैक्स लगाने अथवा पुराने टैक्सों को हटाने या उनमें बजट के अनुसार किसी प्रकार का अन्य परिवर्तन करने का अधि ाकार मिल जाता है, परन्तु नए टैक्स राश्ट्रपति की स्वीकृति के बाद ही लगाए जाते हैं।

राज्यसभा में धन विधेयक जब विनियोग विधेयक और वित्तीय विधेयक लोकसभा द्वारा पास हो जाते हैं तो ये राज्यसभा के पास भेजे जाते हैं। राज्यसभा के पास भेजने से पूर्व इन पर लोकसभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर होते हैं। राज्यसभा में भी लोकसभा की तरह बजट पर विचार होता है। परन्तु धन विधेयक के बारे में वास्तविक षक्तियाँ लोकसभा के पास हैं। राज्यसभा को 14 दिन के अन्दर अपनी सिफारिषें सहित धन विधेयक लोकसभा के पास वापस भेजना पड़ता है। लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है कि राज्यसभा की उन सिफारिषों को मानें या न माने। यदि राज्यसभा किसी धन विधेयक को 14 दिन के अन्दर वापस नहीं करती है तो यह विधेयक दोनो सदनों द्वारा पास समझा जाता है।

राश्ट्रपति की अनुमति जब धन विधेयक (विनियोग विधेयक तथा वित्तीय विध यक) संसद के दोनों सदनों द्वारा पास हो जाते हैं तो ये राश्ट्रपति के पास अनुमति के लिए भेजे जाते हैं। राश्ट्रपति को धन विधेयकों के बारे में किसी प्रकार का निशेधाधिकार प्राप्त नहीं. है। अतः धन विधेयक पर उन्हें अपनी अनुमति देनी पड़ती है। राश्ट्रपति के हस्ताक्षरों के बाद, ये विध ोयक कानून बन जाते हैं। यदि बजट के पहली अप्रैल से पूर्व पास होने की आषा न हो तो सरकार के खर्चे चलाने के लिए पार्लियामेंट कुछ पेषगी रकम मंजूर कर देती है, इसको लेखानुदान कहा जाता है।

यदि बजट में प्रस्तावित करों से सरकार का काम न चले तो वह पार्लियामेंट से कुछ पूरक या अधिक अनुदान भी मंजूर करवा लेती है। इसके बाद आइये हम पार्लियामेंट में साध

रण विधेयकों को पास करने की प्रक्रिया समझें।

साधारण विधेयकों को पास करने की प्रक्रिया (च्तवबमकनतम व िच्ंेपदह

व्तकपदंतल ठपससे)

जो विधेयक धन विधेयक नहीं होते हैं, उनको प्रायः साधारण विधेयक कहा जाता है। साध ाारण विधेयकों को पास करने का तरीका धन विधेयकों से बिल्कुल भिन्न है। साधारण विध ोयक मंत्रियों अथवा संसद के निजी सदस्यों द्वारा संसद के किसी सदन में भी रखे जा

सकते हैं। साधारण विधेयकों के लिए यह आवष्यक नहीं कि वे पहले लोकसभा में ही रखे जायें।

विधेयक की तैयारी – यद्यपि साधारण या अवित्तीय विधेयक निजी सदस्यों द्वारा भी सदन में पेष किये जा सकते हैं, परन्तु अधिकतर बिल सरकारी सदस्यों अर्थात् मंत्रियों द्वारा ही पेष किये जाते हैं। जिस मंत्रालय को किसी प्रकार के कानून की आवष्यकता होती

1. वह पहले विषेशज्ञों की सहायता से उसे तैयार कराता है। बाद में उस बिल को मंत्रिपरिशद की बैठकों में अन्तिम रूप दिया जाता है। इसके बाद बिल पार्लियामेंट के किसी भी सदन में रखा जा सकता है। कुछ बिल ऐसे भी होते हैं जिनके सम्बन्ध में राश्ट्रपति की पूर्व आज्ञा की आवष्यकता होती है। जो प्रायः मिल जाती है।

बिल को पास होने के लिए निम्नलिखित अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है– पुर्नस्थापना तथा प्रथम वाचन जिस सदन में भी बिल को पेष करना होता है, उस सदन के सचिवालय में उस बिल की कापी पहले भेजनी पड़ती है। बिल को

षुरू करने से पहले एक महीने का नोटिस सदन के अध्यक्ष को देना पड़ता है। सदन के काम–काज को ध्यान मे रखकर अध्यक्ष एक तिथि निष्चित कर देता है। निष्चित तिथि को बिल का प्रस्तावक (पेष करने वाला सदस्य) अपनी सीट से उठकर बिल का षीर्शक पढ़ते हुए कहता है '' अध्यक्ष महोदय ! मुझे विधेयक की पुर्नस्थापना की आज्ञा दीजिए'' । .

इस पर अध्यक्ष सदन से यह कहता है– प्रस्ताव पेष हो चुका है। अनुमति दी जाए। सामान्यतः सदन अपनी आवाज से विधेयक की पुर्नस्थापना की स्वीकृति दे देता है। इसके बाद प्रस्तावक उठकर कहता है, "श्रीमान्! मैं विधेयक की पुर्नस्थापना करता हूँ। आमतौर पर किसी बिल की पुर्नस्थापना या उसका प्रथम वाचन एक ही चीज है। वास्तव में वे केवल औपचारिकता मात्र हैं। इस समय प्रायः वाद–विवाद नहीं होता है। ऐसी परम्परा अब भारत में बन गई है, परन्तु एक–दो बार यह परम्परा टूट भी चुकी है। उदाहरणस्वरूप, 23 नवम्बर, 1954 ई. को निवारक निरोध संषोधन अधिनियम का इस आधार पर विरोध किया गया कि यह संविधान के विरुद्ध है। गत वर्शों में कुछ विधेयको का इस आधार पर भी विरोध किया गया कि सदन को उन पर कानून बनाने का अधिकार नहीं है। ऐसी परिस्थिति में सदन का अध्यक्ष विधेयक के प्रस्तावक को और उस विधेयक के विरोध करने वाले सदस्य को विधेयक के सम्बन्ध में अपनी बात कहने का अवसर दे देता है। यदि सदन का कोई सदस्य किसी बिल के बारे में कोई वैधानिक आपत्ति उठाता है, तो सदन का अध्यक्ष पुर्नस्थापना के समय ही पूरे वाद–विवाद की आज्ञा दे सकता है। वाद–विवाद में भारत का महान्यायवादी भी भाग ले सकता है।

जब बिल की पुरःस्थापना हो चुकती है तो बिल को भारतीय गजट में छापा जाता है। सदन का अध्यक्ष बिल के प्रस्तावक की प्रार्थना पर उस बिल को भारतीय गजट में पुर्नस्थापना से पहले भी छपवा सकता है। ऐसी स्थिति में बिल की पुर्नस्थापना की आवष्यकता नहीं रहती है ।

विधेयक का दूसरा वाचन – ज्यों ही किसी बिल की पुर्नस्थापना पूरी हो चुकती है और उस बिल की कापियाँ सदन के सदस्यों में बाँट दी जाती हैं। उसका दूसरा वाचन षुरू हो जाता है। आमतौर पर किसी बिल की पुर्नस्थापना तथा दूसरे वाचन में दो दिन का अन्तर रहता है । परन्तु यदि सदन के अध्यक्ष की तसल्ली हो जाए कि विधेयक अत्यावष्यक है तो वह उस बिल के दूसरे वाचन की तुरन्त आज्ञा दे देता है। उस समय विधेयक का

स्वप्रगति की जाँच करें : 3. भारत की संचित निधि से होने वाले खर्च स्पश्ट करें?

4. भारतीय संसद में किसी बिल को पास हाहने के लिए कितनी अवस्थाओं से गुजरना

पड़ता है?

प्रस्तावक निम्नलिखित प्रस्तावों में से कोई भी एक प्रस्ताव रखता है–

विधेयक पर तुरन्त विचार किया जाए

विधेयक प्रवर समिति के पास भेजा जाए।

विधेयक पर जनमत जानने के लिए उसे प्रसारित किया जाए।

सदन के सदस्य प्रस्तावक की इच्छा के विरुद्ध ऊपर लिखे हुए तीन प्रस्तावों के अतिरिक्त कोई अन्य प्रस्ताव भी पेष कर सकते हैं। उदाहरणस्वरूप यदि बिल का प्रस्तावक बिल पर तुरन्त विचार करने का प्रस्ताव रख सकता है। यदि सदन द्वारा यह तय हो जाए कि बिल

को जनमत के लिए प्रसारित किया जाए तो सदन का सचिवालय राज्य सरकारों से उस बिल को राज्यों के गजट में छापने और उस बिल पर निष्चित तिथि तक सार्वजनिक संस्थाओं, स्थानीय संस्थाओं और अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों के विचार लेने के लिए कहता है । जब महत्वपूर्ण लोगों और संस्थाओं की सम्मतियाँ इस तरह सदन के पास आ जाती हैं तो वे सम्मितियाँ संक्षिप्त रूप में सदन में प्रसारित कर दी जाती हैं। इसके बाद बिल का प्रस्तावक सदन में यह प्रस्ताव रखता है कि बिल को विचारार्थ किसी प्रवर समिति या किसी संयुक्त प्रवर समिति के पास भेजा जाये। इस प्रस्ताव के बाद बिल पर वाद विवाद होता है। इस अवस्था में केवल बिल के सिद्धान्तों पर वाद विवाद होता है और उसकी प्रत्येक धारा पर सूक्ष्म रूप से वाद विवाद नहीं होता। इस अवस्था में संषोधन नहीं किये जा सकते।

समिति स्तर – यदि सदन के विधेयक को प्रवर समिति में भेजने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है तो एक समिति विधेयक पर विचार हेतु नियुक्त की जाती है। समिति के सदस्यों के नाम प्रस्ताव में ही निष्चित कर दिए जाते हैं और समिति की रिपोर्ट के लिए भी तारीख निर्धारित कर दी जाती है। इस समिति में बिल का प्रस्तावक अवष्य होता है। प्रवर समिति का चेयरमैन सदन के अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किया जाता है और वह प्रायः बहुमत दल का सदस्य होता है। यदि सदन का उपाध्यक्ष किसी प्रवर समिति में होता है तो वही प्रवर समिति के चेयरमैन के रूप में कार्य करता है और उस समय सदन के अध्यक्ष को प्रवर समिति के चेयरमैन को नियुक्त करने की आवष्यकता नहीं रहती है। प्रवर समिति के सदस्यों की संख्या 20 और 30 के बीच में रहती है, परन्तु कभी कभी यह 35 तक भी पहुँच जाती है। प्रवर समिति की बैठकों के लिए कम से कम 1 ६ 3 सदस्यों की उपस्थिति आवष्यक है ।

प्रवर समिति विधेयक के सिद्धान्तों का ध्यान रखते हुए बिल में कोई उपयोगी संषोध न कर सकती है। (विधेयक के सिद्धान्त चूंकि सदन द्वारा पहले ही तय किये जा चुके होते हैं, इसलिए समिति उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकती है)। प्रवर समिति विध यक पर बहुत सूक्ष्म रीति से विचार करती है। प्रवर समिति बिल के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए किसी की गवाही सुन सकती है और विषेशज्ञों की सम्मति भी ले सकती है। जब प्रवर समिति बिल की प्रत्येक धारा पर विचार कर चुकती है तो यह अपनी रिपोर्ट सदन में पेष करती है। रिपोर्ट पर चेयरमैन के हस्ताक्षर होते हैं।

प्रतिवेदन स्तर

प्रवर समिति की रिपोर्ट इसके चेयरमैन तथा उसकी अनुपस्थिति में प्रवर समिति के किसी अन्य सदस्य द्वारा सदन में पेष की जाती है। इसके बाद प्रवर समिति की रिपोर्ट तथा संषोधि ात बिल छाप दिया जाता है और इसकी कापियाँ सदन के सभी सदस्यों को दे दी जाती हैं। इसके पष्चात बिल का प्रस्तावक निम्न प्रस्ताव रख सकता हैः

1. प्रवर समिति द्वारा रिपोर्ट किये हुए बिल पर विचार किया जाय, अथवा 2. प्रवर समिति द्वारा रिपोर्ट किए हुए बिल को प्रवर समिति के पास सदन के अनुदेषों सहित या

उनके बिना विचार के लिए दुबारा भेजा जाय, अथवा 3. समिति द्वारा रिपोर्ट किए हुए बिल को जनमत के लिए पुनः प्रसारित किया जाए ।

यदि सदन बिल पर उसी रूप में विचार करना स्वीकार कर लेता है जिस तरह वह प्रवर समिति द्वारा संषोधित रूप में पेष किया गया है तो फिर उसकी प्रत्येक धारा पर बहुत सूक्ष्म रूप में विचार होता है। सदन के सदस्य अपना कोई नया सुझाव भी दे सकते हैं। इस अवस्था में बहुत गरमागरम बहस होती है। .

.

बिल की यह अवस्था सबसे महत्वपूर्ण है, इसके बाद बिल की प्रत्येक धारा पर मतदान लिया जाता है। जब बिल इस तरह पास हो जाता है तो कुछ समय बाद उसका तीसरा वाचन होता है ।

बिल का तीसरा वाचन यह विधेयक की किसी सदन में अन्तिम अवस्था होती है। इस समय विधेयक की प्रत्येक धारा पर बहस तथा मतदान नहीं होता है। इस अवस्था में विधेयक के सामान्य सिद्धान्तों पर केवल बहस होती है और भाशा की अषुद्धियों को दूर करने के लिए कुछ संषोधन रखे जा सकते हैं। इसके पष्चात् सारे विधेयक पर मतदान होता है। इस अवस्था में या तो सारा विधेयकं अस्वीकार किया जा सकता है या स्वीकार किया जाता है । परन्तु ऐसी परम्पराएँ या प्रथाएँ स्थापित हो गई हैं कि इस अवस्था में विधेयक प्रायः अस्वीकार नहीं किए जाते ।

दूसरे सदन में बिल सदन में भेजा जाता है।

जब विधेयक एक सदन में पारित हो जाता है तो यह दूसरे विधेयक को वहाँ पर भी इन्हीं सब अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। जब दूसरा सदन भी इस विधेयक को पास कर देता है तो यह राश्ट्रपति की स्वीकृति ''के लिए भेजा जाता है।

यदि किसी विधेयक को एक संदन ने पास कर दिया और दूसरा सदन इस विधेयक को अस्वीकार कर देता है या दूसरा सदन ऐसे संषोधन पेष करता है। जिनसे पहला सदन सहमत नहीं है अथवा दूसरा सदन छः मांस तक इसे पास नहीं करता है तो उस समय दोनो सदनों में गतिरोध या असहयोग उत्पन्न हो जाता है।

चूँकि संविधान में कहा गया है कि साधारण विधेयकों के बारे में दोनों सदनों की षक्तियां बराबर हैं और कोई बिल तब तककानून नहीं बन सकता, जब तक यह दोनों सदनों द्वारा पास न हो जाएं। अतः राश्ट्रपति दोनों सदनो के गतिरोध को दूर करने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाता है। उस समय लोकसभा का अध्यक्ष दोनो सदनों की संयुक्त बैठक का सभापतित्व करता है। जब कोई विधेयक ऐसे संषोधनों सहित जिनको संयुक्त बैठक में स्वीकार कर लिया गया हो, दोनों सदनों के उपस्थित तथा मत देने वाले समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित हो जाता है तो वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास किया हुआ समझा जाता है।

राश्ट्रपति की अनुमति – जब कोई बिल दोनों सदनों द्वारा पास हो जाता है तो उस पर राश्ट्रपति की अनुमति लेना परमावष्यक है वरना कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता है। जब कोई विधेयक राश्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जाता है तो राश्ट्रपति या तो अपनी अनुमति दे देते हैं अथवा वे अपने संषोधन सहित विधेयक को ससंद के पास पुनर्विचार के लिए भेज देते हैं। राश्ट्रपति अपनी अनुमति देते हैं तो वह विधेयक कानून बन जाता है। यदि राश्ट्रपति विधेयक को संसद को पुनर्विचार के लिए भेज देते हैं और संसद उसको अपने बहुमत से दुबारा पास कर देती है तो राश्ट्रपति को उस विधेयक पर अपनी अनुमति देनी पड़ेगी। राश्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के बाद यह विधेयक कानून बन जाता है। इसके पष्चात उस विधेयक को सरकारी गजट में प्रकाषित कर दिया जाता हैं।

सारांष – जब कोई बिल दोनों सदनों द्वारा पास हो जाता है तो उस पर राश्ट्रपति की अनुमति लेना परमावष्यक है वरना कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता है। जब कोई विध ोयक राश्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जाता है तो राश्ट्रपति या तो अपनी अनुमति दे देते हैं अथवा वे अपने संषोधन सहित विधेयक को ससंद के पास पुनर्विचार के लिए भेज देते हैं। राश्ट्रपति अपनी अनुमति देते हैं तो वह विधेयक कानून बन जाता है। यदि राश्ट्रपति वि यक को संसद को पुनर्विचार के लिए भेज देते हैं और संसद उसको अपने बहुमत से दुबारा पास कर देती है तो राश्ट्रपति को उस विधेयक पर अपनी अनुमति देनी पड़ेगी । राश्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के बाद यह विधेयक कानून बन जाता है। इसके पष्चात उस विधेयक को सरकारी गजट में प्रकाषित कर दिया जाता है।

स्व प्रगति की जाँच के उत्तर – अवधि (कार्यकाल) – लोकसभा की अवधि अथवा कार्यकाल पाँच वर्ष का है। इसका यह अर्थ हैं कि प्रत्येक पाँच वर्श के पष्चात लोकसभा के चुनाव होंगे । पाँच वर्श पूर्व भी राश्ट्रपति प्रधानमन्त्री की प्रार्थना पर लोकसभा को भंग कर सकता है। प्रधानमंत्री ऐसी प्रार्थना उस समय करता है, जबकि लोकसभा उसके विरुद्ध अविष्वास प्रस्ताव पास कर दे, परन्तु सारे देष का जनमत उसके साथ हो। उस समय इस बात को जाँचने के लिए कि प्रधानमंत्री के साथ सारा देष है, या नही राश्ट्रपति लोकसभा को भंग करके सारे देष में नये चुनाव करवा सकता है। संकटकालीन अवस्था की घोशणा के समय संसद अपना कार्यकाल एक बार में एक वर्श तक बढ़ा सकती है। और उस घोशणा के समाप्त होने के बाद अपना समय 6 माह से अधिक नहीं बढ़ा सकती जब ऐसी संकटकालीन घोशणा जारी है, तो संसद अपना कुल कार्यकाल 3 वर्श तक बढ़ा सकती है।

लोकसभा के सदस्यों के विषेश अधिकार हमारी लोकसभा के सदस्यों को कुछ विषेश अधिकार प्राप्त हैं। उदाहरणस्वरूप उन्हें लोकसभा में अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता है और सरकार की आलोचना के कारण उनके विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती है। लोकसभा के अधिवेषन के दिनों में और उसके चालीस दिन पहले तथा चालीस दिन बाद में किसी दीवानी अभियोग के बारे में उनको गिरफ्तार नहीं किया जा सकता है। लोकसभा का अध्यक्ष सदस्यों के विषेश अधिकारों की रक्षा करता है।

भारत की संचित निधि से होने वाले खर्च – निम्निलिखित खर्चे भारित व्यय कहलाते हैं–

1. राश्ट्रपति के वेतन भत्ते तथा उसके पद से सम्बन्ध रखने वाले अन्य खर्चे ।

2. लोकसभा तथा राज्यसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते !

3. उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के न्यायाधीषों तथा भारत के नियन्त्रक महालेखा

परीक्षक के वेतन भत्ते और पेंषन ।

4. ऋण सम्बन्धी खर्चे ।

ऐसे अन्य खर्चे जिनको संविधान अथवा संसद के किसी कानून द्वारा भारित व्यय में रख दिया गया हो, जैसे उच्चतम न्यायालय के संघटन का पूरा व्यय और रियासतों के राजाओं को दी जाने वाली निजी पेंषन ।

6. संघीय न्यायालय (फेडरल कोर्ट) के न्यायाधीषों की पेंषन (संघीय न्यायालय 1937 ई. से 1950 तक कार्य करता रहा । नये संविधान के लागू होने के बाद इसको सुप्रीम कोर्ट में बदल दिया गया) !

7. ऐसी अन्य राषि जो किसी न्यायालय के निर्णय या आदेष को लागू करने के लिए

आवष्यक हो ।

भारित व्यय पर संसद के दोनों सदन बहस तो कर सकते हैं, परन्तु मतदान नहीं कर सकते । संविधान के संषोधन के बिना इन खर्चों में पार्लियामेंट किसी प्रकार की कोई कटौती नहीं कर सकती है।

4. बिल पास होने के लिए पुनर्स्थापना तथा प्रथम वाचन से गुजरना पड़ता है है। इसके बाद विधेयक का दूसरा वाचन षुरू होता है। पुनः समिति स्तर स्तर पर भी विधेयक में उपयोगी संषोधन होता है इसके बाद प्रतिवेदन स्तर पर भी विधेयक पर गरमागरम बहस होती है। पुनः विधेयक का तीसरा वाचन षुरू होता है। इस तरह दोनों सदनों से पारित विध यक सर्वसम्मत पारित विधेयक समझा जाता है जिसे राश्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करके कानूनी षक्ल दी जाती है और सरकारी गजट में प्रकाषित कर दिया जाता है।

अभ्यास–प्रष्न

1. धनविधेयकों के बारे में लोकसभा के अधिकारों की तुलना राज्यसभा के अधिकारों से कीजिए ।

2. एक साधारण बिल को कानून बनने के लिए किन–किन अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है ?

3. भारतीय संसद की बनावट, षक्तियों और कार्यों का वर्णन कीजिए ।

4. लोकसभा के अध्यक्ष की नियुक्ति, कार्य और स्थिति का वर्णन कीजिए ।

संघीय कार्यपालिका : मन्त्रिपरिशद और

प्रधानमन्त्री

इस अध्याय के अंतर्गत : परिचय

संसदात्मक षासन की विषेशताएँ

मन्त्रिपरिशद का गठन

मंत्रिपरिशद और मंत्रिमंडल (कैबिनेट)

मंत्रिमण्डल की षक्तियाँ और कार्य

प्रधानमंत्री, प्रधानमंत्री का चयन व नियुक्ति

प्रधानमंत्री की षक्तियाँ और विविधरूपों में उसकी भूमिका

प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिशद

प्रधानमंत्री और संसद

प्रधानमंत्री और राश्ट्रपति

प्रधानमंत्री और राज्य सरकारें

प्रधानमंत्री और उसकी कृपा की षक्तियाँ

प्रधानमंत्री : देष का सर्वोच्च नेता और साषक प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति

अध्ययन के उद्देष्य

इस अध्याय के अध्ययन के पष्चात आप

: संसदीय षासन की विषेशताएँ समझ सकेंगे।

मंत्रिपरिशद और मंत्रिमण्डल का अन्तर समझ सकेंगे।

: मंत्रिमण्डल की षक्तियाँ और कार्य समझ सकेंगे ।–

: प्रधानमंत्री की षक्तियाँ और विविध रूपों में उनकी भूमिका समझ सकेंगे ।

प्रधानमंत्री की भूमिका संसद के साथ, राश्ट्रपति के साथ, राज्य सरकारों के साथ समझ सकेंगे।

समझ सकेंग कि प्रधानमंत्री की कृपा की षक्तियाँ क्या होती हैं?

: प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिशद का सम्बन्ध स्पश्ट कर सकेंगे।

जान सकेंगे कि प्रधानमंत्री देष का सर्वोच्च नेता है और वह वास्तविक षासन है।

आम चुनाव एक तरह से प्रधानमंत्री का होता है।

: मंत्रिमण्डल तथा संसद के सम्बन्धों की व्याख्या कर सकेंगे।

परिचय

सैद्धान्तिक रूप में भारतीय संविधान द्वारा समस्त कार्यपालिका – षक्ति राश्ट्रपति में निहित मानी गयी हैं, लेकिन राश्ट्रपति एक संवैधानिक षासक मात्र है। इसलिए वास्तविक रूप में कार्यपालिका की यह समस्त षक्ति मन्त्रिपरिशद में निहित है। राश्ट्रपति के नाम पर मन्त्रिपरिशद ही षासन की समस्त षक्तियों का उपयोग करती है। संविधान के अनुच्छेद 74 में उल्लेख है कि ''राश्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता एवं परामर्ष देने के लिए मन्त्रिपरिशद होगी, जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा ।''

संसदात्मक षासन या मन्त्रिमण्डलात्मक षासन की विषेशताएँ

मन्त्रिमण्डलात्मक षासक व्यवस्था के कार्य करने के कुछ सर्वमान्य सिद्धान्त हैं, जिनका पालन भारतीय षासक व्यवस्था में भी किया गया है। इन सिद्धान्तों का उल्लेख निम्नलिखित बिन्दुओं में किया जा सकता है :

1. एक नाममात्र के कार्यपालिका – प्रधान की व्यवस्था !
2. व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में अभिन्न सम्बन्ध ।
3. मन्त्रिपरिशद की राजनीतिक एकता !
4. मन्त्रिपरिशद का संसद के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व द्य
5. समस्त षासन– व्यवस्था पर प्रधानमन्त्री का नेतृत्व ।
6. मन्त्रिमण्डल के कार्य की गोपनीयता ।

मन्त्रिपरिशद का गठन

भारतीय संविधान में प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिशद की नियुक्ति तथा स्थिति के सम्बन्ध में बहुत कम उल्लेख किया गया है और अधिकांष में इस प्रकार की व्यवस्था परम्पराओं पर छोड़ दी गयी है । मन्त्रिपरिशद में एक प्रधानमन्त्री तथा विभिन्न श्रेणियों के मन्त्री होंगे। मूल संविधान द्वारा मन्त्रियों की संख्या निष्चित नहीं की गई थी, लेकिन अब 91वें संवैधानिक संषोधन (2003 ई.) के आधार पर व्यवस्था की गई है कि प्रधानमन्त्री सहित मन्त्रिपरिशद के सदस्यों की संख्या लोकसभा की कुल सदस्य संख्या के 15 प्रतिषत से अधिक नहीं हो सकती। संविधान के अनुच्छेद 75 के विभिन्न भागों में मन्त्रिपरिशद की रचना के सम्बन्ध में केवल निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया गया है :

1. प्रधानमन्त्री की सलाह से राश्ट्रपति अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करेगा ।
2. मन्त्रिगण राश्ट्रपति के प्रसाद – पर्यन्त अपने पद पर बने रहेंगे !
3. मन्त्रिपरिशद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी ।

4. प्रत्येक मन्त्री को अपने पद धारण करने के पूर्व राश्ट्रपति के सामने अपने पद और गोपनीयता की षपथ लेनी होगी ।

5. यदि कोई मन्त्री अपना पद धारण करने के 6 माह बाद तक संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं बन सका तो उसे मंन्त्रिपरिशद से त्याग पत्र देना होगा।

6. मंन्त्रियों को वे सब वेतन और भत्ते प्राप्त होंगे, जो समय समय पर संसद विधि द्वारा निर्धारित करे।

मन्त्रिपरिशद के गठन के सम्बन्ध में केवल ये ही कुछ औपचारिक व्यवस्थाएँ हैं और

इन औपचारिक व्यवस्थाओं से यह पता नहीं चलता कि वास्तव में मन्त्रिपरिशद का गठन किंस प्रकार होता है। व्यवहार में मंन्त्रिपरिशद का गठन एक बहुत अधिक कठिन तथा जटिल प्रकिया है, जिसमें अनेक बातों को ध्यान में रखना होता है । मन्त्रियों को चुनते समय षासक दल में विभिन्न सदस्यों की स्थिति, राश्ट्र के विभिन्न समुदायों तथा भौगोलिक क्षेत्रों को प्रतिनिधित्व, संसद के दोनों सदनों को उचित प्रतिनिधित्व व विभिन्न अवस्था वाले विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने पर विचार करना होता है।

मन्त्रिपरिशद और मन्त्रिमण्डल (कैबिनेट)

साधरणतया लोग मन्त्रिपरिशद तथा मन्त्रिमण्डल को एक ही संस्था मान लेते हैं. लेकिन इन दोनों में काफी अन्तर है । मन्त्रिपरिशद में राजनीतिक कार्यपालिका के सभी सदस्य (सामान्यतया 50 से लेकर 75 तक) होते हैं और इस कारण यह एक बड़ी संस्था है। इस मन्त्रिपरिशद में पाँच स्तर के सदस्य होते हैं, जिनमें से केवल प्रथम स्तर के सदस्यों को ही सामूहिक रूप से कैबिनेट कहा जाता है । मन्त्रिपरिशद में निम्नलिखित प्रकार से पाँच स्तर के सदस्य होते हैं:

प्रथम, मन्त्रिपरिशद के प्रथम स्तर के सदस्य मन्त्री कहलाते हैं और ये मन्त्रिमण्डल अर्थात् कैबिनेट के सदस्य होते हैं। भारत में इनकी संख्या विविध समयों में 12 से 32 तक रही है । सधारणतया ये मन्त्री किसी न किसी प्रमुख विभाग के अध्यक्ष होते हैं।

द्वितीय, कुछ ऐसे मंत्री होते हैं जो मन्त्रिमण्डलीय स्तर के मन्त्री होते हुए भी कैबिनेट के सदस्य नहीं होते हैं। वे मन्त्री भी विभागों के अध्यक्ष होते हैं और उन्हें मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के समान वेतन मिलता है, किन्तु मन्त्रिमण्डल की बैठकों में इनके द्वारा अधिकार के रूप में नहीं, वरन् प्रधानमन्त्री द्वारा आमन्त्रित किये जाने पर ही भाग लिया जाता है।

तष्तीय श्रेणी में राज्यमन्त्री आते हैं जिनकी स्थिति पूर्व मन्त्री तथा उपमन्त्री के बीच की होती हैं। ये विषेश महत्वपूर्ण विभाग से सम्बद्ध रहते हैं और कभी कभी इनके द्वारा विभाग के स्वतन्त्र प्रभारी के रूप में भी कार्य किया जाता है। प्रधानमन्त्री द्वारा इस श्रेणी के मंत्रियों को मन्त्रिमण्डल की उन बैठकों में आमन्त्रित किया जा सकता है, जिनमें उनके विभाग से सम्बन्धित प्रष्न मन्त्रिमण्डल के विचाराधीन होते हैं।

चौथे, राज्यमन्त्रियों के बाद उपमन्त्रियों की श्रेणी आती है जो ज्येश्ठ मन्त्री के अध् न रहते हुए उस मन्त्री की सहायता करते हैं ।

पाँचवे, उपमन्त्रियों से नीचे के स्तर में संसदीय सचिव होते हैं। वे विभागीय मन्त्रियों को प्रषासनिक तथा विषेश रूप से संसदीय कार्यों के सम्बन्ध में सहायता पहुंचाते हैं।

उपर्युक्त पाँचों श्रेणियों के मन्त्रियों को सामूहिक रूप से ‘मन्त्रिपरिशद के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार मन्त्रिपरिशद एक वष्हत् संस्था है जिसमें सभी श्रेणियाँ के मन्त्री

सम्मिलित रहते हैं, लेकिन मन्त्रिमण्डल (कैबिनेट) मन्त्रिपरिशद के अन्तर्गत एक छोटासा समूह होता है जिसमें सिर्फ प्रथम श्रेणी के मन्त्री होते हैं, जो विभागों के प्रधान होते हैं और जिनके द्वारा सामूहिक रूप से सम्पूर्ण प्रषासनिक नीति का निर्धारण किया जाता है। रेम्जे म्योर ने मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में कहा है कि ''यह मन्त्रिपरिशद का हृदय है, षासन का परिचालन यन्त्र है जिसमें सभी महत्वपूर्ण विभागों के राजनीतिक अधिकारी सम्मिलित रहते हैं।'' इस प्रकार मन्त्रिमण्डल का प्रत्येक सदस्य मन्त्रिपरिशद का सदस्य होता है, लेकिन मन्त्रिमण्डल एक ऐसी संगठित इकाई है जिसके सदस्य मन्त्रिमण्डल के केवल कुछ ही लोग होते हैं। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल या कैबिनेट मन्त्रिपरिशद का भीतरी चक्र हैं, यह

1 मन्त्रिपरिशद की सबसे अधिक महत्वपूर्ण आन्तरिक समिति के रूप में होता है । – मन्त्रिमण्डल की षक्तियाँ और कार्य

''– मन्त्रिमण्डल को ब्रिटिष षासन–पद्धति की भाँति भारतीय षासन–प्रणाली का हृदय कहा जा सकता है। ब्रिटिष मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में कथित विविध उक्तियाँ भारतीय मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में भी लागू होती हैं। लावेल मन्त्रिमण्डल को 'राजनीतिक वृत्तखण्ड के मेहराव के बीच का पत्थर कहता है और सर जॉन मेरियट का कहना है कि ''मंन्त्रिमण्डल वह धुरी है, जिस पर प्रषासन चक्र घूमता रहता है।'' रेम्जे म्योर के षब्दों

मन्त्रिमण्डल राज्य के जहाज का परिचालक यन्त्र है ।'' ग्लैडस्टन का कहना है कि ''मन्त्रिमण्डल वह सूर्य पिण्ड है जिसके चारों ओर अन्य पिण्ड घूमते हैं।'' मन्त्रिमण्डल के 'लिए लगभग इसी प्रकार की षब्दावलियों का प्रयोग बार्कर, बैजहांट, एमरी और सर आइवर जेनिंग्ज जैसे लेखकों के द्वारा भी किया गया है। भारतीय मन्त्रिमण्डल के प्रमुख कार्य निम्ननिखित हैं :

(1) राश्ट्रीय नीति निर्धारित करना

प्रधानमंत्री का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य राश्ट्रीय नीति निर्धारित करना है। वह यह निष्चय करता है कि आन्तरिक क्षेत्र में प्रषासन के विभिन्न विभागों के द्वारा और वैदेषिक क्षेत्र में दूसरे देषों के साथ सम्बन्ध के विशय में किस प्रकार की नीति अपनायी जायेगी । मन्त्रिमण्डल के द्वारा नीति निर्धारित कर चुकने के बाद सम्बद्ध विभागों के द्वारा इस नीति के आधार पर विभिन्न विधेयक संसद में प्रस्तुत किये जाते हैं। इस प्रकार कानून निर्माण का कार्य बहुत कुछ सीमा तक मन्त्रिमण्डल की इच्छानुसार ही होता है। प्रषासनिक नियमों का निर्माण भी कैबिनेट ही करती है। ऑग का यह कथन भारतीय मन्त्रिमण्डल पर लागू होता हैं कि ''कैबिनेट के मन्त्री लोग नीति नि रित करते हैं, विनिष्चय करते हैं और प्रत्येक ऐसे आवष्यक विशय पर विधेयकों का प्रारूप तैयार करते हैं, जिन्हें वे विधि रूप में पास कराना चाहते हैं।''

इस प्रकार उपर्युक्त षक्ति के आधार पर कैबिनेट व्यवस्थापन पर भी नियन्त्रण रखती

(2) राश्ट्रीय कार्यपालिका पर सर्वोच्च नियन्त्रणं – सैद्धान्तिक दृश्टि से संघ सरकार की समस्त कार्यपालिका षक्ति राश्ट्रपति के हाथों में है, लेकिन व्यवहार में इस प्रकार की समस्त कार्यपालिका – षक्ति का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के द्वारा ही किया जाता है। मन्त्रिमण्डल में विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते हैं। वे अपने विभागों का संचालन करते हैं और उनके कार्यों की देखभाल करते हैं।

मन्त्रिमण्डल ही सरकार की नीति को कार्यान्वित करने के उद्देष्य से विभिन्न विभागों को एक सूत्र में बाँधता है। व्यवहारतः राश्ट्रपति के अधिकारों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल ही करता है, इसलिए युद्ध, षान्ति या वैदेषिक नीति से सम्बन्धित प्रष्नों का निर्णय वही करता है। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल देष की सर्वोच्च कार्यपालिका तथा राश्ट्रीय नीति का निर्देषक होता है। अध्यादेष तथा प्रदत्त व्यवस्थापन के कारण मन्त्रिमण्डल के अधिकार और भी बढ़ गये हैं। अध्यादेष जारी करने का अधिकार राश्ट्रपति को प्राप्त है, लेकिन व्यवहार में इसका प्रयोगः मन्त्रिमण्डल ही करता है ।

(3) मंन्त्रिमण्डल का समन्वयकारी कार्य – प्रषासनिक सुविधा के लिए सरकार के विभिन्न विभागों में विभाजित होने पर भी सरकार में एक प्रकार की आंगिक एकता पायी जाती है और सुषासन के लिए प्रषासन के विभिन्न विभागों में समन्वय नितान्त आवष्यक होता हैं। विभिन्न विभागों में इस प्रकार का समन्वय स्थापित करने का कार्य मन्त्रिमण्डल के

'स्वप्रगति की जाँच करें :

1. क्या भारतीय प्रधानमंत्री ही . षासन प्रणाली के अन्तर्गत

राश्ट्रीय नीति निर्धारक है?

2. क्या आप समझते है कि प्रधानमंत्री का कैबिनेट ही देष के वैदेषिक सम्बन्धों पर निमंत्रण रखता है?

ै द्वारा ही किया जाता है । मन्त्रिमण्डल समस्त विभागों में नीति सम्बन्धी समन्वय स्थापित ध् करता है और इस बात का प्रयत्न करता है कि मन्त्रिमण्डल के समस्त विभागों में नीति व अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी विवाद उत्पन्न न हों तथा उनके द्वारा परस्पर सहयोग किया जाये। विभिन्न विभागों के कार्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए ही वर्तमान समय में मन्त्रिमण्डल . समितियों की स्थापना की गयी है ।

(4) वित्तीय कार्य

देष की आर्थिक नीति निर्धारित करने का उत्तरदायित्व भी मन्त्रिपरिशद का ही होता है। इस हेतु उसके द्वारा प्रत्येक वर्श संसद के सामने देष के सम्भावित आय – व्यय का ब्यौरा (बजट) प्रस्तुत किया जाता है। बजट मन्त्रिपरिशद द्वारा निघ रित नीति के आधार पर वित्तमन्त्री तैयार करता है और वही उसे लोकसभा में प्रस्तुत करता है। अन्य वित्त विधेयकों को भी मन्त्रिपरिशद ही लोकसभा में प्रस्तुत करता है।

(5) वैदेषिक सम्बन्धों पर नियन्त्रण – कैबिनेट के द्वारा ही देष के वैदेषिक सम्बन्धों पर नियन्त्रण रखा जाता है। विदेषी राज्यों के अध्यक्षों या सरकारों के साथ समस्त वार्ताओं का संचालन प्रधानमन्त्री या विदेषमन्त्री या प्रधानमन्त्री के किसी अन्य प्रतिनिधि द्वारा. किया जाता है और जब इस वार्ता के परिणामस्वरूप कोई सन्धि या समझौता हो जाता है तो संसद को उसके सम्बन्ध में सूचना दे दी जाती है और संसद से उसकी स्वीकृति प्राप्त कर ली जाती है । वैदेषिक सम्बन्धों के संचालन में संसद की भूमिका बहुत ही गौण होती है, इसका प्रमाण यह है कि 1971 में सोवियत संघ के साथ मैत्री सन्धि से पूर्व लगभग 2 वर्शों से बातचीत चल रही थी, लेकिन संसद को इस सम्बन्ध में तभी सूचना मिली, जबकि अगस्त 1971 में सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। कई बार सरकार विदेषों के साथ गुप्त सन्धियाँ और समझौते करती है और संसद को इस सम्बन्ध में सूचना भी नहीं दी जाती । वैदेषिक सम्बन्ध

के संचालन में गुप्तता की आवष्यकता होती है और इसी कारण यह कार्य कैबिनेट के द्वारा ' ही किया जा सकता है, संसद के द्वारा नहीं ।

(6) नियुक्ति सम्बन्धी कार्य – संविधान के द्वारा राश्ट्रपति को जिन पदाधिकारियों को नियुक्त करने की षक्ति प्रदान की गयी है, व्यवहार में उन पदाधिकारियों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल द्वारा ही की जाती है । मन्त्रिमण्डल के परामर्ष से ही संसद के दोनों सदनों कें मनोनीत सदस्य नियुक्ति किये जाते हैं। राज्यों के राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय के न्यायाध तीष, उच्च न्यायालय के न्यायाधीष, महाधिवक्ता, महालेखा परीक्षक और सेना के सेनापतियों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल के परामर्ष से ही की जाती है ।

वास्तव में, मन्त्रिमण्डल बहुत अधिक षक्तिषाली होता है और देष की समस्त राजनीतिक तथा प्रषासनिक व्यवस्था पर उसका अधिकार होता है।

मन्त्रिमण्डल की बैठकें – मन्त्रिमण्डल की बैठकें प्रधानमन्त्री की इच्छानुसार होती हैं और प्रधानमन्त्री के द्वारा ही इन बैठकों का कार्यक्रम निष्चित किया जाता है। साधारणतः, मन्त्रिमण्डल की बैठक सप्ताह में एक बार होती है, लेकिन विषेश परिस्थिती में सप्ताह में एक बार से भी अधिक ऐसी बैठकें हो सकती हैं। इन बैठकों में सभापति का स्थान प्रधानमन्त्री द्वारा ग्रहण किया जाता है । बैठकों की समस्त कार्यवाही गुप्त रखी जाती है । मन्त्रिमण्डल की बैठकों में जो कुछ भी निर्णय लिए जाते हैं, वे मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य रूप से मान्य होते हैं और मन्त्रिमण्डल का कोई सदस्य त्यागपत्र देकर ही इन निर्णयों का विरोध कर सकता है।

प्रधानमन्त्री

ब्रिटिष संविधान में प्रधानमन्त्री का पद परम्परा पर आधारित है, लेकिन भारत में प्रधानमन्त्री पद को संविधान द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। किन्तु भारतीय संविधान में

प्रधानमन्त्री पद का संक्षेप में ही संविधान के अनुच्छेद 74, 75 तथा 78 में उल्लेख किया गया. है। अनुच्छेद 74 में कहा गया है कि राश्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता और परामर्ष देने के लिए एक मन्त्रिपरिशद होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा। अनुच्छेद 75 में कहा गया है कि ''प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राश्ट्रपति द्वारा होगी और वह प्रधानमन्त्री की सलाह से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करेगा। अन्त में अनुच्छेद 78 में राश्ट्रपति के साथ

☐ व्यवहार के विशय में प्रधानमन्त्री के तीन कर्तव्य बताये गये हैं। संविधान के ये संक्षिप्त प्रावध आन न तो प्रधानमन्त्री की नियुक्ति की पद्धति को स्पश्ट कर पाते हैं और न ही उस महत्वपूर्ण स्थिति को स्पश्ट कर पाते हैं जो देष की राजव्यवस्था में प्रधानमन्त्री को प्राप्त है। वास्तव में, प्रधानमन्त्री पद से सम्बन्धित समस्त अध्ययन सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार पर ही आधारित हो सकता है।

प्रधानमन्त्री का चयन व नियुक्ति

. प्रधानमन्त्री का चयन उस दल द्वारा किया जाता है जिसे लोकसभा में बहुमत प्राप्त हो और फिर उसकी नियुक्ति राश्ट्रपति द्वारा की जाती है। इस प्रकार उसका दल द्वारा चयन पहले होता है और उसकी नियुक्ति बाद में होती है 1946 में प्रधानमन्त्री पद के लिए दो दावेदार हो सकते थे– पं नेहरू और सरदार पटेल। इनमें महात्मा गांधी द्वारा पं नेहरू को प्रधानमन्त्री पद के लिए चुना गया। इस प्रकार पं० नेहरू ने प्रधानमन्त्री पदं महात्मा गांधी के आषीर्वाद से प्राप्त किया। लेकिन वे अपने ही अधिकार से इस पर बने रहे। 1950 में सरदार पटेल की मष्त्यु के बाद कांग्रेस दल में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जो पं० नेहरू की सत्ता को चुनौती दे सकता। अतः प्रथम, द्वितीय और तष्तीय आम चुनाव के बाद दल के द्वारा पं. नेहरू का दल के नेता के रूप में चयन और राश्ट्रपति द्वारा उनकी प्रधानमन्त्री के रूप में नियुक्ति मात्र एक औपचारिकता ही थी ।

1950 से लेकर आज तक प्रधानमंत्री के चयन और नियुक्ति के प्रसंग में चार प्रकार की स्थितियाँ रही हैं। ये निम्न प्रकार हैं :

1. स्वयं जनता द्वारा प्रधानमंत्री का चयन

जब किसी एक नेता के नाम पर

कोई राजनीतिक दल या दलीय गठबंधन लोकसभा में बहुमत प्राप्त करता है, चुनाव जीतता है, तब यह समझा जाता है कि स्वयं जनता ने प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर प्रधानमंत्री का चयन किया है। 1952, 57 और 62 में स्वयं जनता ने प्रधानमंत्री पद के लिए पं० नेहरू का चयन किया था। 1971 तथा 1980 में श्रीमती गाँधी और दिसम्बर '84' में राजीव गाँधी का इस पद के लिए चयन भी स्वयं जनता ने किया था। 1999 में प्रधानमंत्री के चयन में भी जनता ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

2. आम सहमति के आधार पर प्रधानमंत्री का चयन 1964 में षास्त्री जी. 1967 में श्रीमती गाँध ी, 1977 में मोरारजी देसाई, दिसम्बर 189 में वी. पी. सिंह, जून 191 में पी. वी. नरसिम्हा राव, मई '96 और अप्रैल '97 में क्रमषः देवगौड़ा और गुजराल ने आम सहमति के आधार पर प्रध ानमंत्री पद प्राप्त किया था ।

3. लोकसभा के बहुमत दल या बहुमत वाले गठबंधन में नेता पद के लिए चुनाव संघर्श और प्रधानमन्त्री का चयन 1966 में षास्त्रीजी के निधन के बाद कांग्रेस संसदीय दल ने श्रीमती गांधी और मोरारजी देसाई दो उम्मीदवारों में से श्रीमती गांधी को नेता चुना था ।

4. लोकसभा में दलीय स्थिति स्पश्ट न होने या आकस्मिक रूप से प्रधानमन्त्री का पद रिक्त हो जाने पर राश्ट्रपति द्वारा स्वविवेक के आधार पर 'प्रधानमंत्री का चयन 1979 में चरणसिंह और नवम्बर '90 में चन्द्रषेखर का प्रधानमंत्री पंद पर चयन राश्ट्रपति द्वारा स्वविवेक के आध ार पर ही किया गया। 1984 में श्रीमंती गाँध ी के देहावसान के बाद राजीव गाँधी का प्रध ानमंत्री पद के लिए चयन लगभग इसी श्रेणी में आता है। लोकसभा चुनाव के तुरन्त बाद अप्रैल '96 में वाजपेयी की प्रधानमंत्री पद पर नियुक्ति भी इसी श्रेणी में आती है।

प्रधानमंत्री का चयन (मार्च 1998) – बारहवीं लोकसभा का सबसे बड़ा दल भाजपा थी और भाजपा ही अपने सहयोगियों के साथ मिलकर सरकार बनाने की स्थिति में थी। भाजपा ने चुनाव के पूर्व ही वाजपेयी को अपना संसदीय नेता घोशित कर दिया था और भाजपा को प्राप्त सफलता में वाजपेयी का निष्चित योगदान है। इस दृश्टि से वाजपेयी को 'प्रधानमंत्री के पद के लिए जनता की पसन्द कहा जा सकता है, लेकिन यह स्थिति आंषिक रूप से ही सत्य है, क्योकि लोकसभा में भाजपा की स्थिति स्पश्ट बहुमत से बहुत दूर थी ।

प्रधानमंत्री का चयन (अक्टूबर 1999) राश्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन ने तेरहवीं लोकसभा का चुनाव श्री अटलबिहारी वाजपेयी के नेतष्त्व में लड़ा था। इस दृश्टि से 1999 में प्रथम प्रधानमंत्री के चयन जनता ने ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

प्रधानमंत्री का चयन (मई 2004 ई0) – चौदहवीं लोकसभा चुनाव के बाद प्रध नमंत्री का चयन विभिन्न स्थितियों से होकर गुजरा है। लोकसभा में एक दल के रूप में कांग्रेस और एक गठबन्धन के रूप में कांग्रेस–गठबन्धन के सदस्यों की संख्या सबसे अधि क थी तथा चुनाव परिणाम आने के लगभग तुरन्त बाद ही वामपन्थी गठबन्धन ने स्पश्ट कर दिया कि वह सरकार के गठन में कांग्रेस दल को समर्थन देगा। इस प्रकार कांग्रेस गठबन्ध न को लोकसभा में बहुमत प्राप्त हो गया। कांग्रेस द्वारा सोनिया गाँधी को सर्वसम्मति से अपना नेता चुने जाने के बाद समर्थक दलों ने सोनिया गाँधी को अपने समर्थन – पत्र सौंप दिये . तथा इस प्रकार सोनिया गाँधी का प्रधानमंत्री बनना निष्चित समझा गया। लेकिन 18 मई को सोनिया गाँधी ने दलों की बैठक में घोशणा की कि 'मेरी अन्तरात्मा कहती है कि मैं प्रध ानमंत्री पद स्वीकार न करूँ।' कांग्रेस दल के भारी दबाव के बावजूद वे अपने निर्णय पर दृढ़ रहीं । 19 मई को कांग्रेस संसदीय दल की बैठक में स्वयं उन्होंने नेता पद के लिए डा० मनमोहन सिंह का नाम प्रस्तावित कर उन्हें नेता चुनवाया, समर्थक और सहयोगी दलों से उनके लिए समर्थन प्राप्त किया तथा 22 मई, 2004 ई. को अपने 68 सहयोगियों सहित डॉ. मनमोहन सिंह ने प्रधानमंत्री पद की षपथ ली।

.प्रधानमंत्री का चयन (मई 2009 ई.) – 15वी. लोकसभा के चुनाव में कांग्रेस दल की अध यक्षा सोनिया गाँधी ने स्पश्ट रूप से घोशणा कर दी थी कि प्रधानमंत्री पद के लिये हमारे उम्मीदवार डॉ. मनमोहन सिंह ही हैं। चुनावों में कांग्रेस दल ने अपनी स्थिति में भारी सुध ार किया, कांग्रेस संसदीय दल ने सर्वसम्मति से डॉ. मनमोहन सिंह को अपना नेता चुना तथा 23 मई, 2009 ई. को डॉ. मनमोहन सिंह के नेतष्त्व में 'यूपीए सरकार' का गठन हुआ

प्रधानमंत्री के निर्वाचन का उसकी भूमिका और स्थिति पर महत्वपूर्ण रूप से प्रभाव पड़ता है। ''यदि प्रधानमंत्री पदधारी अपना पद अपनी ही राजनीतिक षक्ति और जनता के सीधे समर्थन

के बल पर प्राप्त करता है। (पं० नेहरू ने अपने जीवन काल में तथा श्रीमती गाँधी ने 1971 तथा 1980 में इसी रूप में पद प्राप्त किया था), तो आत्म विष्वास के साथ षासन प्रमुख के रूप में कार्य करने में समर्थ होता है, लेकिन जब वह अपना पद अन्य तत्त्वों के समर्थन और सहयोग के बल पर प्राप्त करता है (1964 1966, 1967, 1977, 1989. 1990, 1996, 1997 में यही स्थिति थी तथा 2004 ई. में भी यही स्थिति थी), तो प्रधानमंत्री पद की स्थिति स्वाभाविक रूप से निर्बल हो जाती हैं।'' प्रथम स्थिति ही प्रधानमंत्री पद और भारतीय राज–व्यवस्था के हित में है। 1989–91 तथा पुनः 1996–98 और 2004 ई. की राजनीति से स्पश्ट है कि विभिन्न राजनीजिक दलों के समर्थन से नियुक्त प्रधानमंत्री एक निर्बल प्रधानमंत्री होता है और राजनीतिक अस्थायित्व का कारण बनता है। श्रेश्ठ स्थिति निष्चित रूप से वही है जिसके अन्तर्गत लोकसभा में किसी एक राजनीतिक दल को या चुनाव पूर्व गठित किसी दलीय गठबन्धन को स्पश्ट बहुमत प्राप्त हो तथा वह गठबन्धन विचार

रा पर आधारित एक सुदृढ़ गठबंधन हों।.

'प्रधानमंत्री की षक्तियाँ और विविध रूपों में उसकी भूमिका

भारतीय राज व्यवस्था में प्रधानमंत्री की स्थिति वही है जो ब्रिटेन की राज्य व्यवस्था में वहाँ के प्रधानमंत्री की है। द्वितीय विष्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन की संसदीय या मन्त्रिमण्डल व्यवस्था में जो परिवर्तन हुए हैं, उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ है कि मन्त्रिमण्डल और संसद पर प्रधानमंत्री की पूर्ण सत्ता स्थापित हो गयी है। बेजहॉट की प्रसिद्ध रचना 'जैम म्दहसपेी ब्वदेपजनजपवद' के नवीन संस्करण की प्रस्तावना में आर. एस. एच. क्रॉसमैन लिखते हैं कि ''युद्धोत्तरकाल ने कैबिनेट षासन को प्रधानमंत्री षासन में बदलते हुए देखा है।'' मिली जुली सरकार की अपवाद स्वरूप परिस्थितियों को छोड़कर मि. क्रॉसमैन की यह बात भारतीय प्रधानमन्त्री पर भी लागू होती है। भारतीय प्रधानमन्त्री की षक्तियों और उसकी भूमिका का अध्ययन निम्नलिखित बिन्दुओं में किया जा सकता है।

प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिशद

: प्रधानमंत्री का प्रथम और सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य मन्त्रिपरिशद का निर्माण करना है। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 75 में यही कहा गया है कि ''अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री के परामर्ष पर राश्ट्रपति द्वारा की जायेगी।'' वस्तुस्थिति यह है कि राश्ट्रपति द्वारा नियुक्ति केवल एक औपचारिकता है और इस सम्बन्धं में विभागों के उल्लेख सहित जो नाम प्रधानमंत्री के द्वारा राश्ट्रपति के सामने रखे जाते हैं, राश्ट्रपति के द्वारा उन्हें स्वीकार कर उन्हें उनके नाम के आगे अंकित विभागों का मन्त्री घोशित कर दिया जाता है।

1 प्रधानमंत्री को अपनी मन्त्रिपरिशद का निर्माण करते समय प्रषासनिक, राजनीतिक, क्षेत्रीय, धार्मिक और अन्य बातों को ध्यान में रखना होता है तथा कुछ उदाहरणों में प्रधानमंत्री किन्ही विषेश व्यक्तियों को मन्त्रिपरिशद में लेने तथा उन्हें उनकी इच्छानुसार विभाग देने के लिए बाध्य होता है। उदाहरण के लिए, सरदार पटेल गष्ह विभाग लेना चाहते थे और पण्डित नेहरू को बाध्य होकर उन्हें गष्ह विभाग देना पड़ा। इसी प्रकार 1967 में श्रीमती गाँधी को अपनी इच्छा के विरुद्ध मोरारजी देसाई को उपप्रधानमन्त्री तथा वित्तमन्त्री के पद पर नियुक्त करना पड़ा था। 1998 में पुनः 1999 में आडवाणी ने गष्हमन्त्री पद स्वयं अपनी राजनीतिक स्थिति के बल पर प्राप्त किया था, लेकिन यह उदाहरण हैं तथा और सामान्यतया अपने सहयोगियों का चयन प्रधानमन्त्री अपने विवेक के आधार पर ही करता है। प्रधानमन्त्री ऐसे व्यक्तियों को भी मन्त्रिपरिशद में ले सकता है जिन्हें दल में कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त न हो और देष में जिनका नाम बहुत थोड़े व्यक्ति ही जानते हों।

11 एक बार मन्त्रिपरिशद को निर्माण हो जाने के बाद प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिशद के सदस्यों के विभागों को परिवर्तित करने के सम्बन्ध में लगभग पूर्ण स्वतन्त्र होता है। 1966 में श्री नन्दा ने गष्ह विभाग और 1967 में देसाई ने वित्त विभाग तथा उपप्रधानमन्त्री पद प्रधानमन्त्री की इच्छा के विरुद्ध प्राप्त किया था, लेकिन उचित अवसर आने पर क्रमषः नवम्बर 1966 और

जुलाई 1969 में श्रीमती गाँधी ने उन्हें त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर दिया। जब कभी किसी मन्त्री के प्रध नमंन्त्री से मतभेद हो जाते हैं तो सम्बन्धित मन्त्री को ही त्यागपत्र देना होता है। इस सम्बन्ध में नियोगी चेट्टी, डॉ. ष्यामाप्रसाद मुखर्जी, जॉन मथाई, देषमुख, छागला, महावीर त्यागी, अषोक मेहता, नन्दा, टी. टी. कृश्णामाचारी और देसाई, 1978 में श्री चरणसिंह एवं राजनारायण तथा 1987 में वी. पी. सिंह के त्यागपत्रों और 1990 में उपप्रध ाानमन्त्री देवीलाल की बर्खास्तगी के उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार मन्त्रिपरिशद का निर्माण और मन्त्रिपरिशद में परिवर्तन बहुत अधिक सीमा तक प्रधानमन्त्री की इच्छा पर निर्भर करते हैं। संविधान–सभा में डॉ. अम्बेडकर ने ठीक ही कहा था कि प्रधानमन्त्री वास्तव में मन्त्रिमण्डल भवन के

वष्तखण्ड की मुख्य षिला है और जब तक हम इस पदाधिकारी (प्रधानमन्त्री) को इतनी अध िाकारपूर्ण स्थिति प्रदान न करें कि वह स्वेच्छा से मन्त्रियों की नियुक्ति या पदच्युति कर सके, तब तक मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व प्राप्त नहीं किया जा सकता।''

प्रधानमन्त्री न केवल मन्त्रिमण्डल के निर्माण और समापन, वरन् उसके संचालन में भी केन्द्रीय स्थिति रखता है। यद्यपि मन्त्रिमण्डल में विभिन्न बातों का निर्णय मतदान के आध ा र पर होता है, लेकिन व्यवहार में प्रधानमन्त्री का परामर्ष ही निर्णायक होता है। प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल की बैठकों का सभापतित्व करता है और मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही का संचालन करता है । मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही पर उसका पूरा नियन्त्रण होता है और यह एक ऐसा महत्वपूर्ण तथ्य है जो एक औसत दर्जे के प्रधानमन्त्री को भी अपने सहयोगियों की तुलना में अधिक महत्व प्रदान कर देता है।'' प्रधानमन्त्री को अपने सहयोगियों के विभिन्न विभागों पर नियन्त्रण रखने में 'मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय और प्रधानमन्त्री सचिवालय से बहुत अधिक सहायता मिलती है, जो प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में कार्य करते हैं और जिनका अभी हाल ही के वर्शों में बहुत अधिक विकास हुआ है।

प्रधानमन्त्री तथा उसके सहयोगियों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पश्ट करने के लिए विभिन्न प्रकार की उक्तियों का प्रयोग किया जाता रहा है। इस सम्बन्ध में लॉर्ड मार्ले की षब्दावली समकक्षों में प्रथम तो बहुत बीते हुए समय की बात हो चुकी है। अब तो सर विलियम हारकोर्ट उसे नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा और डॉ. जेनिंग्ज ऐसा सूर्य बताते हैं जिसके चारों ओर समस्त ग्रह घूमते रहते हैं भारतीय प्रधानमन्त्री पद पर हारकोर्ट और जेनिंग्ज के कथन पूर्णरूप से लागू होते हैं। पं. नेहरू को प्रधानमन्त्री के रूप में अपनी मन्त्रिपरिशद पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त था तथा श्रीमती गाँधी द्वारा अपने प्रधानमन्त्री काल में मन्त्रिपरिशद में बहुत अधिक प्रभावपूर्ण स्थिति का उपभोग किया गया।

पं. नेहरू और श्रीमती गाँधी के करिष्माई व्यक्तित्व और प्रधानमंत्री के रूप में उनकी कार्यषैली को दृश्टि में रखते हुए 1984 तक आते आते यह सोचा गया कि 'अब कैबिनेट की कुछ नहीं चलती, प्रत्येक फैसला प्रधानमंत्री का है' लेकिन 1989 में सम्पन्न नौवीं लोकसभा के चुनाव के बाद से परिस्थितियाँ पूर्णतया बदल गईं। नौवीं, दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में कोई एक राजनीतिक दल स्पश्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर सका। ऐसी स्थिति में कभी तो मिली–जुली सरकार का गठन हुआ और कभी एक दल की अल्पमत सरकार का गठन हुआ। इस काल में नरसिम्हा राव को तो अपने मन्त्रिमण्डल पर प्रभावी नियन्त्रण प्राप्त था, लेकिन 1989–2002 ई. काल के अन्य छह प्रधानमंत्रियों के सम्बन्ध

में यह कह पाना सम्भव नहीं है।

प्रधानमन्त्री और संसद, विषेशतया लोकसभा

संसदीय व्यवस्था में प्रधानमन्त्री को दोहरा व्यक्तित्व प्राप्त होता है। एक ओर वह मन्त्रिपरिशद का प्रधान है तथा दूसरी ओर वह लोकसभा का नेता भी होता है । मन्त्रिपरिशद का कोई अन्य सदस्य प्रधानमन्त्री की भाँति संसद में समस्त मन्त्रिमण्डल का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है। षासन की नीति से सम्बन्धित अन्तिम तथा अधिकृत भाशण प्रधानमन्त्री का

ही होता है। संसद में अपने सहयोगियों द्वारा दिये गये भाशण से उत्पन्न गलतफहमियों को दूर करना और अपने सहयोगियों के भाशण में आवष्यक संषोधन करने का कार्य प्रधानमन्त्री का ही है।

व्यवस्थापन की समस्त कार्यवाही के संचालन में प्रधानमन्त्री ही नेतष्त्व प्रदान करता है । वार्शिक बजट सहित सभी सरकारी विधेयक प्रधानमन्त्री के निर्देषानुसार ही तैयार किये जाते हैं। प्रधानमन्त्री इस बात का निर्णय करता है कि षासन की नीति कार्यरूप में परिणत करने के लिए किन कानूनों का निर्माण किये जाने की आवष्यकता है। महत्वपूर्ण कानूनों के लिए विधेयक स्वयं प्रधानमन्त्री या प्रधानमन्त्री के सहयोगियों द्वारा प्रस्तावित किये जाते हैं। दलीय सचेतक द्वारा वह अपने दल के सदस्यों को आवष्यक आदेष देता है और कौल तथा षाकधर के षब्दों में, ''सभी विधेयकों के भाग्य का निर्णय प्रधानमन्त्री की इच्छानुसार ही होता है ।'' नेहरू, श्रीमती गाँधी के कार्यकाल और राजीव गाँधी के कार्यकाल के प्रथम ढाई वर्श इस कथन की पुश्टि करते हैं और नरसिम्हा राव के कार्यकाल (1991 –95) के सम्बन्ध में भी यह आंषिक रूप से सत्य है, लेकिन 1989–91 और 1996–2004 वर्शों के सम्बन्ध में यह कह पाना सम्भव नहीं है । इन वर्शों में जो पाँच प्रधानमन्त्री पदारूढ़ हुए, उनमें से किसी को भी संसद के दोनों सदनों में ठोस बहुमत प्राप्त नहीं था, सरकार के साझेदार दलों में भी मतभेद की स्थिती थी, अतः अनेक अवसरों पर सरकार अपनी इच्छानुसार कानूनों का निर्माण करवा पाने में असफल रही। कुछ अवसरों पर तो सरकार संसद के दोनों सदनों में अनावष्यक और घोर अषोभनीय षोर षराबों की मूकं एवं असहाय दर्षक मात्र बनकर रह गई

संसद का अधिवेषन बुलाने और स्थगित करने का कार्य राश्ट्रपति प्रधानमन्त्री के परामर्ष के अनुसार ही करता है और प्रधानमन्त्री की एक बहुत अधिक महत्वपूर्ण षक्ति लोकसभा को विघटित करने की है। यद्यपि औपचारिक रूप में यह कार्य राश्ट्रपति का है, लेकिन व्यवहार में राश्ट्रपति इस सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री की इच्छानुसार ही कार्य कर सकता है । प्रधानमन्त्री अपनी इस षक्ति के बल पर लोकसभा को अपनी इच्छानुसार कार्य करने को बाध्य कर सकता है।

व्यवहार के अन्तर्गत अब तक 9 बार (दिसम्बर 1970, जनवरी 1977 अगस्त 1979, नवम्बर 1984 अक्टूबर 189 मार्च 91, दिसम्बर 197, अप्रैल 199 तथा फरवरी 2004 में) प्रध नमन्त्री के द्वारा लोकसभा को भंग करवाया जा चुका है। 1976 में ही दो बार प्रधानमन्त्री के निर्देषन में प्रस्ताव पास कर लोकसभा के कार्यकाल को एक एक वर्श के लिए बढ़ाया गया है। ये उदाहरण इस बात के प्रतीक हैं कि प्रधानमन्त्री को लोकसभा और समस्त संसद पर कितना अधिक नियन्त्रण प्राप्त है। 1.

प्रधानमन्त्री और राश्ट्रपति

संविधान ने प्रधानमन्त्री को मन्त्रिमण्डल तथा राश्ट्रपति के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले पदाधिकारी की भूमिका प्रदान की है। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 78 में प्रधानमन्त्री के 3 कर्तव्य बताये गये हैं। 1. संघ के प्रषासन तथा कानून निर्माण से सम्बन्धित विधेयकों के विशय में मन्त्रिमण्डल के निर्णयों की राश्ट्रपति को सूचना देना, 2. संघ के प्रषासन से सम्बन्ध रखने वाले मामलों तथा कानून निर्माण से सम्बन्धित प्रस्तावों के बारे में राश्ट्रपति को ऐसी सूचना देना जिसे वह मांगे, 3. यदि राश्ट्रपति चाहे, तो मन्त्रिपरिशद के विचार के लिए कोई ऐसा मामला रखना जिस पर कोई मन्त्री अपना निर्णय ले चुका है, परन्तु जिस पर मन्त्रिपरिशद ने अब तक कोई निर्णय नहीं लिया है।

सार्वजनिक महत्व के मामलों पर राश्ट्र के प्रधान से केवल प्रधानमन्त्री के माध्यम से ही सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। कोई भी अन्य मन्त्री प्रधानमन्त्री की अनुमति से ही राश्ट्रपति से भेंट कर सकता है। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक प्रधानमन्त्री और राश्ट्रपति के बीच जो सम्बन्ध रहे हैं, यदि उनका अध्ययन किया जाय, तो यह नितान्त स्पश्ट हो जाता है कि प्रधानमन्त्री ने राश्ट्रपति को एक संवैधानिक प्रधान की भूमिका तक सीमित रखा है।

3. क्या आप यह स्पश्ट कर सकते हैं कि मंत्रिमण्डल की बैठकें प्रधानमंत्री की इच्छानुसार होती है और वही इन बैठकों के कार्यक्रम निष्चित करते हैं?

14. सर विलियम हारकोर्ट और डा० जेनिंग्स ने भारतीय प्रधानमंत्री के सम्बन्ध में क्या अन्तर है?

प्रथम राश्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और प्रधानमन्त्री नेहरू के बीच हिन्दू कोड बिल, नियोजन, निजी सम्पत्ति के सीमाकरण और सरकारी कृशि, आदि विशयों पर तीव्र मतभेद थे। राश्ट्रपति द्वारा कुछ अवसरों पर अपने विचार व्यक्त किये गये। लेकिन अन्त में उन्हें लगभग सभी बातों में प्रधानमन्त्री की इच्छाओं के सम्मुख झुकना पड़ा। डॉ० राधाकृश्णन ने राश्ट्रीय राजनीति में स्वतन्त्र भूमिका निभाने की इच्छा और आकांक्षा के साथ राश्ट्रपति पद ग्रहण किया था और 1962 में चीन के आक्रमण के समय तथा 1965 में भाशा विवाद के समय उन्हें कुछ प्रभावषाली बनने का अवसर मिला, लेकिन अधिकांषतया वे इसमें असफल रहें। उदाहरण के लिए. 'लाहौर क्षेत्र में भारतीय सेनाओं के प्रवेष के सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री षास्त्री ने राश्ट्रपति से कोई परामर्ष नहीं किया था और नवम्बर 1966 में कैबिनेट के पुनर्गठन के सम्बन्ध ा में श्रीमती गाँध

द्वारा राश्ट्रपति को पूर्ण अन्धकार में रखा गया था। द्वितीय राश्ट्रपति के बाद तो भारत में इस धारणा को अपनाया गया कि राश्ट्रपति प्रधानमन्त्री का व्यक्ति होना चाहिए। तीसरे, चौथें और पाँचवें राश्ट्रपति प्रधानमन्त्री के निजी प्रयासों के फलस्वरूप अपने पद पर आसीन हुए और उनके द्वारा अपने कार्यकाल में प्रधानमन्त्री की प्रत्येक इच्छा को षिरोधार्य किया गया। अप्रैल 1977 में कार्यवाहक राश्ट्रपति जत्ती और मन्त्रिपरिशद के बीच विवादपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई, लेकिन अन्त में श्री जत्ती को अपनी हठधर्मी छोड़कर संवैधानिक दृश्टिकोण अपनाना पड़ा। जुलाई–अगस्त 1979 में पहली बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई जिसमें राश्ट्रपति के द्वारा प्रधानमन्त्री के चयन में अपने विवेक का प्रयोग किया जा सका और राश्ट्रपति प्रध ाानमन्त्री के साथ सम्बन्धों में अपने प्रभाव का परिचय दे सके। मार्च 1977 से जनवरी 1980 और पुनः 1989–91 तथा 1996–98 तक के भारतीय राजनीतिक घटना चक्र से यह निश्कर्श निकलता है कि यदि प्रधानमन्त्री कमजोर हो, उसे लोकसभा में समुचित बहुमत प्राप्त न हो अथवा षासक दल में अनुषासन और एकता का अभाव हो, तो राश्ट्रपति राजनीजिक दृश्टि से सक्रिय हो सकते हैं और राजनीतिक पहल की षक्ति कुछ सीमा तक राश्ट्रपति के हाथों में आ सकती है । लेकिन सामान्य परिस्थितियों में द्वितीय श्रेणी का प्रधानमन्त्री भी राश्ट्रपति पर छाया रहेगा । राश्ट्रपति के. आर. नारायणन ने संविधान की समस्त मर्यादाओं का सम्पूर्ण अंषों में पालन करते हुए षासन के परामर्षदाता और राज्य के प्रधान की भूमिका प्रभावी रूप में निभाई। उन्होंने अपने आचरण से एक वर्श में दो बार और दो टूक अंदाज में बता दिया है कि वे प्रधानमन्त्री या मन्त्रिमण्डल के साथ सम्बन्धों में रबर स्टाम्प बनने के लिए तैयार नहीं हैं। 2002 ई. में निर्वाचित राश्ट्रपति डॉ. अब्दुल कलाम ने मन्त्रिमण्डल के प्रभावषाली परामर्षदाता' की भूमिका निमाई, लेकिन साथ ही अपने पद की मर्यादाओं को सदैव ही दृ श्टि में रखा।

1 प्रधानमन्त्री और राज्य सरकारें, विषेशतया मुख्यमन्त्री

भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य सरकारों के सम्बन्ध में भी प्रधानमन्त्री की भूमिका बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। पं. नेहरू महान् व्यक्तित्व के धनी थे और उनके प्रध आनमन्त्री काल में सामान्यतया कोई राज्य सरकार या मुख्यमन्त्री प्रधानमन्त्री के निर्देषों की अवहेलना करने की बात सोच भी नहीं सकता था। लेकिन 1958 के बाद से ही पं० नेहरू का कांग्रेस संगठन पर प्रभाव कम होने लगा था। ऐसी स्थिति में विभिन्न राज्यों के. मुख्यमंत्रियों ने अपने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना प्रारम्भ किया, जिससे षक्ति – सन्तुलन काफी सीमा तक प्रधानमन्त्री के विपरीत तथा मुख्यमन्त्री की ओर हो गया। कांग्रेस कार्य समिति में कुछ मुख्यमन्त्रियों को प्रभावषाली स्थिति प्राप्त होने और राज्यों के संसद सदस्यों की स्वामिभक्ति उनके प्रति

होने के कारण मुख्यमन्त्रियों ने महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर ली और अपनी इस षक्ति के बल पर उन्होंने प्रधानमन्त्री के उत्तराधिकारी के चयन में महत्वपूर्ण

भूमिका अदा की। किन्तु यह स्थिति अधिक से अधिक 1989 तक ही रही और उसके बाद पुनः राज्य सरकारों और मुख्यमन्त्रियों पर प्रधानमन्त्री का लगभग पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया। कांग्रेस के विभाजन के समय कर्नाटक, गुजरात और उत्तर प्रदेष के मुख्यमन्त्रियों ने प्रधानमन्त्री का विरोध करते हुए संगठन कांग्रेस का साथ दिया था। उसके बाद उत्तर प्रदेष के राज्यपाल द्वारा सी. वीं० गुप्ता को अपदस्थ कर चरणसिंह को सरकार बनाने का अवसर देना और फिर उसके बाद कर्नाटक व गुजरात की संगठन कांग्रेस के पतन, आदि घटनाओं ने स्पश्ट कर दिया कि एक मुख्यमन्त्री को पदासीन होनें तथा अपने पद पर बने रहने के लिए प्रधानमन्त्री की सहानुभूति बहुत अधिक आवष्यक होती है तथा एक विरोधी प्रधानमन्त्री एक मुख्यमन्त्री की राजनीतिक मष्त्यु का कारण बन सकता है। 1975–76 में उत्तर प्रदेष, तमिलनाडु और गुजरात की घटनाओं ने इस बात को और अधिक स्पश्ट कर दिया है। 1984 में सिक्किम और जम्मू–कष्मीर के घटनाचक्र तथा उसके बाद की कुछ घटनाओं ने भी इसकी पुश्टि की है। प्रधानमन्त्री को राज्य सरकारों पर जो नियन्त्रण प्राप्त रही, उसका सबसे प्रमुख कारण प्रधानमन्त्री पदधारी का अत्यन्त प्रभावषाली राजनीतिक व्यक्तित्वं तो था ही, अन्य कुछ संस्थागत कारण भी थे जिनके आधार पर प्रधानमन्त्री का राज्य सरकारों पर नियन्त्रण स्थापित हो गया। ये तत्व इस प्रकार हैं :

केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में राज्यपाल की भूमिका और राज्यपाल द्वारा. समय – समय पर राज्य की संवैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में राश्ट्रपति को रिपोर्ट भेजना।

2. – भारतीय संविधान का अनुच्छेद 356 जिसके आधार पर राज्य में राश्ट्रपति षासन लागू किया जा सकता है। व्यवहार के अन्तर्गत केन्द्र में पदारुढ़ सभी सरकारों द्वारा इस अनुच्छेद का दुरूपयोग किया गया है।

3. राज्य सरकार के विरुद्ध भ्रश्टाचार के आरोप–पत्र होने पर केन्द्र को जाँच आयोग स्थापित करने या न करने का संवैधानिक अधिकार प्राप्त होना ।

4. भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य सरकारों की केन्द्र पर वित्तीय निर्भरता । .

पिछले लगभग 60 वर्शों का राजनीतिक अनुभव यह सिखाता है कि प्रधानमन्त्री द्वारा राज्य सरकारों (अपने दल और विपक्ष षासित) के संदर्भ में अपनी षक्तियों का प्रयोग संयमित रूप में ही किया जाना चाहिए।

प्रधानमन्त्री और वैदेषिक सम्बन्धों का संचालन

अन्तर्राश्ट्रीय क्षेत्र में भारतीय प्रधानमन्त्री का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चाहे विदेष विभाग प्रधानमन्त्री के हाथों मे न हो, फिर भी अन्तिम रूप में विदेष नीति का निर्धारण प्रध नमन्त्री के द्वारा ही किया जाता है। इस सम्बन्ध में उसके षब्द ही अन्तिम तथा अधिकृत माने जाते हैं।

प्रधानमन्त्री पं. नेहरू ने विदेष नीति के क्षेत्र में पंचषील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था । इसी प्रकार 1965 के भारत–पाक युद्ध के संचालन और ताषकन्द समझौते में श्री षास्त्री की भूमिका ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। 1971 के प्रारम्भ से 1977 के प्रारम्भ तक तो प्रध ाानमन्त्री ने वैदेषिक सम्बन्धों के संचालन का समूचा भार ही अपने ऊपर ले लिया। बांग्लादेष के मुक्ति युद्ध में भारत के द्वारा जो भूमिका निभायी गयी, वह श्रीमती गाँधी के व्यक्तिगत निर्णयों का परिणाम था और इस सम्बन्ध में कैबिनेट के सदस्यों से परामर्ष नहीं लिया गया था। इसी प्रकार 1998 का परमाणु परीक्षण और 1999 में लाहौर की ऐतिहासिक बस – यात्रा प्रधानमन्त्री वाजपेयी के व्यक्तिगत निर्णय ही थे। वैदेषिक सम्बन्धों का संचालन तत्परता के

साथ कार्यवाही और अनेक बार गोपनीयता की माँग करता है। अतः इस कार्य में प्रधानमन्त्री को अपने ही विवेक के आधार पर महत्वपूर्ण निर्णय लेने होते हैं।

प्रधानमन्त्री और कृपा की षक्तियाँ

1 संविधान के द्वारा राश्ट्रपति को जिन उच्च अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार दिया गया है, व्यवहार में उनकी नियुक्ति राश्ट्रपति स्वविवेक से नहीं करता, वरन् प्रधानमन्त्री के परामर्ष से ही करता है। इस प्रकार प्रधानमन्त्री राज्यों में राज्यपाल, अन्य देषों में भारत के राजदूतों, महाधिवक्ता, नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक, सर्वोच्च और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीष तथा अन्य अनेक आयोगों के सदस्यों की नियुक्ति करता है। प्रधानमन्त्री के हाथ में कृपा और अनुग्रह की इतनी व्यापक षक्तियाँ होने के कारण हर कोई प्रधानमन्त्री की कृ पा प्राप्त करने के लालायित रहता है। कृपा की षक्तियों के परिणामस्वरूप समस्त षासन व्यवस्था पर प्रधानमन्त्री का नियन्त्रण बहुत अधिक मजबूत हो जाता है। । .

आम चुनाव : प्रधानमन्त्री का चुनाव

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त वर्तमान समय में एक अन्य कारण से प्रधानमन्त्री की स्थिति बहुत अधिक मजबूत हो गयी है। प्रधानमन्त्री अपने राजनीतिक दल का नेता होता है और आम चुनाव उसके नाम से लड़े जाते हैं। पं. नेहरू के जीवनकाल में सभी आम चुनावों का नारा यही था कि कांग्रेस को वोट देकर पं. नेहरू के हाथ मजबूत कीजिए'' और 1971 के लोकसभा चुनावों तथा 1972 में पांचवें आम चुनाव सत्ता कांग्रेस ने श्रीमती गाँध

के नाम पर लड़े थे। चुनाव में जनता को ''इन्दिरा हटाओ '' या ''इन्दिरा बचाओ'' – इन दो में से किसी एक के पक्ष में मतदान करना था। प्रधानमन्त्री ने इस चुनावों में अपने विरोधि ायों को प्रतिक्रियावादी बताते हुए स्वयं को प्रगतिषील दृश्टिकोण वाला व्यक्ति सिद्ध किया और वे देष की सर्व साधारण जनता के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने में सफल रहीं। ऐसे निर्वाचन में, जब उस दल को पर्याप्त सफलता प्राप्त हो जाती, तो स्वाभाविक रूप से प्रधानमन्त्री की प्रतिश्ठा में बहुत अधिक वर्षद्धि हो जाती है और वह देष का सर्वप्रथम षासक बन जाता है। यह निर्विवाद है कि 1971 और 1972 के चुनावों ने भारत में प्रधानमन्त्री के रूप में श्रीमती गाँधी की प्रतिश्ठा में बहुत अधिक वर्षद्धि की। 1977 के चुनाव भी कुछ सीमा तक तत्कालीन और सम्भावित प्रधानमन्त्री के व्यक्तित्व पर केद्रित थे और जनवरी 1980 में लोकसभा के निर्वाचन तो प्रधानमन्त्री का चुनाव ही थे। 1984 के लोकसभा चुनाव और नवम्बर 89 के लोकसभा चुनाव भी प्रधानमन्त्री पद पर ही केद्रित थे । तेरहवीं लोकसभा के चुनाव और चौदहवीं लोकसभा के चुनाव भी अधिकांष अंषों में प्रधानमन्त्री के चुनाव ही थे

प्रधानमन्त्री : देष का सर्वोच्च नेता और षासक

एक पंक्ति में, प्रधानमन्त्री देष का सर्वोच्च नेता और सर्वोच्च षासक होता है। सिद्धान्त रूप में न सही लेकिन व्यवहार में देष का समस्त षासन उसी की इच्छानुसार संचालित होता है। वह व्यवस्थापिका से अपनी इच्छानुसार कानून बनवा सकता है और संविध न में आवष्यक संषोधन करवाकर सर्वोच्च न्यायालय को भी बहुत कुछ सीमा तक अपनी 'इच्छानुसार चलने के लिए बाध्य कर सकता है । मन्त्रिपरिशद में उसकी स्थिति सर्वोपरि होती है। कभी–कभी परिस्थितियोंवष भले ही उसे अपने सहयोगियों के सामने झुकना पड़े, लेकिन अन्तिम रूप में प्रधानमन्त्री के निर्णय ही मान्य होते हैं। देष की जनता हो या संसद, राज्य सरकारे हों या प्रधानमन्त्री का अपना राजनीतिक दल, हर कोई नेत्तृव के लिए प्रधानमन्त्री

की ओर ही देखता है। व्यवहार के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री पदधारी व्यक्तियों ने इस पद की षक्तियों और सम्मान में बहुत अधिक वृद्धि की है।

प्रधानमन्त्री की वास्तविक स्थिति

प्रधानमन्त्री की षक्तियाँ अपार तथा असीमित हैं। समय स्थिति तथा व्यक्तित्व के अनुसार उसकी स्थिति घटती बढ़ती रहती हैं। प्रधानमन्त्री की वास्तविक स्थिति प्रमुख रूप से निम्न बातों पर निर्भर करती है :

प्रथमतः और सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व यह है कि प्रधानमन्त्री के दल को लोकसभा और राज्यसभा विषेशतः लोकसभा में कैसी स्थिति प्राप्त है । यदि प्रधानमन्त्री मिली जुली सरकार या बाहरी समर्थन पर टिकी अल्पमत सरकार का नेतष्त्व कर रहा है तो प्रधानमन्त्री की स्थिति कमजोर होती है और प्रधानमन्त्री पदधारी तथा प्रधानमन्त्री पद पर निरन्तर दबाव पडतें हैं एकदलीय सरकार का प्रधानमन्त्री ही षासन में वास्तविक प्रधान के रूप में कार्य कर पाता है ।

द्वितीयतः प्रधानमन्त्री की स्थिति बहुत अधिक सीमा तक उसके 'व्यक्तित्व' पर निर्भर करती है। लार्ड आक्सफोर्ड तथा एस्क्विथ ने ब्रिटिष प्रधानमन्त्री के पद के सम्बन्ध में कहा भी है कि ''प्रधानमन्त्री का पद वैसा ही बन जाता है, जैसा कि उस पद का अधिकारी उसको बनाना चाहता है।'' स्वाभाविक रूप से एक प्रभावषाली व्यक्तित्व वाला व्यक्ति षक्तिषाली प्रध ाानमन्त्री के रूप में और निर्बल व्यक्तित्व वाला व्यक्ति एक कमजोर प्रधानमन्त्री के रूप में कार्य करता है।

तष्तीयतः प्रधानमन्त्री की स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि अपने राजनीतिक दल या अपने राजनीतिक गठबन्धन में उसे किस प्रकार की स्थिति प्राप्त है। अपने राजनीतिक दल में निर्विवाद नेता होने पर उसकी स्थिति पर्याप्तम षक्तिषाली हो जाती है। लेकिन यदि उसके दल या दलीय गठबन्धन में ही उसके नेतष्त्व को चुनौती दी जाती है, तो उसकी स्थिति कमजोर हो जाती है। एक प्रतिभाषाली व्यक्तित्व वाले व्यक्ति के द्वारा भी उसी समय तक षक्तिषाली प्रधानमन्त्री के रूप में कार्य किया जा सकता है, जब तक उसे अपने राजनीतिक दल में निर्विवाद नेतष्त्व प्राप्त हो ।

चतुर्थतः प्रधानमन्त्री की षक्ति तत्कालीन परिस्थिति पर निर्भर करती है। राश्ट्रीय और अर्न्तराश्ट्रीय स्तर पर गम्भीर स्थिति होने पर प्रधानमन्त्री अधिक षक्तिषाली हो जाता है, लेकिन सामान्य स्थिति में वह अधिक षक्तिषाली नहीं हो पाता।

पंचमतः प्रधानमन्त्री पदधारी को घरेलू और वैदेषिक क्षेत्र की व्यावहारिक राजनीति में प्राप्त सफलताएँ – असफलताएँ प्रधानमन्त्री की स्थिति को सबल या दुर्बल बनाती हैं। भारत–चीन सीमा संघर्श में भारत के लिए अपमानजनक स्थिति ने प्रधानमन्त्री नेहरू की स्थिति को कमजोर कर दिया था तथा 1965 के भारत–पाक संघर्श में पाकिस्तान की पराजय तथा 1971 के संघर्श में पाकिस्तान की निर्णायक पराजय ने तत्कालीन प्रधानमन्त्रियों श्री षास्त्री और श्रीमती गाँधी की स्थिति को सबलता प्रदान की थी।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भी अन्य कुछ तत्व हो सकते हैं। जहाँ तक व्यवहार का प्रष्न है प्रधानमन्त्री पद सामान्यतया बहुत अधिक षक्तिषाली रहता है यद्यापि कुछ ऐसे काल (1964 के मध्य से 1965 का मध्य व 1966 के प्रारम्भ से 1969 तक 1977–79 तथा 1987 – 91) भी रहे जिनमें प्रधानमन्त्री पद की षक्ति कम होते हुए भी देखी गयी है । 1991–96 (नरसिम्हा राव का कार्यकाल) के काल में प्रधानमन्त्री के पद की प्रतिश्ठा और

षक्तियों में वृद्धि तथा प्रधानमन्त्री के पद की प्रतिश्ठा को आघातः दोनों ही स्थितियाँ देखी गयीं। 1971 से 1976 के काल को भारत में प्रधानमन्त्री पद का चरमोत्कर्श कहा जा सकता हैं। आपात काल के 19 महीनों ने जहाँ एक और प्रधानमन्त्री पद को नवीन ऊचाईयाँ प्रदान की वहीं दूसरी और व्यक्ति और पद के रूप में प्रधानमन्त्री को अनेक विवादों से जोड़कर इस पद की गरिमा को गिराया। 1996, 97 98 99 और 2004 में जो 13, 15, 18, 24 या 14 दलों की मिली जुली सरकारों का गठन हुआ, इन सरकारों ने प्रधानमन्त्री पद की प्रतिश्ठा को कभी हल्का और कभी भारी आघात ही पहुचाया है। निश्कर्श रूप में कहा जा सकता है कि सामान्यतः केन्द्र में एकदलीय सरकार होने पर प्रधानमन्त्री को षक्तिषाली स्थिति प्राप्त होती– है लेकिन मिली जुली सरकार में प्रधानमन्त्री की स्थिति कमजोर होती है।

मन्त्रिपरिशद तथा संसद के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन भी दो रूपों में किया जा सकता है । – (1) सैद्धान्तिक दृश्टि से, और (2) व्यावहारिक दृश्टि से ।

सैद्धान्तिक दृश्टिकोण

संविधान द्वारा भारत में संसदात्मक षासन व्यवस्था अपनायी गयी है और संसदात्मकः षासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर सम्बन्धित होती है तथा कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) व्यवस्थापिका (संसद) के प्रति उत्तरदायी होती है। उत्तरदायित्व के प्रसंग में संसद का आषय लोकसभा से होता है। उत्तरदायित्व का तात्पर्य यह है कि मन्त्रिमण्डल लोकसभा के अधीन है, वह इसकी इच्छानुसार ही कार्य करेगा और मन्त्रिमण्डल उसी समय तक अपने पद पर बना रह सकेगा, जब तक उसे लोकसभा के बहुमत का विष्वास प्राप्त हो । संसद के द्वारा मन्त्रिमण्डल पर निम्नलिखित साधनों से नियन्त्रण रखा जा सकता हैः

1. प्रष्नोत्तर संसद को अधिकार है कि वह अपने अधिवेषन के दिनों में मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से विभिन्न विभागों के सम्बन्ध में प्रष्न पूछें। इन प्रष्नों के आधार पर संसद –सदस्य सरकार की विभिन्न प्रषासनिक त्रुटियों से परिचित हो जाते हैं और उनके द्वारा निन्दा – आलोचना के आधार पर सरकार को सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जा सकता है।

:2. काम रोको प्रस्ताव – यदि प्रषासन के किसी भी क्षेत्र में कोई गम्भीर घटना घटित हो गई हों तो प्रत्येक संसद सदस्य को अधिकार है कि वह अपने संदन में इस आषय का प्रस्ताव रखे कि पहले से चले आ रहे सभी विशयों पर विचार स्थगित कर सदन इस गम्भीर घटना पर विचार करे। इसे ही कामरोको प्रस्ताव' कहते हैं। यह प्रस्ताव मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन होता है।

3. विधेयक या नीति की अस्वीकृति संसद को अधिकार है कि वह मन्त्रिमण्डल के सदस्यों द्वारा प्रस्तावित किसी विधेयक या नीति को अस्वीकृति कर दे। यदि यह अस्वीकृति लोकसभा की ओर से होती है तो मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना होता है। 4. बजट में कटौती मन्त्रिमण्डल संसद की स्वीकृति बिना आय–व्यय से सम्बन्धित कोई कार्य नहीं कर सकता । मन्त्रिमण्डल का बजट पर पूर्ण नियन्त्रण होता है और लोकसभा द्वारा बजट में कटौती का आषय होता है– अविष्वास का प्रस्ताव । ''

5. प्रषासनिक जाँच – संसद मन्त्रिमण्डल के कार्य की जाँच पड़ताल के लिए एक जाँच समिति स्थापित कर सकती है। यह सरकार के हिसाब–किताब की जाँच के लिए लेखा परीक्षक नियुक्त कर उसकी रिपोर्ट पर विचार कर सकती है।

6. अविष्वास प्रस्ताव लोकसभा के द्वारा अविष्वास का प्रस्ताव पास कर सरकार को पदच्युत किया जा सकता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृश्टि से संसद मन्त्रिमण्डल के सभी कार्यों का नियन्त्रण रखती है और यदि संसद मन्त्रिमण्डल के कार्य करने के ढंग से असन्तुश्ट हो तो लोकसभा के द्वारा अविष्वास का प्रस्ताव पास कर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत किया जा सकता है।

सारांष – उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भी अन्य कुछ तत्व हो सकते हैं। जहाँ तक व्यवहार का प्रष्न हैं प्रधानमन्त्री पद सामान्यतया बहुत अधिक षक्तिषाली रहता है यद्यापि कुछ ऐसे काल (1984 के मध्य से 1965 का मध्य व 1966 के प्रारम्भ से 1969 तक 1977–79 तथा 1987 – 91) भी रहे जिनमें प्रधानमन्त्री पद की षक्ति कम होते हुए भी देखी गयी है। 1991–96 (नरसिम्हा राव का कार्यकाल) के काल में प्रधानमन्त्री के पद की प्रतिश्ठा और षक्तियों में वृद्धि तथा प्रधानमन्त्री के पद की प्रतिश्ठा को आघातः दोनों ही स्थितियाँ देखी गयीं। 1971 से 1976 के काल को भारत में प्रधानमन्त्री पद का चरमोत्कर्श कहा जा सकता है । आपात काल के 19 महीनों ने जहाँ एक ओर प्रधानमन्त्री पद को नवीन ऊचाईयाँ प्रदान

की वहीं दूसरी और व्यक्ति और पद के रूप में प्रधानमन्त्री को अनेक विवादों से जोड़कर इस पद की गरिमा को गिराया। 1996 97 98 99 और 2004 में जो 13, 15, 18, 24 या 14 दलों की मिली जुली सरकारों का गठन हुआ, इन सरकारों ने प्रधानमन्त्री पद की प्रतिश्ठा को कभी हल्का और कभी भारी आघात ही पहुचाया है। निश्कर्श रूप में कहा जा सकता है कि सामान्यतः केन्द्र में एकदलीय सरकार होने पर प्रधानमन्त्री को षक्तिषाली स्थिति प्राप्त होती. है. लेकिन मिली जुली सरकार में प्रधानमन्त्री की स्थिति कमजोर होती है।

स्व प्रगति की जाँच के उत्तर

1. राश्ट्रीय नीति निर्धारित करना

प्रधानमंत्री का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य राश्ट्रीय नीति निर्धारित करना है। वह यह निष्चय करता है कि आन्तरिक क्षेत्र में प्रषासन के विभिन्न विभागों के द्वारा और वैदेषिक क्षेत्र में दूसरे देषों के साथ सम्बन्ध के विशय में किस प्रकार की नीति अपनायी जायेगी । मन्त्रिमण्डल के द्वारा नीति निर्धारित कर चुकने के बाद सम्बद्ध विभागों के द्वारा इस नीति के आधार पर विभिन्न विधेयक संसद में प्रस्तुत किये जाते हैं। इस प्रकार कानून निर्माण का कार्य बहुत कुछ सीमा तक मन्त्रिमण्डल की इच्छानुसार ही होता है। प्रषासनिक नियमों का निर्माण भी कैबिनेट ही करती है। ऑग का यह कथन भारतीय मन्त्रिमण्डल पर लागू होता है कि ''कैबिनेट के मन्त्री लोग नीति निर्धारित करते हैं, विनिष्चय करते हैं और प्रत्येक ऐसे आवष्यक विशय पर विधेयकों का प्रारूप तैयार करते हैं, जिन्हें वे विधि रूप में पास कराना चाहते हैं ।''

2. वैदेषिक सम्बन्धों पर नियन्त्रण – कैबिनेट के द्वारा ही देष के वैदेषिक सम्बन्ध पर नियन्त्रण रखा जाता है। विदेषी राज्यों के अध्यक्षों या सरकारों के साथ समस्त वार्ताओं का संचालन प्रधानमन्त्री या विदेषमन्त्री या प्रधानमन्त्री के किसी अन्य प्रतिनिधि द्वारा किया जाता है और जब इस वार्ता के परिणामस्वरूप कोई सन्धि या समझौता हो जाता है तो संसद को उसके सम्बन्ध में सूचना दे दी जाती है और संसद से उसकी स्वीकृति प्राप्त कर ली जाती है । वैदेषिक सम्बन्धों के संचालन में संसद की भूमिका बहुत ही गौण होती है, इसका प्रमाण यह है कि 1971 में सोवियत संघ के साथ मैत्री सन्धि से पूर्व लगभग 2 वर्शों से बातचीत चल रही थी, लेकिन संसद को इस सम्बन्ध में तभी सूचना मिली, जबकि अगस्त 1971 में सन्धि ज पर हस्ताक्षर हो गये। कई बार सरकार विदेषों के साथ गुप्त सन्धियाँ और समझौते करती है और संसद को इस सम्बन्ध में सूचना भी नहीं दी जाती। वैदेषिक सम्बन्ध ाों के संचालन. की आवष्यकता होती है और इसी कारण यह कार्य कैबिनेट के द्वारा ही किया जा सकता है, संसद के द्वारा नहीं ।

3. मन्त्रिमण्डल की बैठकें – मन्त्रिमण्डल की बैठकें प्रधानमन्त्री की इच्छानुसार होती हैं और प्रधानमन्त्री के द्वारा ही इन बैठकों का कार्यक्रम निष्चित किया जाता है। साधारणतः, मन्त्रिमण्डल की बैठक सप्ताह में एक बार होती है, लेकिन विषेश परिस्थिती में सप्ताह में एक बार से भी अधिक ऐसी बैठकें हो सकती हैं। इन बैठकों में सभापति का स्थान प्रधानमन्त्री द्वारा ग्रहण किया जाता है। बैठकों की समस्त कार्यवाही गुप्त रखी जाती है । मन्त्रिमण्डल की बैठकों में जो कुछ भी निर्णय लिए जाते हैं, वे मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य . रूप से मान्य होते हैं और मन्त्रिमण्डल का कोई सदस्य त्यागपत्र देकर ही इन निर्णयों का विरोध कर सकता है।

4. सर विलियम हारकोर्ट उसे 'नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा और डॉ. जेनिंग्ज ऐसा सूर्य बताते हैं जिसके चारों ओर समस्त ग्रह घूमते रहते हैं भारतीय प्रधानमंन्त्री पद पर हारकोर्ट और जेनिंग्ज के कथन पूर्णरूप से लागू होते हैं। पं. नेहरू को प्रधानमन्त्री के रूप में अपनी मन्त्रिपरिशद पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त था तथा श्रीमती गाँधी द्वारा अपने प्रधानमन्त्री काल में मन्त्रिपरिशद में बहुत अधिक प्रभावपूर्ण स्थिति का उपभोग किया गया।

अभ्यास–प्रष्न

1. मन्त्रिपरिशद के गठन की प्रक्रिया को स्पश्ट करें।
2. प्रधानमन्त्री की चयन, नियुक्ति की प्रक्रिया तथा उसकी षक्तियों का वर्णन करें।
3. आम चुनाव प्रधानमन्त्री का चुनाव होता है । व्याख्या करें।
4. मन्त्रिमण्डल तथा संसद के सम्बन्धों पर टिप्पणी लिखें।

माड्यूल 4

सर्वोच्च न्यायालय तथा संवैधानिक

इकाई 13

सर्वोच्च न्यायालय तथा संवैधानिक

इस अध्याय के अंतर्गत :

परिचय

सर्वोच्च न्यायालय का गठन एवं रचना

न्यायाधीषों की नियुक्ति, इनके कार्यकाल एवं उन्मुक्तियाँ।

सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार

न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रकृति और सीमाएँ

न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व

अध्ययन के उद्देष्य

: सर्वोच्च न्यायालय की रचना

: न्यायाधीषों की नियुक्ति, कार्यकाल एवं उन्मुक्तियाँ

: सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार

: न्यायिक पुनर्विलोकन का तात्पर्य

: भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रकृति और सीमाएँ

: न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रकृति और सीमाएँ

: न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व

परिचय

प्रत्येक लोकतंत्र राज्य में एक स्वतन्त्र एवं निश्पक्ष न्यायापालिका का होना आवष्यक द्य प्रो० गार्नर के षब्दों में, न्याय विभाग के अभाव में एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई भी समाज बिना विधानमण्डल के रहता है, यह बात समझ में आ सकती है। लेकिन ऐसे किसी राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें न्यायपालिका की आवष्यकता और अधिक बढ़ जाती हैं। इसके अग्रलिखित कारण है.

(1) संघ षासन में केन्द्र तथा राज्यों के बीच षासन षक्ति का विभाजन होता हैं। अधिकार

क्षेत्र के सम्बन्ध में दोनों सरकारों के बीच विवाद उठ सकते हैं। संविधान के उपबन्ध ों के अनुसार ऐसे किसी प्रकार का फैसला करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की आवष्यकता. है ।

(2) संविधान लिखित होता है। लिखित संविधान में कहीं–कहीं अनिष्चितता और अस्पश्टता पाई जाती है। अतः उसकी व्याख्या एक निश्पक्ष निकाय अर्थात सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की जानी चाहिए।

किसी उच्च न्यायालय या न्यायालयों में लगातार 100 वर्श तक अधिवक्ता (।कअवबंजम) है

राश्ट्रपति के विचार में एक परंपरागत विधिवेत्ता हो ।

यह अन्तिम उपबन्ध वस्तुतः चुनाव के क्षेत्र को व्यापक बनाने के लिए रखा गया है। बन्ध के अनुसार किसी विष्वविद्यालय में पढ़ाने वाला कोई विख्यात विधिवेत्ता सर्वोच्च य. में न्यायाध ीष के पद पर नियुक्त किया जा सकेगा।

कार्यकाल – सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीष 65 वर्श की अवस्था तक अपने पद पर ते हैं। इससे पहले वह चाहें तो त्यागपत्र दे सकता है। कदाचार एवं असमर्थता के संसद महाभियोग पारित कर न्यायाधीषों को पदच्युत कर सकती है। यदि संसद के दन अपने अलग–अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत में उपस्थित व में भाग लेने वाले सदस्यों के 2ध्3 बहुमत से किसी न्यायाधीष को हटाना होगा ।अर्थ है किं संसद के प्रस्ताव से ही न्यायाधीष नहीं हट जाता उसे हटाने का आदेष जारी करता है। न्यायाधीष को हटाने का प्रस्ताव एक ही सत्र में पास होना चाहिए। ष को अपने बचाव के लिए स्वयं पैरवी करने या वकील के माध्यम से पैरवी करने का र हैः

भारत में अब तक केवल एक बार 1992–93 में सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीष स्वामी के विरूद्ध संसद में महाभियोग प्रस्ताव लाया गया लेकिन जब संसद में अस पर विचार चल रहा था, तभी षासक दल के द्वारा वापस ले लिया गया। इस प्रकार के संवैधानिक इतिहास में अब तक किसी न्यायाधीष के विरूद्ध महाभियोग का प्रस्ताव नहीं किया गया है।

वेतन, भत्ते और अन्य सुविधाएँ – संविधान के अनुच्छेद 125 के अनुसार सर्वोच्च य के न्यायाध ीषों को ऐसे वेतन दिए जाएंगे जो संसद कानून द्वारा कानून द्वारा निध करें। ये वेतन तथा भत्ते भारत की संचित निधि से दिये जाते हैं और न्यायाधीष के कार्यकाल में 'उनके वेतन तथा भत्ते में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। संविधान के अनुसार मुख्य न्यायाधीष को 1,00,000 तथा अन्य न्यायाधीषों को 90,000 रू० प्रतिमाह वेतन मिलता है। इसके अतिरिक्त उन्हें निःषुल्क निवास स्थान, मासिक भत्ते, यात्रा भत्ता, मनोरंजन भत्ता, स्टॉफ कार, सीमित मात्रा में पैट्रोल तथा कुछ आवष्यक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीषों पर यह प्रतिबंध लगाया गया है कि अवकाष प्राप्ति के लिए बाद में भारत के किसी अन्य न्यायालय में या किसी अधिकारी के अधीन वकालत नहीं कर सकेंगे। किन्तु सरकार किसी अवकाष प्राप्त न्यायाधीष को विषिश्ट कार्य पर लगा सकती है।

षपथग्रहण – प्रत्येक न्यायाधीष को पद ग्रहण करते समय राश्ट्रपति के समक्ष या राश्ट्रपति द्वारा नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष षपथ लेनी पड़ती है कि, "मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निश्ठा रखूंगा तथा मैं सम्यक प्रकार से और श्रद्धापूर्वक तथा अपनी पूरी योग्यता, ज्ञान और विवेक से अपने पद के कर्तव्यों को भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेश के बिना पालन करूँगा तथा में संविधान और विधियों की मर्यादा बनाए रखूँगा।''

सर्वोच्च न्यायालय का स्थान – सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान कार्यालय दिल्ली में है किन्तु राश्ट्रपति के अनुमोदन से भारत का मुख्य न्यायाधीष समय–समय पर न्यायालय की बैठक अन्य स्थानों पर भी कर सकता है। अब तक हैदराबाद और श्रीनगर में ऐसी बैठकें हो चुकी हैं !

1. कर्मचारी वर्ग– सर्वोच्च न्यायालय की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए संविधान निर्माताओं ने सर्वोच्च न्यायालय को अपना प्रथक कर्मचारी वर्ग रखने की तथा उस पर पूर्ण नियंत्रण करने की षक्ति दी है। न्यायालय के पदाधिकारी एवं कर्मचारियों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीष या

उसके द्वारा नामित किसी अन्य न्यायाधीष अथवा प्राधिकारी द्वारा की जाती है। उनकी सेवा की षर्तें भी न्यायालय द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

उन्मुक्तियाँ– न्यायाधीष को अपने सभी कार्यों और निर्णयों के लिए आलोचना से मुक्ति प्रदान की गई है। इसका अर्थ है कि न्यायालय के निर्णय अथवा किसी न्यायाधीष के मत का आलोचनात्मक विष्लेशण नहीं किया जा सकता। जिस बात का निषेध किया गया है वह केवल यह है कि निर्णयों को देने के सम्बन्ध में न्यायाधीषों की ईमानदारी में संदेह व्यक्त नहीं किया जा सकता। संसद के द्वारा भी महाभियोग के प्रस्ताव पर विचार करने के अतिरिक्त अन्य किसी समय पर न्यायाधीषों के आचरण पर विचार नहीं किया जा सकता।

न्यायालय की कार्यविधि – सर्वोच्च न्यायालय की कार्यविधि के सम्बन्ध में संविध न में कुछ व्यवस्थाएँ की गई हैं। इसके अलावा संविधान भारतीय संसद को भी इस बारे में कानून बनाने का अधिकार देता है षेश बातों में सर्वोच्च न्यायालय खुद ही राश्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करके अपनी कार्यप्रणाली सम्बन्धी नियम बना सकता है। संविधान में न्यायालय की कार्यप्रणाली के बारे में निम्नलिखित बातें दी गई हैं

(1) जिन बातों का संबन्ध संविधान की व्याख्या से हो या जिनके अन्तर्गत संवैध गानिक प्रष्न उलझा हो या जिनमें कानून के अर्थ को स्पश्ट करने की जरूरत हो या जिन विशयों पर विचार करने का कार्य भारत के राश्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा हों, उनकी सुनवाई उच्चतम न्यायालय के कम से कम 5 न्यायाधीषों द्वारा की जाएगी। (2) सर्वोच्च न्यायालय के सामने किसी ऐसे मुकदमें की अपील रखी जा सकती है जिसकी सुनवाई के बाद यह विचार किया जाये कि इसमें संविधान की व्याख्या करना जरूरी है या कानून के अर्थ को तात्विक

रूप से प्रकट करना होगा। इस प्रकार के वाद–विवाद प्रारम्भ में 5 से कम न्यायाधीषों के सामने रखे जा सकते हैं लेकिन यदि वह जाहिर हो जाए कि इसमें संविधान की व्याख्या या कानून के रूप का स्पश्टीकरण होना आवष्यक है तो उसे कम–से–कम 5 न्यायाधीषों के सामने रखा जायेगा और इसकी व्याख्या के अनुसार ही निर्णय होगा। (3) सर्वोच्च न्यायालय के सभी फैसले खुली अदालत में सुनाये जायेंगे। (4) सर्वोच्च न्यायालय के फैसले बहुमत के आधार पर होंगे । बहुमत के आधार पर होंगे। बहुमत की राय से सहमत न होने वाला न्यायाधीष अलग निर्णय दे सकता है। लेकिन बहुमत का ही निर्णय मान्य होगा । (5) 42 वें संविधान संषोधन द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि जब न्यायाधीष किसी कानून की वैधानिकता के प्रष्न पर विचार करेगा तो कम से कम 5 न्यायाधीष बैठेंगे और 1⁄3 बहुमत से दिया गया फैसला मान्य. होगा ।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। यह विष्व के सभी न्यायालयों से अधिक षक्तिषाली है इतना व्यापक क्षेत्राधिकार किसी अन्य न्यायालय को हो । इसमें क्षेत्राधिकारी को तीन भागों में रखा जा सकता है–

(1) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (2) अपीलीय क्षेत्राधिकार (3) परामर्षीय क्षेत्राधिकार ।

ॆ (2) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार, (व्तपहपदंस) सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक एकमेव

क्षेत्राधिकार को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है

(अ) प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार, (व्तपहपदंस म्•बसनेपअम श्रनतपेकपबजपवद) – प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार का अर्थ उन विवादों से है जिनकी सुनवाई भारत के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की जा सकती है। उन्हें इससे पूर्व किसी अन्य न्यायालय में पेष नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के विवाद निम्नलिखित हैं

(1) भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्य और दूसरी तरफ या एक से अधि

क राज्यों के बीच विवाद ।

(2) एक तरफ भारत सरकार और एक या एक से अधिक राज्य और दूसरी तरफ एक या

एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद ।

(3) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच ऐसे विवाद जिनका सम्बन्ध किसी तथ्य एवं विधि ा सम्बन्धी प्रष्न से हो और जिसका प्रभाव किसी विधि के अधिकार पर पड़ता है। व्यक्तियों, समुदायों तथा स्थानीय निकायों से सम्बन्धित विवादों में सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं है।

(ब) समवर्ती प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (ब्वदबनततमदज व्तपहपदंस श्रनतपेकपबजपवद) मौलिक अधिकार सम्बन्धी विवाद में सर्वोच्च न्यायालय के साथ–साथ यह अधिकार उच्च न्यायालयों को भी प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 32 (1) द्वारा विषेश रूप से सर्वोच्च न्यायालय के उत्तरदायी ठहराया गया है कि वह ''मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए समुचित कार्यवाही करे।'' सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेष, प्रतिषेध, उत्प्रेरण और अधिकार पष्च्छा का लेख निकाल सकता है।

(2) अपीलीय क्षेत्राधिकार (।चचमससंजम श्रनतपेकपबजपवद) – सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के साथ–साथ संविधान ने समस्त राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरूद्ध अपील सुनने का भी अधिकार प्रदान किया है। अपीलीय क्षेत्राधिकारी को

1. सर्वोच्च न्यायालय के

. न्यायाधीषों के कार्यकाल और पदच्युति की प्रक्रिया स्पश्ट

करें।

2. सर्वोच्च न्यायालय के अपालीय क्षेत्राधिकार क्या है?

निम्नलिखित चार वर्गों में बाँटा जा सकता है

(अं) असंवैधानिक (ब्वदेजपजपवदंस) – संविधान अनुच्छेद 132 के अनुसार, ''यदि उच्च न्यायालयं यह प्रमाणित कर दे कि विवाद संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई सारमय प्रष्न अर्न्तग्रस्त है, तो उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है। ''यदि राज्य के उच्च न्यायालय ने ऐसा प्रमाण–पत्रा देना अस्वीकार कर दिया है तो सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह ऐसी अपील की अनुमति प्रदान कर सकता है यदि उसको यह विष्वास है कि उस विशय में संविधान की व्याख्या का कोई महत्वपूर्ण प्रष्न निहित है।

(ब) दीवानी (ब्पअपस) – संविधान की मूल व्यवस्था के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय मैं उन्हीं दीवानी विवादों की अपील की जा सकती थी जिनका सम्बन्ध 20 हजार रुपये की नराषि या जायदाद से हो तथा सर्वोच्च न्यायालय में तत्सम्बन्धी प्रमाण–पत्र दिया गया हो। सन् 1970 में संसद के अधिनियम द्वारा धनराषि को बढ़ाकर 1 लाख रूपये कर दिया लेकिन विधि ा आयोग ने दीवानी विवादों में धनराषि की इस समय सीमा को हटा देने का सुझाव दिया । फलस्वरूप संविधान में 30वां संषोधन सन् 1972 में किया गया। और धन सम्बन्धी सीमा हटा दी गई। इसके अनुसार अनुच्छेद 133 को संषोधित करते हुए यह व्यवस्था की गई कि उन समस्त विवादों की सर्वोच्च न्यायालय में अपील हो सकेगी जिनके बारे में उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि इस विवाद में विधि की व्याख्या सम्बन्धी सारभूत प्रष्न निहित है।

(स) फौजदारी (ब्तपउपदंस) – फौजदारी विवादों में उच्च न्यायालयों के निर्णयों की अपील निम्नलिखित परिस्थितियों में की जा सकती है यदि –

(1) उच्च न्यायालय में अपील प्रस्तुत होने पर किसी व्यक्ति की उन्मुक्ति का आदेष रद्द कर उसे मष्त्युदंड दे दिया हो। (2) उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालय से अभियोग विचारार्थ अपने पास मंगवाकर अभियुक्त को मष्त्युदण्ड दिया हो (3) उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विचार के योग्य है।

(द) विषिश्ट ैचमबपंस) यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 132 से 134 तक उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की व्यवस्था है फिर भी कुछ मामलों ऐसे हो सकते हैं जो इनके अन्तर्गत नहीं आते अतः अनुच्छेद 136 की व्यवस्था की गई है जिसके अनुसार, ''इस सम्बन्ध में किसी भी उपबन्ध के होते हुए सर्वोच्च न्यायालय भारत के किसी भी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण द्वारा लिए गए निर्णय, आज्ञाप्ति, निर्धारण, दण्ड या आदेष के विरूद्ध अपील करने की अनुमति प्रदान कर सकता है।'' इसका एकमात्र अपवाद सषस्त्र सेना से सम्बन्ध कानून के अधीन स्थापित न्यायालय के निर्णय है। सैनिक न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है।

सर्वोच्च न्यायालय को राश्ट्रपति, उपराश्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष, और प्रधानमंत्री सहित भारतीय संघ के सभी पदाधिकारियों के चुनाव सम्बन्धी विवादों पर निर्णय देने का अधिकार प्राप्त है।

(3) परामर्षीय क्षेत्राधिकार (।कअपेवतल श्रनतपेकपबजपवद) – संविधान सर्वोच्च न्यायालय को परामर्ष देने का भी अधिकार देता है। अनुच्छेद 143 के अनुसार यदि किसी समय राश्ट्रपति यह महसूस करता है कि कानून का एक ऐसा प्रष्न पैदा हो गया है जो सार्वजनिक महत्व का है तो वह उस प्रष्न पर सर्वोच्च न्यायालय की राय मांग सकता है ऐसी स्थिति में न्यायालय का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह परामर्ष दे परन्तु परामर्ष को स्वीकार करना या न करना राश्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर है।

अनुच्छेद 143 (2) राश्ट्रपति को यह अधिकार देता है कि वह संविधान लागू होने से पूर्व की किसी संधि, इकारार नामा आदि के सम्बन्ध में उठे विवादों को इस न्यायालय के पास ' उनकी सम्मति जानने के लिए भेज सके। ऐसे विवादों में न्यायालय को परामर्ष देना अनिवार्य : है परन्तु उसको मानना या न मानना राश्ट्रपति पर निर्भर है।

इस क्षेत्र के बारे में प्रो० पायली ने लिखा है, ''उच्चतम न्यायालय का परामर्ष सम्बन्ध क्षेत्राधि िाकार मुकदमेबाजी को रोकने और उसे काफी देने समय तक कम करने में सहायक होता है।''

इन कार्यों के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय के कुछ और भी कार्य हैं–

(अ) अभिलेख न्यायालय अनुच्छेद 129 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को अभिलेख न्यायालय माना गया है। अभिलेख न्यायालय के दो अर्थ हैं–––

(1) इस न्यायालय के अभिलेख सब जगह साक्षी के रूप में स्वीकार किये जायेंगे और किसी भी न्यायालय में प्रस्तुत किए जाने पर उनकी प्राथमिकता के विशय में प्रष्न नहीं उठाया जायेगा।

(पप) जब विधि द्वारा न्यायालय को अभिलेख न्यायालय बना दिया जाता है तो उससे वह न्यायालय अवमानना (ब्वदजमउचज व ब्विनतज) के लिए दण्ड देने का अधिकार प्राप्त कर लेता है। सर्वोच्च न्यायालय अवमान के लिए दण्ड देने का अधिकार संविधान द्वारा विषेश रूप से स्वीकार किया गया है।

(ब) पुनर्विचार की षक्ति – अनुच्छेद 137 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को अपने निर्णयों, अपीलों के आदेषों के पुनर्विचार का अधिकार है। यदि सर्वोच्च न्यायालय को यह सन्देह हो

कि निर्णय से किसी पक्ष के साथ अन्याय हुआ है या कोई नवीन तथ्य प्रकाष में आया है। तो आवष्यकतानुसार पुनः सर्वोच्च न्यायालय अपने निर्णयों पर पुनर्विचार कर सकता है।

(स) संविधान का रक्षक

संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के संरक्षण का कार्य सौपा गया है इसका अर्थ है कि सर्वोच्च न्यायालय को कानून की वैधता की जाँच का अधिकार हैं अनुच्छेद 131 व 132 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को संघीय तथा राज्य सरकारों द्वारा निर्मित विधियों के पुनर्विलोकन का अधिकार है यदि संघीय संसद या राज्य विधान मण्डल कोई ऐसा कानून बना देता है जो संविधान के विरूद्ध है या मौलिक अधि कारों के विरूद्ध है तो सर्वोच्च न्यायालय उस कानून को उसी सीमा तक अवैध घोशित कर सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार में वर्षद्धि अनुच्छेद 138 द्वारा संसद को यह अधि कार दिया गया है कि वह विधि द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार में वर्षद्धि कर सकती है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता एक स्वतंत्रा और निश्पक्ष न्यायपालिका से जनता न्याय की आषा करती है। यही जनता की कार्यकारिणी व व्यवस्थापन अत्याचारों से सुरक्षा करती है। जनता को इससे बड़ी आषाएं रहती है। भारत में भी न्यायपालिका को स्वतंत्र रखने का यथा सम्भव प्रयत्न किया गया है। निम्नलिखित बातें इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य हैं

(1) नियुक्ति की विधि – न्यायाधीषों की नियुक्ति राश्ट्रपति करता है जो नियुक्त करते समय मुख्य न्यायाधीष व अन्य न्यायाधीषों से भी राय लेता है। राश्ट्रपति इस बात की पूरी जाँच कर लेता है कि योग्य व्यक्ति ही न्यायाधीष नियुक्त हों ।

(2) लम्बा कार्यकाल – सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीष 65 वर्श की उम्र तक पदासीन रहते हैं। उन्हें एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के द्वारा उनके पद से हटाया नहीं जा सकता है। उनके हटाने की प्रक्रिया बहुत कठिन है। संसद के दोनों सदनों में उपस्थित तथा : मतदान करने वालों के 2ध्3 बहुमत से ही उन्हें हटाया जा सकता है। इससे न्यायाधीषों उनके पद की सुरक्षा मिलती है।

(3) पर्याप्त वेतन न्यायाधीषों को सम्मानित जीवन बिताने के लिए काफी वेतन मिलता है यह वेतन उनके कार्यकाल के दौरान कम नहीं किया जा सकता है। उनका वेतन संचित निधि ा से दिया जाता है जिस पर संसद का नियंत्रण होता है। अतः उन्हें वेतन व भत्तों की सुरक्षा प्राप्त होती है।

(4) कार्य प्रणाली सम्बन्धी नियम बनाने की षक्ति न्यायालय को अपनी कार्यप्रणाली स्वयं तय करने का अधिकार है परन्तु ये नियम संसद द्वारा बनाये गए कानून और संविधान की व्यवस्थाओं के अधीन बनाए जाते हैं। राश्ट्र पति उनका अनुमोदन करता है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय पूरे भारत के भीतर सभी न्यायालयों को मान्य होते हैं।

(5) अपने कर्मचारियों की नियुक्ति

सर्वोच्च न्यायालय अपने कर्मचारियों की नियंक्ति स्वयं करता है। इन कर्मचारियों की सेवा षर्तें भी वही तय करता है। वह अपने समस्त कर्मचारियों पर अनुषासनात्मक नियंत्रण रखता है ।

अवकाष ग्रहण करने के बाद वकालत पर प्रतिबंध (6)

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीष अवकाष ग्रहण करने पर न तो सर्वोच्च न्यायालय में वकालत कर सकते हैं और न ही किसी अन्य न्यायालय में हाँ उनकी सेवाएं विषेश जांच के लिए ली जा सकती हैं।

(7) उन्मुक्तियाँ – न्यायाधीषों के अधिकारिक तौर पर किये गये कार्यों व निर्णयों की आलोचना नहीं की जा सकती। एसा करना न्यायालय का अपमान करना माना जाता है।

(8) पेंषन की व्यवस्था. अवकाष ग्रहण करने पर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाध षों को आजीवन पेंषन दी जाती है। इस कदम ने उनके भविश्य को सुरक्षित बना दिया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सवोच्च न्यायालय की स्वतंत्रता व निश्पक्षता को कायम रखने का हर सम्भव प्रयास किया जाता है। इस प्रकार भारत का सर्वोच्च न्यायालय अत्यधि ाक षक्तिषाली व निश्पक्ष है।

न्यायिक अवलोकन का तात्पर्य

न्यायिक पुनर्विलोकन अथवा न्यायिक समीक्षा अंग्रेजी भाशा के जस्टिस के श्रनकपबपंस त्मअपमू का हिन्दी अनुवाद है। इसका अभिप्राय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान तथा उसकी सर्वोच्चता की रक्षा करने की व्यवस्था से है। दूसरे षब्दों में इसका तात्पर्य यह है कि न्यायालय की व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों और कार्यपालिका के आदेषों को संवैध ाानिक निष्चितता करने का अधिकार प्राप्त होता है यदि संघीय या राज्य विधान मण्डलों द्वारा संविधान का अतिक्रमण किया जाता है या मौलिक अधिकारों के विरूद्धं कानूनों का निर्माण किया जाता है तो संघीय संसद या राज्य विधान मंण्डल द्वारा निर्मित ऐसी प्रत्येक विधि अथवा संघीय या राज्य प्रषासन द्वारा किए गए प्रत्येक कार्य को सर्वोच्च न्यायालय अवैधानिक घोशित कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की इस षक्ति को ही न्यायिक पुनर्विलोकन की षक्ति कहा जाता है। राज्यों के सम्बन्ध में इस षक्ति का प्रयोग उच्च न्यायालय के द्वारा किया जा सकता है।

न्यायिक पुनर्विलोकन का आधार संयुक्त राज्य अमेरिका में संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्तों को अपनाया था। वास्तव में न्यायिक पुनर्विलोकन अमेरिका की देन है । यद्यपि अमरीकी संविधान में कहीं भी स्पश्ट रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन की षक्ति नहीं दी गई फिर भी संविधान में कहीं भी स्पश्ट रूप से न्यायिक पुनर्विलोकन की षक्ति नहीं दी. गई फिर भी संविधान के अनुच्छेद 80 के षब्दों की व्याख्या करते हुए न्यायालय ने यह षक्ति प्राप्त कर ली है। 1803 में माखरी बनाम मैडीसन के मामले में निर्णय देते हुए अमरीकन उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीष मार्षल ने कहा था, ''संविधान देष का सर्वोच्च और मूलभूत कानून है। कोई भी अधिनियम जो संविधान के विरूद्ध है, असंवैधानिक घोशित किया जा सकता है'' इस निर्णय के बाद से उच्चतम न्यायालय निरन्तर इस अधिकार का प्रयोग करता आ रहा है।

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था – भारतीय संविधान में भी संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है तथा स्वयं संविधान में इसकी घोशणा कर दी गई है। भारत में षासन के सभी अंग अपनी षक्तियाँ भी संविधान द्वारा निर्धारित हैं अतः न्यायालय को उन सीमाओं का संरक्षक बनाया गया है। न्यायामूर्ति बी. के. मुकर्जी के अनुसार, ''भारत में संविधान ही सर्वोच्च है और संसद तथा राज्यों में विधानमण्डलों को न केवल संविध आन में सातवीं अनुसूची में दी गई सूचियों द्वारा सीमांकित अपने–अपने क्षेत्रों के अन्दर रहकर काम करना होगा, अपितु संविधान के भाग 3 में नागरिकों को कुद मौलिक अधिकारों की गारन्टी दी गई है। विधायी सत्रा जिनका उल्लंघन किसी भी दषा में नहीं कर सकती। किसी अधि नियम के वैध होने के लिए यह आवष्यक है कि वह सब मामलों में संवैध ाानिक षर्तों के अनुरूप हो और यह निर्णय करना न्यायपालिका का काम है कि अमुक अधि ानियम असंवैधानिक हैं अथवा नहीं।''

इस प्रकार स्पश्ट है कि न्यायिक पुनर्विलोकन षक्ति का तात्पर्य है– कानूनों को देखना कि वे संविधान के अनुकूल हैं अथवा प्रतिकूल और यदि प्रतिकूल हैं तो उन्हें असवैधानिक घोशित करके लागू होने से रोकना । यह बात मन्त्रिपरिशद के कार्यों और आदेषों पर लागू होती है ।

□

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 131 और 132 उच्चतम न्यायालय को संघीय तथा राज्य सरकारों द्वारा निर्मित कानूनों के पुनरावलोकन का अधिकार देते हैं इसके अतिरिक्त संविध ाान के अनुच्छेद 13 और 32 मौलिक अधिकारों के बारे में उच्चतम न्यायालय को ऐसी ही षक्ति प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 246 व 254 का भी उल्लेख किया जाना आवष्यक है जिनके द्वारा केन्द्र और राज्यों में विधि निर्माण की षक्तियों के विभाजन को निष्चित षक्तियों के विभाजन को निष्चित किया गया है– संघात्मक षासन के नागरिकों के मौलिक अधिकार । उच्चतम न्यायालय को इन दोनों स्थितियों को बहाल रखने के लिए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को नियंत्रण करने का अधिकार प्राप्त है ।

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन : प्रकृति और सीमाएँ

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्रा इतना व्यापक नहीं है जितना कि संयुक्त राज्य अमेरिका में है। इसके निम्नलिखित कारण हैं

(1) अमरीकी संविधान अत्यधिक संक्षिप्त है और संविधान की इस संक्षिप्तता के कारण संघीय षासन और इकाइयों के बीच विभिन्न प्रकार के विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनर्वाविलोकन षक्ति के क्षेत्र इसलिए अपेक्षाकृ त सीमित है कि भारत के संविधान में संघ और राज्यों के मध्य संघर्श की स्थिति को

कम करने के लिए एक समवर्ती सूची की व्यवस्था की गई है। इन विस्तष्त उपबन्धों के कारण– न्यायायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्रा सीमित हो गया है।

(2) अमेरिका का अधिकार–पत्र निरपेक्ष षब्दावली में लिखा गया है। इन अधि कारों के क्षेत्रा की व्याख्या करते हुए पुलिस षक्ति और सामान्य कल्याण जैसे षब्दों को आश्रय लिया गया है। कार्यपालिका पुलिस षक्ति' और 'सामान्य कल्याण' के आधार पर अधिकार की सीमा निष्चित कर सकती और सर्वोच्च इस बात की जांच करता है कि कार्यपालिका ने अपनी षक्ति का प्रयोग उचित रूप में किया अथवा नहीं। इस प्रकार अमरीकी संविधान के 'पुलिस षक्ति' और 'सामान्य कल्याण जैसे षब्दों ने सवोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को बहुत व्यापक कर दिया है। भारतीय संविधान में दिये गये मौलिक अधिकार निरपेक्ष नहीं हैं। अधि ाकारों के साथ उनकी सीमाओं का भी उल्लेख है ।

(3) भारत की अमेरिका की न्यायिक पुनर्विलोकन की पद्धति में भी अन्तर है । अमेरिका में विधि की उचित प्रक्रिया के सिद्धान्त को अपनाकर इस पुनरावलोकन का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक बना दिया है परन्तु भारत में विधि राज्य स्थापित प्रक्रिया को अपनाया गया है। इसका अर्थ है कि न्यायालय संघ अथवा राज्यों द्वारा निर्मित कानून को तभी असंवैधानिक घोशित कर सकता है जबकि सम्बन्धित विधानमण्डल ने इस कानून का निर्माण करने में, संविध

न द्वारा प्रदान की गई अपनी कानून निर्माण क्षमता का उल्लंघन किया हो ।

न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना – सर्वोच्च ने अपने इस अधिकार का प्रयोग सामान्यतः विवेकपूर्ण ढंग से कार्य किया है किन्तु 1969 ई. में गोकुलनाथ विवाद के निर्णय से लेकर 1971 ई. तक ऐसी प्रवषत्तियाँ उभरी जिनकी आलोचना की कई है। इनमें से मुख निम्नलिखित हैं

(1) अनुदारवादी षक्ति के रूप में कार्य न्यायालय ने अनेक निर्णयों द्वारा सरकार द्वारा सम्पत्ति के सम्बन्ध में बनाये गये प्रगतिषील तथा जन कल्याणकारी कानूनों को असंवैधानिक घोशित कर अनुदारवादी संस्था के रूप में कार्य किया है। विषेशतः 1950–51 में जमींदारी उन्मूलन को रद्द करना, कुन्हीकोनम मामले में कृशि अधिनियम को अवैध घोशित करना, गोकुलनाथ मामले में निर्णय, बैंक राष्ट्रीयकरण व प्रिवीपर्स उन्मूलन को असंवैधानिक घोशित करना आदि ।

(2) सर्वोच्च न्यायालय को अपने पूर्व निर्णयों में परिवर्तन □ यद्यपि न्यायालय को अपने पूर्व निर्णयों में परिवर्तन का अधिकार हैं और कुछ सीमा तक यह आवष्यक भी है । परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पूर्व निर्णयों में अधिक परिवर्तन किये कि इससे सम्पूर्ण संवैधानिक विधि ा के संदर्भ में भ्रम और अस्पश्टता को जन्म मिला। उदाहरणार्थ –

(1) षंकर प्रसाद व सज्जन सिंह षेखावत मामलों के निर्णय, 1967 ई. गोकुल नाथ मामले में बदले गये। तथा गोकुलनाथ मामले के निर्णय को 1973 ई. में केषवानन्द मामले में उलट दिया गया (पप) 1967 ई. में गुजराज राज्य बनाम षान्तिमल मंगलदास मामले के निर्णय को 1969 ई. में ही बैंक का राश्ट्रीयकरण अधिनियम के संदर्भ में बदल दिया गया ।

चवाम 1967–71 के कार्यकाल में का प्रयोग किया, उसमें संवैधानिक

(3) संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण न्यायालय ने जिस प्रकार न्यायिक पुनर्विलोकन की षक्ति सीमाओं का अतिक्रमण हुआ तथा न्यायालय ने भारत की अदा करने की कोषिष की जो संविधान निर्माता उसे देना नहीं चाहते थे।

(4) राजनीतिक व्यवस्था में वह भूमिका

सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता – न्यायिक

पुनर्विलोकन के कारण इस बात का निरन्तर भय रहता है कि कोई नीति किसी भी स्थिति या स्तर पर संवैधानिक घोशित की जा सकती है। अतः उपर्युक्त क्षेत्रों में अस्थिरता को जन्म मिलता है तथा विकास व परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र नहीं हो पाती।

न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व

. उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद इस अवस्था की महत्ता एवं आवष्यकता को नकारा नहीं जा सकता अपने इस अधिकार के कारण न्यायालय ने संविधान के व्याखाता तथा रक्षक की भूमिका का प्रभावी ढंग से निर्वाह किया है तथा षासन की षक्ति पर अंकुष लगाने एवं व्यक्ति के अधिकारों और स्वतंत्रता की रक्षा करने में सफलता प्राप्त की है।

'संविधान के 42 वे संषोधन में 1976 द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार को सीमित कर दिया गया था परन्तु 1977 ई. में 42 संषोधन द्वारा उन सीमाओं को समाप्त कर 42वें संविधान संषोधन के पूर्व की स्थिति की पुर्नस्थापना की ।

हमारी न्याय व्यवस्था न्याय की परम्परागत धारणा पर आधारित रही है। इस धारण के अनुसार न्यायालयों को कार्य है– उनके सामने आने वाले विवादों का कानूनों के अनुसार फैसला देना, संविधान की रक्षा करना, नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करना । न्यायालय का मुख्य कार्य उन विवादों का निर्णय करना है जो इसके समक्ष लाये जाते हैं। भारत में संविधान लागू होने के बाद लगभग 3 दषक तक परम्परागत धारणा के अनुरूप ही न्यायापालिका मकार्य करती रही। परन्तु परिवर्तन और गतिषीलता प्राकृतिक नियम है। अतः राज व्यवस्था में इस तथ्य का होना स्वाभाविक है। 1970 ई. के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ बनीं जिनके आधार पर न्यायानीषों और समस्त न्यायधीषों और समस्त न्याय व्यवस्था से जुड़ा वर्ग यह सोचने के लिए बाध्य हुआ कि कानून को अधिक सक्रिय होना चाहिए तथा संविधान की आत्मा की रक्षा के लिए कानूनी प्रक्रियाओं के दायरे से बाहर निकलकर अधि ाक सक्रियता से कार्य करना चाहिए। दूसरे षब्दों में, परम्परागत धारणा के स्थान पर संविध ाान की रचनात्मक व्याख्या का मार्ग अपनाया जाना चाहिए।

यदि हमारी व्यस्थापिकायें और कार्यपालिकायें अपने कत्तव्यों के प्रति जागरूक बनी. रहती है, तथा सविधान के आदर्शों के प्रति आस्था और जनहित के प्रति संवेदनषील बनी रहतीं और वे सामयिक निर्णय लेतीं तो षायद न्यायिक सक्रियता की स्थिति उत्पन्न नहीं होती परन्तु विधायिका और कार्यपालिका का अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन होना ही न्यायिक सक्रियता

का कारण बना। बीसवीं सदी के अन्तिम दषक के अधिकांष पदाधिकारी भ्रश्टाचार में लिप्त रहे। पदाधिकारियों पर कारोड़ो अरबों रूपये की धनराषि से सम्बन्धित आरोप लगे।

दूसरी और महारथियों के रोकथाम का प्रष्न या पर्यावरण की रक्षा या सामान्य कानून और व्यवस्था का प्रष्न सभी मामलों में कार्यपालिका असफल रही ऐसी स्थिति में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों द्वारा कार्यपालिका को कर्तव्य पालन के लिए निर्देष दिये जाने लगे। 1980 ई. के आस पास न्यायिक सक्रियता का उदय हुआ। 20वीं सदी के अन्तिम दषक में तो न्यायिक सक्रियतावाद 'भारतीय संविधान और राज व्यवस्था का एक प्रमुख तत्व बन गया ।

आधुनिक भारतीय इतिहास में सन् 1995 में विभिन्न प्रकार के घोटालों के प्रकाष में आने तथा विधायिका एवं कार्यपालिका के अक्षमताओं पर न्यायपालिका द्वारा किए गए प्रहारों के लिए याद किये जायेंगे। इस दौरान देष में न्यायिक सक्रियता पर वाद–विवाद होते रहे हैं। जन–साधारण उत्साहित हुआ है तथा भश्ट प्रषासकों की मण्डली में बैचेनी दिखाई दी है। वस्तुतः न्यायिक सक्रियता कोई नवीन अवधारणा नहीं है बल्कि भारत में इन दिनों विभिन्न प्रकार स्वप्रगति की जाँच करें : 3. सर्वोच्च न्यायालय को संविधान का रक्षक क्यों कहा जाता है?

4. भारतीय संविधान के कौन से अनुच्छेद उच्चतम न्यायालय को संघीय तथा राज्य सरकारों द्वारा निर्मित कानूनों के पुनरावलोकन का अधिकार देता है।

ै के जनहित याचिकाएँ तथा राजनीतिक– प्रषासनिक अनैतिकता से सम्बद्ध अनेक मुकदमें उच्चतम न्यायालय के समक्ष विचारार्थ आये और न्यायाधीषों ने उनके निस्तारण के क्रम में निश्पक्षता तथा गम्भीरता प्रदर्षित करते हुए व्यवस्था में व्याप्त न्यूनताओं पर कड़े प्रहार किये तो राजनेताओं तथा प्रषासकों में घबड़ाहट व्याप्त हुई ।

न्यायिक सक्रियता (श्रनकपबपंस ।बजपेउ) का अर्थ सक्रियता के अर्थ को परिभाशित करते हुए बेवेस्टर न्यू 20वीं सदी डिक्षनरी में कहा गया है, ''किसी कार्य का निर्णय अथवा सक्रियता के साथ सम्पन्न करने की नीति या मान्यता सक्रियता कहलाती है'' जब यही सक्रियता न्यायपालिका में देखने को मिले तो इसे न्यायिक सक्रियता कहते हैं। दूसरे षब्दों में न्यायिक सक्रियता का तात्पर्य है, ''संविधान, कानून और अपने दायित्वों के प्रसंग में कानूनी व्याख्या से आगे बढ़कर सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों और न्याय की आवष्यकता को ध्यान में रखते हुए संविधान और कानून की रचनात्मक व्याख्या करते हुए जनसाधारण के हितों की रक्षा के लिए निरंतर प्रयत्नषील रहना ।

इसके अन्तर्गत यह बात सम्मिलित है कि जन–सामान्य के हित की दृश्टि से आवष्यक होने पर षासन को निर्देष देना और षासन की स्वेच्छाचारिता पर अंकुष लगाना न्यायपालिका का दायित्व है। अमेरिका न्यायाधीष जॉन मार्षल को न्यायाधीष जॉन मार्षल को न्यायिक सक्रियता का जनक माना जाता है। उन्होंने 1803 में अमेरिका के उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीष के पद पर कार्यरत रहते हुए 'मरकरी बनाम मैडीसन के मामले में एतिहासिक निर्णय देते हुए न्यायालयों को न्यायिक समीक्षा का अधिकार दिया था। उन्होंने कहा था, ''यह न्याय विभाग का अधिकार क्षेत्र और दायित्व है कि वह यह बताये कि कानून क्या है तथा विषेश मामलों में लागू नियमों की स्पश्ट व्याख्या भी करे तथा संविधान के विरूद्ध यदि है तो उसे अवैध घोशित करे।'' इसी मान्यता को भारत के उच्चतम न्यायालय, राज्यों के उच्च न्यायालय, राज्यों के उच्च न्यायालयों के सक्रियता का परिचय दिया गया है। भारत में न्यायिक सक्रियता के मूल में अनेक कारण निहित हैं जिसमे नौकरषाही तथा राजनीतिज्ञों का मनमाना व्यवहार, त्रस्त जनता द्वारा न्यायपालिका में गुहार स्वयंसेवी संगठनों का प्रयास तथा न्यायाधीषों द्वारा प्रदर्षित निश्पक्षता प्रमुख है। षिक्षा तथा जागरूकता के प्रसार सहित मानवाधिकार और उपभोक्ता संरक्षण प्रवृत्तियों का भी महत्व देखने को

मिलता है लेकिन भारतीय सन्दर्भ में विधायिका व कार्यपालिका द्वारा अपने कार्यों को पूरा नहीं करना है। अतः न्यायपालिका को सक्रिय होना पड़ा है।

भारत में न्यायिक सक्रियता भारत में न्यायाधीष भगवती द्वारा नब्बे के दषक मैं पर्यावरण विशयक प्रकरणों पर प्रदर्षित न्यायिक तत्परता तथा संजयदत्त की टाडा कानून में गिरफ्तारी के वाद के घटना चक्र में नागरिक उत्सुकता बढ़ी तथा न्यायपालिका ने दृढ़तापूर्वक भूमिका निभाई। अनेक ऐसे निर्णय हुए जो भारतीय इतिहास में पहली बार दिखाई दिये । इन निर्णयों में पेट्रोलियम मंत्री कैप्टन षर्मा पर अनियमतापूर्वक पैट्रोल पम्प आवण्टन के आरोप के कारण 50 लाख रूपये का जुर्माना तथा पूर्व षहरी आवास मंत्री श्रीमती षीला कौल पर दुकान आवंटन में 60 लाख का जुर्माना उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाना प्रमुख है। इसी प्रकार प्रभावषाली व्यक्तियों को गिरफ्तारी, आई.ए.एस. तथा आई.पी.एस. अधिकारियों को कैद और आर्थिक दण्ड के अनेक निर्णय न्यायालयों द्वारा लिये गये। न्यायिक सक्रियता के कुछ चर्चित प्रकरण निम्नलिखित है–

(1) झूठा मुकदमा बनाकर एक व्यापारी को तंग करने के आरोम में हरियाणा के आई.पी.एस. अधिकारी को जेल । (2) केन्द्रीय कर्मचारियों बिना बारी के आवास आवंटन की

1 जाँच सी.बी.आई. को निर्देष। (3) 6 माह से अधिक समय से विचाराधीन मामलों के कैदियों को जमानत पर छोड़ने का निर्देष द्य (4) लखू भाई धोखाधड़ी सेन्ट किड्स जालसाजी तथा– ' झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के सांसदों की खरीद फरोख्त में पूर्व प्रधानमंत्री नरसिम्हाराव पर मुकदमा तथा अदालत में पेषी । (5) प्रदूशण फैलाने वाली औद्योगिक इकाइयों को दिल्ली से हटाने का. फैसला (6) बालश्रम पूर्णतः निशिद्ध घोशित । (7) कल्पनाथ राय, सुखराम, चन्द्रास्वामी, लालू प्रसाद यादव तथा जयललिता की गिरफ्तारी । (8) हवाला घोटाला, यूरिया घोटाला तथा पषु चारा घोटाला बिहार में निश्पक्ष जाँच के सी.बी.आई. को आदेष तथा ठिलाई दिखाने पर फटकार । (9) दिल्ली की सफाई व्यवस्था में सुधार न होने पर अधि ाकारियों को फटकार । (10) पुलिस हिरासत में हुई मौत के लिए पुलिस अधीक्षक को उत्तरदायी मानते हुए जेल में भेजा, (मार्च 1997 में अहमदाबाद के अतिरिक्त सेषन जज एम. बी. जानी ने गोधरा जिले के जीवा नामक आदमी के मुकदमे में) ।

न्यायिक सक्रियता की कुछ मान्यताएँ है, जैसे 7 जनहितकारी अभियानों में सक्रियता, कानूनी न्याय के साथ सामाजिक, आर्थिक न्याय पर बल, षासन की स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण तथा षासन को आवष्यक निर्देष देना ।

सारांष – आधुनिक भारतीय इतिहास में सन् 1995 में विभिन्न प्रकार के घोटालों के प्रकाष में आने तथा विधायिका एवं कार्यपालिका के अक्षमताओं पर न्यायपालिका द्वारा किए गए प्रहारों के लिए याद किये जायेंगे। इस दौरान देष में न्यायिक सक्रियता पर वाद–विवाद होते रहे हैं। जन–साधारण उत्साहित हुआ है तथा भश्ट प्रषासकों की मण्डली में बैचेनी दिखाई दी है। वस्तुतः न्यायिक सक्रियता कोई नवीन अवधारणा नहीं है बल्कि भारत में इन दिनों विभिन्न प्रकार के जनहित याचिकाएँ तथा राजनीतिक– प्रषासनिक अनैतिकता से सम्बद्ध अनेक मुकदमें उच्चतम न्यायालय के समक्ष विचारार्थ आये और न्यायाधीषों ने उनके निस्तारण के क्रम में निश्पक्षता तथा गम्भीरता प्रदर्षित करते हुए व्यवस्था में व्याप्त न्यूनताओं पर कड़े प्रहार किये तो राजनेताओं तथा प्रषासकों में घबड़ाहट व्याप्त हुई । स्व प्रगति की जाँच के उत्तर

1. कार्यकाल॒ सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीष 65 वर्श की अवस्था तक अपने पद पर रह सकते हैं। इससे पहले वह चाहें तो त्यागपत्र दे सकता है। कदाचार एवं असमर्थता के कारण संसद महाभियोग पारित कर न्यायाधीषों को पदच्युत कर सकती है। यदि संसद के दोनों सदन अपने अलग–अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत में उपस्थित व मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के 2636 बहुमत से किसी न्यायाधीष को हटाना होगा। इसका अर्थ है कि संसद के प्रस्ताव से ही न्यायाधीष नहीं हट जाता उसे हटाने का आदेष राष्ट्रपति जारी करता है। न्यायाधीष को हटाने का प्रस्ताव एक ही सत्र में पास होना

चाहिए। न्यायाधीष को अपने बचाव के लिए स्वयं पैरवी करने या वकील के माध्यम से पैरवी करने का अधिकार है।

अपीलीय क्षेत्राधिकार (।चचमससंजम श्रनतपेकपबजपवद)

सर्वोच्च न्यायालय को

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के साथ–साथ संविधान ने समस्त राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरूद्ध अपील सुनने का भी अधिकार प्रदान किया है। अपीलीय क्षेत्राधिकारी को निम्नलिखित चार वर्गों में बाँटा जा सकता है

3. संविधान का रक्षक – संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के संरक्षण

का कार्य सौपा गया है इसका अर्थ है कि सर्वोच्च न्यायालय को कानून की वैधता की जाँच

का अधिकार हैं अनुच्छेद 131 व 132 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को संघीय तथा राजप सरकारों द्वारा निर्मित विधियों के पुनर्विलोकन का अधिकार है यदि संघीय संसद या राज्य विधान मण्डल कोई ऐसा कानून बना देता है जो संविधान के विरूद्ध है या मौलिक अधिकारों के विरूद्ध है तो सर्वोच्च न्यायालय उस कानून को उसी सीमा तक अवैध घोशित कर सकता

है ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 131 और 132 उच्चतम न्यायालय को संघीय तथा राज्य सरकारों द्वारा निर्मित कानूनों के पुनरावलोकन का अधिकार देते हैं इसके अतिरिक्त संविध ाान के अनुच्छेद 13 और 32 मौलिक अधिकारों के बारे में उच्चतम न्यायालय को ऐसी ही षक्ति प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 246 व 254 का भी उल्लेख किया जाना आवष्यक है जिनके द्वारा केन्द्र और राज्यों में विधि निर्माण की षक्तियों के विभाजन को निष्चित षक्तियों के विभाजन को निष्चित किया गया है– संघात्मक षासन के नागरिकों के मौलिक अधिकार द्य उच्चतम न्यायालय को इन दोनों स्थितियों को बहाल रखने के लिए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को नियंत्रण करने का अधिकार प्राप्त है।

अभ्यास–प्रष्न

सर्वोच्च न्यायालय के गठन एवं कार्यों तथा षक्तियों की समीक्षा कीजिए।

न्यायाधीषों की नियुक्ति की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए

सर्वोच्च यायालय के क्षेत्राधिकारों का विस्तार से उल्लेख करें ।

न्यायिक पुनर्विलोकन के महत्व की विवेचना करें।

इकाई 14

राज्यपाल एवं राज्य विधान मण्डल

इस अध्याय के अंतर्गत :

परिचय

राज्यपाल की नियुक्ति, अर्हताएँ एवं इनकी नियुक्तियों के सम्बन्ध में कुछ परम्पराएँ

राज्यपाल की षक्तियाँ एवं इनके लिए निर्देष – पत्र

राज्यपाल के राश्ट्रपति के साथ सम्बन्ध

अध्ययन के उद्देष्य

इस अध्याय के अध्ययन के पष्चात आप

: राज्यपाल की नियुक्ति अर्हताएँ एवं इनकी नियुक्तियों के सम्बन्ध में

कुछ परम्पराएँ

: राज्यपाल की षक्तियाँ एवं इनके लिए निर्देष – पत्र

राज्यपाल के राश्ट्रपति के साथ सम्बन्ध अर्थात राज्यपाल केन्द्रीय अभिकर्ता की भूमिका में

परिचय

भारतीय संघ में केन्द्र की तरह राज्यों के षासन–व्यवस्था भी संसदीय है और सभी राज्यों का प्रषासनिक ढाँचा लगभग वैसा ही है जैसा केन्द्र में। केन्द्र में राश्ट्रपति, मंत्रिपरिशद्, संसद और उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था है तथा राज्यों में राज्यपाल, मंत्रि–परिशद्, विधा नं– मण्डल (जहाँ एक सदन हो वहाँ विधानसभा) और उच्च न्यायालय की व्यवस्था है। राज्यों में राज्यपाल का लगभग वही स्थान है जो भारत में राश्ट्रपति का है। इस सम्बन्ध में मुख्य अन्तर यही है कि राज्यपाल राश्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और राश्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में राज्य की कार्यपालिका का सांविधानिक प्रधान होता है। राज्य में वास्तविक कार्यपालिका, केन्द्र की भाँति ही मंत्रि–परिशद् होती है। प्रत्येक राज्य में उच्च न्यायालय के अधीन राज्य के अन्य न्यायालय होते हैं।

इस समय भारत संघ में 28 राज्य है, केन्द्र प्रषासित 7 क्षेत्र हैं। जम्मू कष्मीर ही एक ऐसा राज्य जिसकी साषन व्यवस्था अन्य राज्यों से भिन्न प्रकार की है। और उसके लिए विषेश परिस्थितियोंवष, प्रथक संविधान व्यवस्था है जो भारत के संविधान के परिषिश्ट 2 में दिया गया है। इसका नाम है 'संविधान (जम्मू कष्मीर को लागू होना) आदेष, 1954 यह मई, 1954 के ौदहवें दिन से प्रवष्त हुआ । भारतीय संविधान के अनुच्छेद 1 तथा अनुच्छेद 370 के अतिरिक्त उसके अन्य उपबन्ध जम्बू कष्मीर राज्य के सम्बन्ध में कुछ अपवादों और परिवर्तनों के साथ लागू है। राज्यपाल की नियुक्ति, अर्हताएँ (योग्यताएँ), आदि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 153 के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल की व्यवस्था है, तथापि दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक ही राज्यपाल हो सकता है। राज्यपाल राज्य का औपचारिक प्रधान है। उसे राश्ट्रपति द्वारा 5 वर्श के लिए नियुक्त किया जाता है और वह उसके प्रसाद पर्यन्त तक अपने पद पर बना रहता है। राश्ट्रपति किसी भी समय उसे पद मुक्त कर सकता है। इस मामले में वह केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की राय के अनुसार कार्य करता है। राज्यपाल लिखित रूप से, यदि वह चाहे तो अपना त्याग–पत्र राश्ट्रपति को प्रेशित कर

सकता है। राज्यपाल की नियुक्ति भी राश्ट्रपति केन्द्रीय मंत्रि–परिशद के परामर्ष से ही करता है अर्थात व्यवहार में राज्यपाल केन्द्रीय सरकार द्वारा नामांकित होता है।

अनुच्छेद 157 एवं 158 के अनुसार राज्यपाल पद का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जिसमें निम्नलिखित योग्यताएँ हों–

(अ) वह भारत का नागरिक हो ।

(ब) उसकी आयु 35 वर्श से कम न हो।

(स) वह संसद या विधान– मण्डल का सदस्य न हो। यदि कोई ऐसा व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त कर दिया जाए तो संसद या विधान – मण्डल का सदस्य हो तो उसे नियुक्त होने की तारीख से अपनी सदस्यता त्याग देनी होगी ।

(द) यह भी आवष्यक है कि वह व्यक्ति सरकार के किसी लाभ के पद पर काम न करता

हो ।

राज्यपाल के वेतन, भत्ते आदि को उसके कार्यकाल में घटाया नहीं जा सकता। उसे सरकारी निवास, सवारी आदि की विभिन्नप्रदान की जाती हैं। भत्तों तथा विषेशाधिकारों आदि का निश्चय समय–समय पर संसद विधि द्वारा करती है। प्रारम्भ में राज्यपाल का वेतन 5,500 रू० प्रतिमाह था। लेकिन केन्द्र सरकार ने अधिनियम पारित करके राज्यपालों के वेतन में भारी वर्षद्धि की है। इस समय भारत के राज्यपाल का वेतन 1,10,000 रू० है । इसके साथ ही उन्हें अन्य भत्ते और सुविधाएँ प्रदान की जाती है।

राज्यपाल अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीष अथवा उनकी अनुपस्थिति की दषा में वरिश्ठितम न्यायाधीष की उपस्थिति में षपथ ग्रहण करता है

नियुक्ति राज्यपाल, निर्वाचित क्यों नहीं?

संविधान सभा में यह प्रष्न उठा था कि राज्यपालों की प्रत्यक्ष रूप से राश्ट्रपति द्वारा नियुक्ति की जाए या राज्यपालों को जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से चुना जाएं? परन्तु संविधान सभा में निर्वाचित राज्यपाल का प्रस्ताव इन आधारों पर अस्वीकार कर दिया गया

1. निर्वाचित राज्यपाल की अवधारणा षासन व्यवस्था से मेल नहीं खाती है। यह सम्भव है कि राज्यपाल साँवैधानिक राज्याध्यक्ष के रूप में कार्य न करके राज्य सरकार का प्रमुख ही बन जाए।

2. एक निर्वाचित राज्यपाल में और राज्य के मुख्यमंत्री में संघर्श की संभावनाएं उत्पन्न हो

जाएँगी क्योंकि मुख्यमंत्री और अन्य मंत्रियों का निर्वाचन भी जनता द्वारा ही होता है।

3. एक निर्वाचित राजपाल राजनैतिक दलबन्दी के वातावरण में फंस जायेगा और निरपेक्ष रूप से साँवैधानिक कार्यपालिका के रूप में कार्य नहीं कर सकेगा।

4. राज्यपाल के निर्वाचन की व्यवस्था भारत के केन्द्रीयभूत संघीय व्यवस्था के अनुकूल सिद्ध नहीं होगी। संघ और राज्य में विवाद की स्थिति में राज्यपाल संघ सरकार का हितसाधक नहीं होगा और न ही संघ सरकार का कार्य करने के लिए विष्वसनीय उपकरण सिद्ध होगा ।

5. यदि राज्यपाल का चुनाव किया गया तो वह साधारणतया अल्पसंख्यक जाति से नहीं होगा जबकि अल्पसंख्यक जाति के उन व्यक्तियों को भी राज्यपाल बनने के अवसर मिलना चाहिए जो इस पद के योग्य हों।

6. प्रत्यक्ष चुनाव इस दृश्टि से भी उपयुक्त नहीं है कि दूसरे राज्यों में रहने वाले उन प्रतिश्ठित व्यक्तियों को राज्यपाल बनाना अधिक अच्छा होगा जिन्होंने सक्रिय राजनीति में भाग लिया हो। ऐसे व्यक्ति दिन–प्रतिदिन के साषन में कम से कम कम हस्तक्षेप करेंगे और सरकार को अधिक से अधिक सहयोग दे सकेंगे।

7. भारतीय संविधान निर्माता राज्यपालों की नियुक्ति सम्बन्धी व्यवस्था के प्रावधानों को निध ा रण करते समय कनाडियन संविधान से विषेश रूप से प्रभावित हुए थे। कनाडा में केन्द्र अत्यंत षक्तिषाली बनाया गया है और गवर्नर जनरल प्रान्तीय गवर्नरों को नियुक्त तथा

पद–मुक्त पद – मुक्त करता है।

राज्यपालों की नियुक्ति की वर्तमान पद्धति कम खर्चीली है और अल्पसंख्यक जाति के लोगों को भी राज्यपाल बनाया जा सकता है। इसमें केन्द्रीय सरकार का प्रभुत्व तथा प्रभाव बना रहता है तथा राज्य के बाहर के व्यक्ति को राज्यपाल बनाया जा सकता है। लेकिन इन लाभों के होते हुए भी यह अनुभव किया जाता रहा है कि नियुक्ति की इस पद्धति में कुछ परिवर्तन करने की आवष्यकता अवष्य है। संसद में तथा संसद के बाहर, बार–बार यह मांग की जाती रही है तथा इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं– (प) राज्यपाल की नुयिक्ति केवल राज्य सरकार की सहमति से होनी चाहिये ! (पप) उसकी नियुक्ति राश्ट्रपति राज्य सरकार द्वारा तैयार की गई नामावली में से करें। (पपप) उसकी नियुक्ति राश्ट्रपति द्वारा उस नाम सूची में से की जानी चाहिए जो केन्द्रीय

सरकार ने संसदीय विपक्ष के परामर्ष से तैयार की हो ।

(पअ) राज्य पाल की नियुक्ति का अनुमोदन संसद द्वारा किया जाना चाहिए

(अ) राज्यपाल की नियुक्ति राश्ट्रपति द्वारा उस नामावली मे से की जानी चाहिए जो राश्ट्रपति की उस परामर्षदात्री समिति द्वारा तैयार की जाए जिसमें सर्वोच्च न्यायालय के अवकाष प्राप्त न्यायाधीष के अवकाष प्राप्त न्यायाधीष सम्मिलित हों।

(अप) राज्यपालों की नियुक्ति राश्ट्रपति, मंत्रियों के परामर्ष से न करे बल्कि एक उच्चाधिकार

प्राप्त समिति की सलाह से करें।

राज्यपाल की नियुक्ति राश्ट्रपति अपने विवेक से करे और इस बारे में उसे मंत्रिमण्डल

का परामर्ष नहीं मानना चाहिए।

राज्यपाल का चुनाव राज्य की विधानपालिका द्वारा किया जाना चाहिए ।

(प•) उसका चुनाव एक ऐसे निर्वाचन मण्डल द्वारा होना चाहिए जिसमें विधानसभा, विध

ज्ञान परिशद् (जहाँ हो), तथा स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के सदस्य भी षामिल हों। डा० जे. आर. सिवाच के मतानुसार वह सुझाव सबसे अच्छा हैं जो भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीष के सुब्बाराव ने दिया है। पूना विष्वविद्यालय में बोलते दिया हैं। पूना विष्वविद्यालय में बोलते हुए उन्होंने कहा था कि राज्यपालो की नियुक्ति राश्टपति द्वारा मंत्रिमण्डल के परामर्ष से नहीं की जानी चाहिए, वल्कि एक उच्चाधिकार प्राप्त समिति की सलाह से की जानी चाहिए !' उन्हें उनके पद से तब हटाया जाना चाहिए जब सर्वोच्च न्यायालय उनके दुराचरण की घोशणा कर दे और जिस राज्यपाल को इस प्रकार पद से हटाया जाए उसे केन्द्र तथा राज्य सरकार में अन्य कोई पद नहीं दिया जाना चाहिए ।

राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ परम्पराएँ

संविधान लागू किए जाने के बाद से अब तक राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ परम्पराएँ कायम हो गई हैं, जो इस प्रकार हैं––

1. राज्यपाल पद पर अधिकांषतः ऐसे व्यक्ति नियुक्ति किए जाते हैं जो अनुभवी हों, राजनीतिक क्षेत्र में जिनका प्रभाव हो और उन्हें राजनीति तथा प्रषासन की बारीकियों का ज्ञान हो। इसलिए राज्यपाल पद पर कभी कुषल सिविल सेवक आये हैं तो कभी कुषल राजनीतिज्ञ ।

'2. किन्तु साथ ही यह अस्वस्थ परम्परा भी रही है कि राज्यपाल पद को सांत्वना पुरस्कार (ब्वदेवसंजपवद च्तप्रम) बना दिया गया है। चुनावों में पराजित प्रमुख दलीय व्यक्तियों (सत्तारूढ़ दल के) को राज्यपाल पद सांत्वना रूप में दिया जाता है। कभी–कभी रिजेक्टेड, बर्नआउट (ठनतद व्नज) राजनीतिज्ञों को भी राज्यपाल पद पर थोप दिया गया है।

3. राज्यपाल पद पद प्रायः उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्ति किया जाता रहा है। जो केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के विष्वासपात्र व्यक्ति राज्यपाल न होगा तो राज्य की गतिविधियों की सही सूचना केन्द्र को नहीं मिल सकेगी और इस प्रकार संविधान की व्यवस्था को आधात पहुँचेगा । संविधान में व्यवस्था है कि राज्यपाल द्वारा यदि राज्य में संवैधानिक . या वित्तीय संकट की रिपोर्ट दी जाए तो राश्ट्रपति आपात षक्ति का प्रयोग कर सकता है। फिर इस बात की क्या गारन्टी है कि राज्यपाल के पद पर विरोधी दलों के व्यक्तियों को नियुक्त किया जाएगा। तो वे अपने दलीय हितों के लिए कार्य नहीं करेंगे।

4. यह स्वस्थ परम्परा स्थान लेती जा रही है कि राज्यपाल पद पर उसी राज्य के निवासी की नियुक्ति प्रायः नहीं की जाती है। अपवाद स्वरूप ही कोई नियुक्ति ऐसी होती है। राज्यपाल पद प्रादेषिक निश्ठा से युक्त रहे और संदेह जैसी बात न उठे, इसलिए प्रायः उत्तरी राज्यों में दक्षिणी राज्यों में उत्तरी राज्यों के व्यक्तियों को राज्यपाल बनाया जाता है !

: 5. यह स्वस्थ्य परम्परा भी स्थापित हो गई है कि सामान्यतया सम्बन्धित राज्य सरकार से सलाह के बाद ही राश्ट्रपति उस राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति करता है। वैसे, परिस्थितियोंवष, इस परम्परा का उल्लंघन भी किया गया है। बिहार में वहां के मुख्यमंत्री महामाया प्रसाद के विरोध के बावजूद, श्री कानूनगो की नियुक्ति राज्यपाल के रूप में की गई थी ।

राज मन्नार समिति तथा प्रषासनिक सुधार आयोग के सुझाव

कुछ वर्श पूर्व राजन्नार समिति ने यह उपयोगी सुझाव दिया था कि

(प), राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व सम्बन्धित राज्य सरकार की राय लेने का अभिसमय जारी

रखना चाहिए।.

कृ(पप) संविधान में एसी : व्यवस्था की जानी चाहिए कि राश्ट्रपति राज्यपालों की नियुक्ति ख्याति पं प्राप्तं न्यायविदों, वकीलों और प्रसाषकों की समिति की सलाह पर करें।

प्रषासनिक सुधार आयोग का सुझाव था कि–

(क) राज्य सरकार की सलाह से ही राज्यपाल की नियुक्ति कह जानी चाहिए, अन्यथा

राज्यपाल का कार्य कठिन हो जाएगा।

1(ख) राज्यपाल के चयन में संरक्षण तथा राजनीति का स्थान योग्यता को मिलना चाहिए, और दृश्टि से सिविल सेवकों को राज्यपाल बनाना उचित है क्योंकि वे निडर और तटस्थ रहकर कार्य कर सकेंगे।

(ग) स्पीकरों को भी राज्यपाल बनाया जा सकता है।

प्रषासनिक सुधार आयोग के पहले और तीसरे सुझाव तो उचित है लेकिन सिविल सेवकों को ही राज्यपाल बनाने सम्बन्धी सुझावों की उपयुक्तता संदेहास्पद है यह आवष्यक नहीं है कि निडरता और तटस्थता का बिल्ला सिविल सेवक ही लगा सकते हैं, दूसरे नहीं । सहकारिया आयोग ने भी अपने प्रतिवेदन में यह स्पश्ट किया है, दूसरे नहीं कि राज्यपाल की. नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्य के मुख्य मंत्री से परामर्ष लिया जाना चाहिए। आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि सक्रिय राजनीतिज्ञों की राज्यपाल पद पर नियुक्ति नहीं की जानी चाहिए।

राज्यपाल की षक्तियाँ

संविधान के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गादास बसु ने लिखा है कि राज्यपाल की षक्तियों राश्ट्रपति के समान हैं – सिर्फ कूटनीतिक सैनिक तथा संकटकालीन अधिकारों को छोड़कर। संविधान द्वारा राज्यपाल को अपने कार्य–क्षेत्र में व्यापक षक्तियाँ प्रदान की गई हैं। राज्य में राज्यपाल की वही स्थिति होती है, जो केन्द्र में राश्ट्रपति की ।

राज्यपाल राज्य का प्रधान होता है और कार्यपालिका सम्बन्धी सभी कार्य उनके नाम से किए जाते है। सौंविधानिक रूप से उसे अपने अधिकारों का उपयोग अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। राज्यपाल की सहायता और परामर्ष के लिए एक मंत्रि–परिशद के परामर्ष से ही कार्य करता है। फलस्वरूप राज्यपाल के अधिकार और कर्तव्य में मंत्रि–परिशद के अधिकार और कर्तव्य वास्तव में मंत्रि–परिशद् के अधिकार और कर्तव्य भी होते हैं। कार्यकारी षक्तियाँ

राज्य की समस्त कार्यकारी षक्तियाँ राज्यपाल में निहित होती हैं जिन्हें वह स्वयं कृ अथवा अधीनस्थ अधिकारियों सम्पादित करता है। वह विधान–मण्डल में बहुमत दल के नेता अथवा सबसे बड़े दल के नेता को, अथवा सबसे बड़े गुट के नेता को, अथवा विधान में सर्वाधि कि संख्या का समर्थन रखने वाले नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त करता है और तत्पष्चात मुख्यमंत्री की सलाह के अनुसार अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। व्यवस्थापिका में किसी दल का बहुमत न होने पर मुख्यमंत्री के चयन में राज्यपाल को अपने विवेक से निर्णय लेने का अवसर मिलता है। मुख्यमंत्री की सलाह से ही वह मंत्रियों में विभागों का वितरण करता है। मुख्यमंत्री की सलाह से ही वह मंत्रियों में विभागों का वितरण करता है। मुख्यमंत्री के परामर्ष पर वह मंत्रियों में विभागों का वितरण करता है। मुख्य मंत्री के परामर्ष पर वह मंत्रियों को बर्खास्त भी कर सकता है।

राज्यपाल की कार्यकारी षक्तियाँ राज्य सूची में उल्लिखित विशयों से सम्बन्धित है। समवर्ती सूची के विशयों पर राश्ट्रपति की स्वीकृति से वह अपने अधिकारों का प्रयोग करता है।

राज्य ही राज्य के महाधिवक्ता तथा राज्य लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और उसके सदस्यों की नियुक्ति करता है। राज्य सेवाओं में सभी महत्वपूर्ण नियुक्ति के सम्बन्ध में उससे परामर्ष लिया जाता है। वह राज्यों के विष्वविद्यालयों के कुलाधिपति के रूप में भी कार्य करता है। राज्यपाल षासन के विशय में मन्त्रि–परिशद् से किसी भी प्रकार की सूचना प्राप्त कर सकता है। मुख्य मंत्री का यह कर्तव्य है कि वह राज्यपाल को मंत्रिमण्डल के निर्णयों से अवगत कराए। संघ सरकार की आज्ञाओं के पालन का दायित्व राज्यपाल पर है। अतः वह समय – समय पर राज्य प्रषासन के बारे में संघ सरकार को आवष्यक जानकारी देता रहता है। राज्य में संवैधानिक संकट उत्पन्न होने या उसकी सम्भावना पर राज्यपाल राश्ट्रपति को इस बारे में अपना प्रतिवेदन भेजता है। इसकी सूचना के आधार पर राश्ट्रपति संकटकाल की घोशणा करता है। राज्पाल को अपने मंत्रियों को चेतावनी, सलाह और प्रोत्साहन देने का अधिकार है ।

विधायी षक्तियाँ ाज्यपाल राज्य विधान मण्डल का अनिवार्य अंग है। वही विधान – मण्डल का अधि वेषिन बुलाता है और स्थगित करता है। विधानसभा को भंग करने का उसे अधि ाकार है। वह विधान मण्डल में भाशण दे सकता है और संदेष भेज सकता है वह राज्य विध ाान मण्डल के दोनों सदनों–विधान सभ और विधान परिशद का संयुक्त अधिवेषन भी सम्बोधि ात करता करता है। विधान मण्डल में पारित कोई भी विधेयक तब कानून का रूप धारण नहीं कर सकता जब तक राज्यपाल उस पर अपनी स्वीकृति न दे दे पर वह वित्त विधेयक को अस्वीकार नहीं कर सकता है। वित्त विधेयक को छोड़कर अन्य कोई भी विधेयक विध ाान – मण्डल के पास सुझावों को स्वीकार कर दे अथवा विधान– मण्डल द्वारा राज्यपाल के सुझावों को स्वीकार करके या मूल रूप में पुनः पारित करके राज्यपाल को उस विधेयक पर अपनी स्वीकृति अनिवार्य रूप से देनी पड़ती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राज्यपाल विधेयक को समाप्त नहीं कर सकता उसके पास होने में देरी कर सकता है।

जिन विधेयकों को राज्यपाल राश्ट्रपति के विचारार्थ प्रेशित करता है, उन्हें स्वीकार करने का अधिकार राश्ट्रपति को है। उसे यह भी अधिकारियों के साथ राज्य विधान – मण्डल को पुनः विचार के लिए लौटाए हुए विधेयकों पर राज्य विधानमण्डल की 6 माह के अन्दर – अन्दर विचार करना होता है। यदि वे विधेयक राज्य विधान मण्डल को 6 माह के अन्दर – अन्दर विचार करना होता है। यदि वे विधेयक राज्य विधान – मण्डल द्वारा पुनः पारित कर राश्ट्रपति की स्वीकृति के लिए लौटाए जाते हैं, तो भी राश्ट्रपति को अधिकार है कि वह उन पर अपनी स्वीकृति दे या न दे। कुछ विषेश प्रकार के विधेयक ऐसे है जिन्हें राश्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ, राज्यपाल की सम्मति में यदि किसी विधेयक के स्वीकृति होने से उच्च न्यायालय की षक्ति और स्थिति में कमी हो जाने की संभावना हो तो यह आवष्यक है कि ऐसा विधेयक राश्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेजे जाते हैं जिनका प्रयोजन व्यक्तिगत सम्पत्ति को राज्य द्वारा बाधित रूप से हस्तगत करना हो अथवा जिनका सम्बन्ध ऐसी वस्तुओं के क्रय–विक्रय पर कर लगाने से हो जिन्हें संसद ने आवष्यक वस्तु घोशित किया हो । राज्यपाल को राश्ट्रपति के समान ही अध्यादेष जारी करने का भी विधान – मण्डल का अधिवेषन न हो रहा हो और कोई भी असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो जाए जिसका सामना करने के लिए राज्य सरकार के पास कोई कानूनी प्रबन्ध न हो रहा हो और कोई भी असाध रण परिस्थिति उत्पन्न हो जाए जिसका सामना करने के लिए राज्य सरकार के पास कोई कानूनी प्रबन्ध न हो। अध्यादेष विधान– मण्डल का अधिवेषन पुनः आरम्भ होने के बाद 6 सप्ताह तक के लिए लागू रह सकते हैं। यदि विधान – मण्डल का अधिवेषन न हो रहा हो और कोई भी असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो जाए जिसका सामना करने के लिए राज्य सरकार के पास कोई कानूनी प्रबन्ध ा न हो ।अध्यादेष विधान – मण्डल उन्हें स्वीकार कर लेता है तो वे अधिनियम का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। विधान – मण्डल अपने सामने प्रस्तुत किए जाने पर

किसी भी अध्यादेष को समाप्त कर सकता है। कुछ अध्यादेषों के लिए राज्यपाल को राश्ट्रपति की पूर्वानुमति लेनी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, राश्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई अध्यादेष जारी नहीं किया जा सकता यदि उसी प्रकार का विधेयक विधान मण्डल में प्रस्तुत करने के लिए राश्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवष्यकता होती अथवा उसी प्रकार के विध ेयक का राज्यपाल राश्ट्रपति द्वारा विचार किया जाना आवष्यक समझा अथवा विधान – मण्डल का उसी प्रकार का विधेयक राश्ट्रपति के विचारार्थ रोका जाता है तथा राश्ट्रपति की स्वीकृति न मिलने पर वह अमान्य समझा जाता है।

राज्यपाल को विधान सभा में आंग्ल–भारतीय सम्प्रदाय का एक प्रतिनिधि मनोनीत करने का अधिकार है, यदि वह समझे कि उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिला है। जिन राज्यों में दो सदनीय व्यवस्थापिका है वहाँ पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिला है। जिन राज्यों में सदनीय व्यवस्थापिका है वहाँ विधान परिशद् के कुल सदस्यों के 1⁄6 सदस्यों को राज्यपाल मनोनीत कर सकता है। वे मनोनीत सदस्यं साहित्य, कला, विज्ञान, समाज सेवा अथवा सहाकरी आन्दोलनों के अनुभवी व्यक्ति होने चाहिए।

वित्तीय षक्तियाँ – राज्यपाल की वित्तीय षक्तियाँ भी बहुत कुछ उसी प्रकृति की है जैसी राश्ट्रपति की वित्तीय षक्तियाँ हैं। राज्यपाल की षिफारिष के बिना कोई भी वित्त कि यक विध ाान–सभा से प्रस्तावित या पुनः स्थापित नहीं किया जा सकता है। उसकी सिफारिष के बिना वित्त विधेयकों में ऐसे संषोधन प्रस्तावित नहीं किए जा सकते है जिनका वित्तीय विशयों पर प्रभाव पड़ता हो । किन्तु यदि किसी संषोधन अथवा विधेयक द्वारा किसी कर में कमी अभीश्ट है तो उस स्थिति में राज्यपाल की षिफारिष की आवष्यकता नहीं है। यह राज्यपाल का उत्तरदायित्व है कि वार्शिक वजट का विवरण विधान – मण्डल के समक्ष रखा जाए तथा उसे पारित किया जाए। राज्यपाल को राज्य विधान – मण्डल से पूरक, अतिरिक्त या विषेश माँग का अधिकार है। संचित निधि उसके अधिकार में रहती है और विधान – मण्डल की स्वीकृति की उपेक्षा में वह इस निधि उसके अधिकार में रहती है और विधान मण्डल की स्वीकृति की अपेक्षा मे वह इस निधि में से व्यय की अनुमति दे सकता है। राज्य के खढ र्च की जाँच में वह इस निधि में से व्यय की अनुमति दे सकता है। राज्य के खर्च की जाँच की हुई वार्शिक रिपोर्ट भी उसी के द्वारा विधान मण्डल में रखवाई जाती है।

न्यायिक षक्तियाँ राज्य के कार्यपालिका क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आने वाले कानूनों के विरूद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों के दण्ड को कम करने, स्थगित करने, बदलने अथवा क्षमा करने का अधिकार राज्यपाल को है। राज्यपाल अपनी इस न्यायिक षक्ति का प्रयोग मुकदमे के पूर्व, मुकदमें के मध्य अथवा मुकदमें के बाद कर सकता है। राश्ट्रपति उच्च. न्यायालय के मुख्य न्यायाधीष की नियुक्ति के समय राज्यपाल से अवष्य सलाह लेता है। जिला एवं सत्र न्यायाधीष की नियुक्ति राज्यपाल के हाथों होती है। राज्यपाल के विरूद्ध तक तक न्यायालय में अभियोग नहीं चलाया जा सकता जब तक वह पदासीन हैं।

स्पश्ट है कि राज्यपाल को राज्य की कार्यपालिका के अध्यक्ष के रूप में व्यापक षक्तियाँ प्राप्त है। तथापि उसकी स्थिति, कतिपय अपवादों को छोड़कर, सांविधानिक अध्यक्ष की है और उसके अधिकारों का वास्तविक प्रयोग मन्त्रि परिशद् द्वारा उसके नाम से किया 'जाता है। सांविधानिक प्रधान के रूप में उसे मंत्रिपरिशद को सलाह चेतावनी और प्रोत्साहन देने का अधिकार है। वह राश्ट्रपति का अभिकर्ता और संघ सरकार का प्रतिनिधि है। यह एक कड़ी है जो संघ तथा राज्य को जोड़ता है और संघ– राज्य के सम्बन्ध को निर्धारित करता है।

राज्यपाल की स्वविवेकीय षक्तियाँ और उसके कुछ उदाहरण

1 संविधान के अनुच्छेद 183 के अन्तर्गत राज्यपाल को स्वविवेकीय षक्तियाँ प्रदान की गई हैं। राज्यपाल की स्वविवेकीय षक्तियों के दो रूप हैं – (1) संविधान प्रदत्त षक्तियाँ, एवं (2) परिस्थितिजन्य स्वविवेकीय षक्तियाँ। संविधान ने कुछ विषेश मामलों में और खास तौर पर असम के सम्बन्ध में राज्यपाल को स्वविवेकीय अधिकार दिए हैं। असम के राज्यपाल को यह विषेशाधिकार है कि प्रजातीय क्षेत्रों से सम्बन्धित मामलों तथा असम सरकार व स्वायत्त जिला परिशद के बीच खनिज सम्पत्ति सम्बन्धी विवादों के बारे में निर्णय करे। विद्रोही एवं षत्रु नागाओं से निपटने के लिए नागालैण्ड के राज्यपाल को वहाँ के सभी क्षेत्रों के लोगों के आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए समुचित प्रबन्ध करने की दृश्टि से विषेश उत्तरदायत्वि सौंपे गए हैं। संविधान में व्यवस्था है कि राश्ट्रपति ऐसे उपबन्धों का निर्माण कर सकता है जिनमें राज्यपाल को स्वविवेकीय षक्तियों के प्रयोग से अधिक अवसर मिल सकें। राज्यपाल को स्वविवेक से निर्णय लेने का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 163 (1) की निम्न भाशा से स्पश्ट है। इसमें कहा गया है कि '' जिन बातों में संविधान द्वारा राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कार्यों को स्वविवेक से करे, उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कार्यों के निर्वहन में सहायता और मन्त्रणा के लिए एक मन्त्रि–परिशद् होगी जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होगा ।'' राज्यपाल को कुछ स्वविवेकी षक्तियाँ परिस्थितियों विषेश में प्राप्त होती है। वे विषेश परिस्थितियाँ तब उत्पन्न हो सकती हैं। जब–

(1) किसी एक दल को विधान–सभा में स्पश्ट बहुमत प्राप्त हन हो ।

(2) संयुक्त सरकार का कठन हो और आपसी फूट के कारण षासन का सुचारू संचालन करना कठिन हो रहा है।

(3) दल–बदल के कारण सरकार के अस्तित्वं को खतरा पैदा हो जाए ।

(4) राज्य में षांति और व्यवस्था को खतरा पैदा हो गया हो या उसकी सम्भावना हो । (5) मंत्रिमण्डल से विधासभा के अविष्वास की स्थिति पैदा हो गई हो ।

(8) दलीय विद्रोह के कारण मंत्रिमण्डल अल्पमत में आ गया हो और विपक्षी दल वैकल्पिक सरकार बनाने का दावा प्रस्तुत कर दे।

राज्यपाल की स्वविवेकीय षक्तियों के प्रयोग में अवसरों को डा. एम.वी. पायली ने निम्नानुसार गिनाया है–

'' (1) मत्रिपरिशद की स्थापना से पूर्व मुख्यमंत्री का चुनाव, (2) मंत्रिमण्डल को पदच्युत करना, (3) विधान सभा का विघटन करना, (4) मुख्यमंत्री से प्रसाषनिक तथा विध यी कार्यों के सम्बन्ध में सूचना माँगना, (5) किसी एक मंत्री द्वारा किए गए निर्णय (जिस पर मंत्रि–परिशद् ने विचार किया हो) को मंत्रि–परिशद् के समझ विचारार्थ प्रस्तुत करने के लिए मुख्यमंत्री को आदेष देना, (6) विधान – मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को स्वीकृति ने देकर उसे पुनर्विचार के लिए लौटा देना, (7) राज्य विधान – मण्डल द्वारा पारित किसी विध ोयक को राश्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजना, (8) किसी अध्यादेष को प्रख्यात करने से पूर्व राश्ट्रपति से. अनुदेष (प्देजतनबजपवद) की याचना करना, (9) राश्ट्रपति को आपात परामर्ष देना, तथा (10) असम तथा अन्य घोशणा करने का पूर्ववर्ती राज्यों के राज्यपाल के लिए आदिम–जाति क्षेत्रों की कुछ प्रषासनिक समस्याओं का हल करना, असम राज्य तथा (स्वायत्तषासी क्षेत्र की) जिला परिशदों के खनिज स्वामित्व सम्बन्धी विवादों का निर्णय करना ।''

उपर्युक्त विष्लेशण से यह स्पश्ट है कि राज्यपालों की स्वविवेकीय षक्तियों का क्षेत्राधि कार बहुत ही विस्तृत है।

कुछ उदाहरण स्वतंत्रता – प्राप्ति से लेकर वर्तमान तक राज्यपालों ने अपनी स्वविवेकीय षक्तियों का अनेक अवसरों पर खुलकर प्रयोग किया है। राज्यपालों द्वारा स्वविवेकीय षक्तियों के प्रयोग के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

(क) राज्यों में सॉविधानिक तंत्र की विफलता के बारे में स्वविवेक से निर्णय लेते हुए राज्यपाल के समय – समय पर राश्ट्रपति को प्रतिवेदन भेजे और फलस्वरूप राज्यों में राश्ट्रपति षासन लागू किया गया है। पहला प्रतिवेदन पंजाब से 1951 में गया । 1952 में पेप्सु राज्य में, 1954 में आन्ध्र में, 1961 में उड़ीसा में, 1967 में राजस्थान में और तत्पष्चात् पष्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेष, मध्य प्रदेष, हरियाणा, पंजाब, कर्नाटक और गुजरात राज्यों में जो संकट कालीन घोशणा लागू की गई वह मुख्यतः राजनीतिक अस्थिरता के कारण ही की गई और राश्ट्रपति द्वारा की गई वह मुख्यतः राजनीतिक अस्थिरता के कारण ही की गई और राश्ट्रपति द्वारा की गई इन घोशणाओं का आधार प्रमुख रूप से राज्यपाल का प्रतिवेदन ही था। षिरोमणि अकालीदल के आन्दोलन तथा उग्रवादी तत्वों की गतिविधियों से पंजाब में सांविधानिक तंत्र की विफलता सम्बन्धी राज्यपाल के प्रतिवेदन पर विचार करने के पष्चात पंजाब में सांविधानिक तंत्र की विफलता सम्बन्धी राज्यपाल के प्रतिवेदन पर विचार करने के पष्चात पंजाब में 6 अंक्टूबर, 1983 से राश्ट्रपति षासन लागू किया गया। सन् 1984 में जम्बू–कष्मीर में, मई, 1987 में पंजाब में, अगस्त, 1988 में नागालैण्ड में और सितम्बर 1988 में मिजोरम में राश्ट्रपति षासन लागू किया गया। ये निर्णय उग्र वाद–विवाद के विशय बने

.व्यापारिक कम्पनी के रूप में स्थिति सुदृढ़ कर लेने के बाद 1750 ई0 से कम्पनी नेः भारत में 'षक्ति एवं राजनीति का खेल' (ळंउम व च्चिूमते – च्वसपजपबे) प्रारम्भ किया। भारत की विषेश परिस्थितियों के कारण कम्पनी को अपने इस कार्य में भी सफलता मिली और 1850 ई. तक भारत के बहुत बड़े भाग पर कम्पनी का षासन स्थापित हो गया । 1857 ई. का स्वतंत्रता संग्राम और कम्पनी के षासन की समाप्ति कम्पनी के षासन के लगभग 100 वर्शों में राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और सैनिक क्षेत्र में अनेक ऐसी प्रवृत्तियों का उदय हुआ, जिन्होंने भारतीय जनता को कम्पनी के षासन का प्रबल विरोधी बना दिया। लार्ड डलहौजी के द्वारा अपने षासनकाल में कम्पनी के भारतीय क्षेत्र में विस्तार के सभी सम्भव प्रयत्न किए गए थे और उसने अपनी 'हड़प नीति को कंठोरतापूर्वक अपनाकर तथा देषी षासकों के साथ दुर्व्यवहार कर उनमें से अनेक को भारत में ब्रिटिष षासन का घोर षत्रु बना लिया था। अंग्रेजों द्वारा भारतीयों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में किये गये हस्तक्षेप तथा उन्हें ईसाई बनाने के कार्यों ने साधारण भारतीयों में तीव्र असंतोश को जन्म दिया। भारत के निरन्तर आर्थिक षोशण से कृशक, श्रमिक तथा व्यापारी – सभी वर्गों की स्थिति बहुत अधिक बुरी थी। सैनिक क्षेत्र में अंग्रेज और भारतीय. सैनिकों में भेदभाव किया जाता था और भारतीय सैनिकों के साथ अंग्रेज अधिकारियों का व्यवहार खराब था। अतः काफी समय पहले से भारतीय सैनिक असंतुश्ट थे। इसी समय उनको जो कारतूस दिए गए, उन्हें चिकना करने के लिए गायं और सुअर की चर्बी का प्रयोग किया गया था । अतः उन्होंने स्वाभाविक रूप से यह सोचा कि उन्हें धर्मभ्रश्ट करने की चेश्टा की जा रही है। इस प्रकार जीवन की चतुर्मुखी परिस्थितियाँ ऐसी हो गयी थीं कि इन परिस्थितियों में विद्रोह का न होना अत्यधिक आष्चर्यजनक होता ।

उपर्युक्त परिस्थितियों ने 1857 में जिस स्वतंत्रता संग्राम को जन्म दिया, उसका प्रसार तेजी से हुआ, लेकिन परिणाम आषा के अनुकूल नहीं हुए। आधुनिक षस्त्र – सामग्री तथा आर्थिक साधनों के अभाव, क्रान्तिकारियों की सेना में एकबद्धता और संगठन का अभाव, अनेक भारतीय षासकों तथा वर्गों का असहयोग तथा विरोधी व्यवहार आदि कारणों ने स्वतंत्रता संग्राम को असफल कर दिया।

(ड.) राज्यों के मुख्यमंत्रियों को बर्खाष्त करने में भी राज्यपालों ने अपनी स्वविवेक षक्तियों का सहारा लिया। अनेक उदाहरण इसकी पुश्टि करते हैं। पष्चिमी बंगाल में श्री अजय मुखर्जी मंत्रिमण्डल को बर्खास्त करने, आन्ध्र प्रदेष के राज्यपाल रामलाल द्वारा एन. टी. रामाराव के नेतृत्व वाले मंत्रिमण्डल को बर्खास्त करने, जम्मू–कष्मीर के राज्यपाल जगमोहन द्वारा डा० फारूख अब्दुल्ला के मंत्रिमण्डल की बखास्तगी और पंजाब में सुरजीतसिंह बरनाला मंत्रिमण्डल की बर्खास्तगी ने देषव्यापी आक्रोष को जन्म दिया।

वास्तव में राज्यपाल की स्वविवेकीय षक्तियों के प्रयोग की कोई एकदम सुनिष्चित सीमा या परिभाशा कठिन है। न ही राज्यपाल के स्वविवेकाधिकार निरपेक्ष हो सकते हैं। निरपेक्ष स्वविवेक निरंकुषता का प्रतीक है जिसे लोकतंत्र में इजाजत नहीं दी जा सकती । राज्यपाल की स्वविवेकी षक्ति पर राज्यपाल की स्वविवेकी षक्ति पर राज्य मंत्रि परिशद या राज्यपाल को नियत्रित कर सकता है। राज्यपाल यदि अपने स्वविवेकाधिकार का अनुचित प्रयोग करे तो राश्ट्रपति उसका विरोध कर सकता है तथा आवष्यकता पड़ने पर उसे पदच्युत कर सकता है। इसके अतिरिक्त, जब तक मंत्रिपरिशद् को राज्य विधान – मण्डल का विष्वास प्राप्त है, तब तक वह मंत्रिमण्डल के परामर्ष के स्थान पर अपने स्वविवेक से कार्य नहीं ले सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी करवट ले सकती हैं कि जिनमें राज्यपाल की पदच्युति अवष्यम्भावी है। एम.वी. पायली ने लिखा है कि "इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यपाल के पद में उनके परामर्षदाता के रूप पर ही अधिक जोर दिया गया है। एक ओर वह मंत्रि–परिशद के निश्पक्षके निश्पक्ष के रूप में कार्य करता है। और एक राज्य का अध्यक्ष होने के नाते उसे अधिकार है कि उससे परामर्ष लिया जाए, उसे प्रोत्साहित करना तथा चेतावनी देने का अधिकार है। वह सुविधाजनक तथा प्राधि कारपूर्ण स्थान से राज्य में होने वाले प्रत्येक कार्य को अनासक्त पर्यवेक्षक के रूप में देखता है। इस स्थिति से वह राज्य सरकार के गौरव, स्थायित्व तथा सामूहिक दायित्व को बनाये रखता है। दूसरी और वह राश्ट्रपति को अभिकर्ता तथा उस राज्य से सम्बद्ध कार्यों में उसका परामर्षदाता है वह राज्य में संघ का प्रतिनिधित्व करता है । वह संघ राज्य को बांधने वाली एक कड़ी तथा संघ– राज्यक सम्बन्धों को विनियमित करने का माध्यम है। इस प्रकार वह साँविध गानिक व्यवस्था का एक आवष्यक अंग है जो एक निष्चित उद्देष्य की पूर्ति तथा एक आवष्यक सेवा प्रदान करता है।

हम कह सकते हैं कि आसाधारण परिस्थितियों को छोड़कर साधारण परिस्थितियों में राज्यपाल का प्रमुख कर्तव्य यह देखना है कि राज्य का प्रषासन अच्छी तरह चले। उससे यह अपेक्षित है कि वह मंत्रि–परिशद के समस्त निर्णयों के समबन्ध में अपनी सहमति प्रदान करे। वह अल्पसंख्यक वर्गों के हितों की रक्षा करे और तत्सम्बन्धी षिकायतों की ओर राज्य सरकार का ध्यान आकृश्ट करे। राज्यपाल को चाहिये कि वह निर्दलीय नेतष्त्व प्रदान करके राश्ट्र–निर्माणकारी कार्यों में अपना विषेश योग दे ।

राज्यपालों के लिए निर्देष – पत्र

मुख्यमंत्री की नियुक्ति, मुख्यमंत्री की बर्खास्तगी, मंत्रियों को नियुक्ति और बर्खास्तगी, विधान सभा का वेतन, षासन प्रबन्ध, अध्यादेष निकालना आदि के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में राज्यपालों को राजनीतिक आचरण समान नहीं रहा है। राज्य विषेश की राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप राज्यपाल के राजनीतिक आचरण में अन्तर होना स्वाभाविक है, लेकिन समान सांविधानिक परिस्थितियों में तो समान राजनीतिक आचरण की अपेक्षा की जाती है और ऐसा न होने पर जनता में राज्यपाल पद के प्रति निश्ठा की भावना को आघात पहुँचता है। 1967 के चुनावों के बाद राज्यपाल की स्थिति के सम्बन्ध में जो विवाद उत्पन्न हुए और विशमं राजनीतिक घटनाओं के दौरान राज्यापालों ने जो कदम उठाए, उन सब को देखते हुए अनेक पक्षों द्वारा यह सुझाव दिया गया कि राज्यपालों के मार्गदर्षन के लिए कुछ निर्देष सिद्धान्त निष्चित किए जाने चाहिए। अतः राश्ट्रपति ने जम्मू–कष्मीर के राज्यपाल श्री भगवान सहाय की अध्यक्षता में 5 सदस्यों की एक समिति नियुक्ति करके उसे राज्यपाल के राज्य – मंत्रिमण्डल के साथ सम्बन्ध, निष्चित करने का कार्य सौंपा। समिति अन्य सदस्य

थे श्री बी. पी. गोपाल रेड्डी, श्री अलीयावर जंग, श्री वी विष्वनाथन तथा श्री एम. एस. धवन । इस समिति को 'राज्यपाल समिति के नाग से जाना गया। समिति ने अपनी रिपोर्ट में निम्न लिखित सिफारिषें कीं

–

1. यदि विधानसभा का विष्वास प्राप्त करने के सम्बन्ध में कोई मुख्यमंत्री विधानसभा

का अधिवेषन आमंत्रित करने के उत्तरदायित्व से पीछे हटता है तो राज्यपाल इस मंत्रिमण्डल को पदच्युत कर सकता है।

2. मंत्रिमण्डल के बहुमत का प्रष्न सामान्यतया विधानसभा द्वारा निष्चित किया जाना चाहिए और यदि कोई मुख्यमंत्री इस बात से मना करता है तो इसका अभिप्राय यह है कि इस मंत्रिमण्डल का विधान सभा में बहुमत समाप्त हो गया है।

3. यदि वैकल्पिक सरकार का गठन सम्भव न हो तो राज्यपाल के पास इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। कि वह राश्ट्रपति को विधानसभा भंग करने सम्बन्धी अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दे।

4. यदि कोई व्यक्ति सदन का सदस्य न हो, अथवा कोई मनोनीत सदस्य हो तो उसे मुख्यमंत्री नहीं बनाना चाहिए।

5. यदि मिली जुली सरकार के कोई भागीदार मुख्य मंत्री से मतभेद हो जाने के फलस्वरूप त्याग–पत्र दे देते हैं तो यह आवष्यक नहीं है कि मुख्यमंत्री भी त्यागपत्र दे देते हैं तो आवष्यक नहीं है कि मुख्यमंत्री भी त्याग पत्र दे दे, किन्तु यदि इस प्रकार के त्याग पत्र से विधान–सभा में उसका बहुमत संदिग्ध हो तो उससे आषा की जाती है कि वह राज्यपाल को सलाह देकर विधान सभा का अधिवेषन षीघ्रातिषीघ्र बुलाएगा और सदन में अपना बहुमत सिद्ध करेगा।

.

6. संयुक्त विधायक दल सरकार के मुख्यमंत्री को सम्बद्ध दलों एवं गुटों द्वारा औपचारिक रूप से चुना जाना चाहिए।

7. राश्ट्रपति के सचिवालय में एक विषेश कक्ष स्थापित किया जाना चाहिए। जिसका यह मुख्य कर्तव्य हो कि वह विभिन्न राज्यों में समय–समय पर घटित होने वाली राजनीतिक घटनाओं के सम्बन्ध में अधिकाधिक सूचनाएँ रखे। इस विषेश कक्ष द्वारा किसी विषेश मामले के सम्बन्ध में राश्ट्रपति की अनुमति से राज्यपाल को सभी उपलब्ध जानकारी दी जानी चाहिए ताकि राज्यपाल को निर्णय लेने में सहायता मिले।

8. राज्यपाल राज्य का अध्यक्ष होता है, राश्ट्रपति का अभिकर्ता नहीं और उसके कर्तव्य संविध ाान में ही निर्धारित किए गए हैं।

राज्यपाल – समिति ने उपरोक्त सिफारिषें करते हुए अपनी रिपोर्ट में इस बात पर बल दिया कि न तो भविश्य में उत्पन्न होने वाली सभी परिस्थितियों के सम्बन्ध में सोचा जा सकता है और न ही इस सम्बन्ध में निष्चित निर्देष दिये जा सकते हैं कि विभिन्न परिस्थितियों में राज्यपालों को अपनी भूमिका किस प्रकार अदा करनी होगी। वास्तव में राज्यपाल का 'स्वविवेक' ही सर्वोच्च निर्देष हो सकता है।

अतः इस पद को समाप्त नहीं किया जाना चाहिए, अपितु राज्यपालों को सष्जनात्मक और अपनी बहुमुखी भूमिका से राज्य के विकास में प्रभावषाली योगदान करना चाहिए । राज्यपालों को अपनी कार्यप्रणाली से षासन के उच्च मापदण्ड स्थापित करने चाहिए ।

केन्द्रीय सरकार से भी अपेक्षा की जा सकती है। कि वह संस्था का दलीय हितों की पूर्ति में दुरूपयोग नहीं करें।

राज्यपाल के राश्ट्रपति के साथ सम्बन्धः

केन्द्रीय अभिकर्ता की भूमिका

राज्यपाल की नियुक्ति, षक्तियों और कार्यों, उसके विवेकाधिकार अथवा उसकी स्थिति आदि का अब तक जो विष्लेशण किया गया है, उससे यह बात स्पश्ट हो जाती है कि राज्यपाल का राश्ट्रपति के साथ क्या सम्बन्ध है । सारभूत रूप में हम यह कह सकते हैं कि राज्यपाल की नियुक्ति राश्ट्रपति के आदेष के अधीन की जाती है। राज्यपाल के पद पर किस व्यक्ति को नियुक्त किया जाए, इसका निर्णय केन्द्रीय सरकार करती है। राज्यपाल राश्ट्रपति

के प्रसादपर्यन्त अपने पद पर रहता है यद्यपि सामान्य रूप से उसका कार्यकाल पाँच वर्श काकृ होता है। किन्तु राश्ट्रपति किसी भी समय उसे पदच्युत कर सकता है। इस मामले में राश्ट्रपति केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के परामर्ष के अनुसार कार्य करता है। राज्यपाल लिखित रूप से यदि वह चाहे तो, अपना त्याग–पत्र राश्ट्रपति को भेज सकता है। कतिपय राज्यपालों को बर्खास्त किया गया। विपक्षी दलों ने इन घटनाओं की तीव्र आलोचना की ।

1 केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल को विभिन्न प्रकार के जो कार्य करने पड़ते हैं। उनके सम्बन्ध में राश्ट्रपति ही (प्रधानमंत्री के परामर्षानुसार) राज्यपालों को निर्देष – आदेष देता है। यदि राज्य का मंत्रिमण्डल राज्यपाल को राश्ट्रपति के निर्देषन के विरूद्ध कार्य करने की सलाह दे तो वह इस प्रकार की किसी भी सलाह को अस्वीकार कर सकता है। और राज्य को राश्ट्रपति के निर्देष मानने के लिए बाध्य कर सकता है। यदि राज्य मंत्रिमण्डल केन्द्रीय सरकार के निर्देष के अनुसार कार्य नहीं करता है तो राज्यपाल इसे संविधान के विरूद्ध कार्य मानकर अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राश्ट्रपति को सांविधानिक संकट की रिपोर्ट दे सकता है और तथा कथित संकट की उद्घोशणा के पष्चात् राश्ट्रपति राज्यपाल के निहित षक्तियों को स्वयं द्वारा संचालित कर सकता है। जब कभी केन्द्रीय सरकार राश्ट्रीय दृश्टि से महत्वपूर्ण किसी कार्यक्रम को अपनाती है तो राज्यपाल पर यह दायित्व आ जाता है कि वह यह देखे कि राज्य सरकार इस कार्यक्रम को पूरा करने की दिषा में आगे बढ़ रही है।

केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधित्व के रूप में राज्यपाल राज्य के सम्बन्ध में समय–समय पर राश्ट्रपति को रिपोर्ट भेजता है जिसमें उसके द्वारा अपनी ओर से सुझाव भी दिये जाते हैं। राज्यपाल पद ग्रहण के समय संविधान की रक्षा करने की षपथ लेता है, और यदि वह राश्ट्रपति को सांविधानिक तंत्र की विफलता की रिपोर्ट देता है तो उसकी रिपोर्ट के आधार पर राज्य में राश्ट्रपति षासन लागू किया जा सकता है। राज्य में राश्ट्रपति षासन लागू होने पर राश्ट्रपति, राज्यपाल को जो भी प्रषासनिक, विधायी और वित्तीय कार्य सौंपे राज्यपाल उन सबको पूरा करता है तथा केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्य के षासन को संचालित करता है। राज्यपाल, अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत राज्य विधान– मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को राश्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है। राज्यपाल को अध्यादेष जारी नहीं कर सकता है। राज्यपाल राश्ट्रपति अर्थात् केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि ा के रूप में यह देखता है कि राज्य सरकार संकीर्ण प्रान्तीयवाद को न अपनाकर समस्त संघ के हितों का ध्यान रखे। संविधान की उपर्युक्त व्यवस्था पर दृश्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि राज्यपाल की मुख्य भूमिका राज्य के सांविधानिक अध्यक्ष की तथा उसकी गौण भूमिका केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता की है। किन्तु राज्यपाल के आचरण के वर्तमान तक के इतिहास से प्रकट यही होता है। कि उसकी दूसरी भूमिका अधिक महत्व की रही है। साँविधानिक अध्यक्ष के रूप में तो अपने औपचारिक कार्य करता ही है, परन्तु उसके उन कार्यों पर उसके केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में छाप अवष्य दिखाई देती है। यह छाप उस समय तो और अधिक स्पश्ट दिखाई देती है, जब केन्द्र की नीति किसी विशय में अलग तथा राज्य की नीति उस विशय में उससे भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में राज्यपाल प्रायः केन्द्र

की इच्छा के अनुसार चलता है। राज्यपाल की उक्त भूमिका के कारण उसके पद की उस आधार पर आलोचना भी कही जाती रही है कि केन्द्र उसके माध्यम से राज्यों में अपने राजनीतिक उद्देष्यों की पूर्ति करता है। इन सब आलोचनाओं के बावजूद भी इस पद का महत्व निर्विवाद रूप से बना हुआ है।

राज्य विधान मण्डल

. लोकतंत्रात्मक षासन पद्धति के अन्तर्गत एक ऐसे यंत्र की आवष्यकता होती है जो कार्यपालिका का निर्माण और उस पर नियंत्रण कर जनता के विचारों की अभिव्यक्ति करे तथा जनता की सम्प्रभुता के सिद्धान्त को मूर्त रूप दे । व्यवस्थापिका एक ऐसा ही यंत्र होती है। जहाँ दोनों सदनों की व्यवस्थापिका होती है वहाँ प्रथम सदन वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त पर

गठित होता है। द्वितीय या उच्च सदन कुछ विषेश वर्गों और संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता है।

. अँग्रेजी षासनकाल में भारत के प्रान्तों में विधानमण्डल का षनै– षनै विकास हुआ और इसके अधिकार भी विस्तृत हुए। किन्तु इस काल में उसे कभी पूर्ण प्रभुता प्राप्त नहीं हो पायी। प्रान्तों के गर्वनरों को विषेश अधिकार प्राप्त थे जिनसे कभी पूर्ण प्रभुता प्राप्त नहीं हो पायी । प्रान्तों के गर्वनरों को विषेश अधिकार प्राप्त थे जिनसे समस्त विधानमण्डल षक्तिहीन बने रहे पर नये संविधान के लागू होने पर राज्य विधानमण्डलों की स्थिति बिल्कुल बदल गयी। राज्य के प्रषासन में उनका महत्वपूर्ण स्थान हो गया है।

1. राज्य–व्यवस्थापिका का स्वरूप – संविधान द्वारा भारत के प्रत्येक राज्य के लिए विध ाानमण्डल की व्यवस्था की गयी जिसका काम राज्य–सूची के विशयों पर कानून बनाना है। राज्यों के षासन में विधानमण्डल का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि राज्य की कार्यपालिका (मत्रिपरिशद्) इसी के एक सदन (विधानसभा) के प्रति उत्तरदायी है।

भारत के सभी राज्यों के विधानमंडलों को स्वरूप एक सा नहीं है। कुछ राज्यों के विध नमंडलों में एक ही सदन है। जिन राज्यों में विधानमंडलों में एक ही सदन है उस सदन को विधानसभा कहा जाता है। पर जिन राज्यों के विधानमंडलों में दो सदन है वहाँ उच्च सदन को विधान परिशद् और निचले सदन को विधानसभा कहा जाता है। आजकल बिहार, पष्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेष पंजाब, मध्य प्रदेष, मैसूर, मद्रास, गुजरात, महाराश्ट्र और आन्ध्र प्रदेष, के विह नमंडलों में दो–दो सदन है। उड़ीसा, समम, राजस्थान और केरल में केवल एक ही सदन है। राज्यों की व्यवस्थापिका के संगठन में इस तरह का जो विभेद हो गया है इसके कारण का पता संविधान से नहीं चलता। यदि सभी राज्यों के विधानमंडलों में दो सदन होते तो यह . कहा जा सकता था कि द्विसदनात्मक प्रणाली को अपनाने से जो लाभ होता है उसी को ध्यान में रखकर संविधान निर्माताओं ने राज्यों की व्यवस्थापिका में दो सदनों की व्यवस्था की। लेकिन सभी राज्यों में दो सदनों की व्यवस्था नहीं है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि संविधान निर्माताओं को द्विसदनात्मक प्रगाली का लाभ ध्यान में नहीं था। वस्तुतः संविधान परिशद में इस बात को लेकर सदस्यों के बीच काफी मतभेद था। कुछ सदस्य दूसरे सदन को अनावष्यक समझते थे। अतएव इस बात पर कोई एक निर्णय नहीं हुआ। किस राज्य में एकसदनात्मक और किसमें द्विसदनात्मक विधानमंडल हों। इसका निर्णय राज्य सरकार पर छोड़ दिया गया । संविधान में यह उल्लेख कर दिया गया कि यदि विधानसभा में उपस्थित सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से विधानपरिशद् हटाने के लिए प्रस्ताव पारित कर दे तो संसद कानून बनाकर उस राज्य की विधान परिशद का अन्त कर देगी । इस प्रकार जिन राज्यों में एक ही सदन है वह दूसरे सदन की स्थापना की जा सकती है। उपर्युक्त कारणों से भारत संघ के राज्यों में विधान मण्डल का स्वरूप एक–सा नहीं है । किसी राज्य में एक सदन है तो किसी राज्य में दो। इसके पीछे एक ऐतिहासिक परम्परा भी है । संविधान लागू होने के समय जिन–जिन राज्यों

में उच्च सदन थे उन्हें ज्यों का त्यों छोड़ दिया गया और जिन राज्यों की व्यवस्थापिका में एक ही सदन था वहाँ वैसा ही रखा गया।

संविधन के अनुच्छेद 138वें अनुच्छेद में राज्यों की व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में वर्णन मिलता है। इसके अनुसार प्रत्येक राज्य के लिए एक विधानमंडल होगा। यह उस राज्य के राज्यपाल तथा राज्य के विधान मण्डल के सदनों से मिलकर बनेगा। इसके बाद संविधान उनकी बनावट, अधिकार और कार्यों का वर्णन करता है। आगे के पष्ठों में हम इन्हीं बातों पर प्रकाष डालेंगे।

2. विधान परिशद् उन राज्यों के विधानमंडल में जहाँ दो सदन हैं, उच्च या द्वितीय सदन को विधानपरिशद कहते हैं। आन्ध्र, बिहार, गुजरात, महाराश्ट्र, मध्यप्रदेष, कष्मीर मद्रास मैसूर पंजाब, उत्तरप्रदेष, और पष्चिम बंगाल राज्यों में विधानपरिशद की व्यवस्था है। षेश राज्यों के विधानमंडलों में एक ही सदन है।

आजकल इन विभिन्न राज्यों की विधान परिशदों के सदस्यों की संख्या इस प्रकार

निर्धारित है

संगठन दृ मूल संविधान में विधान परिशद को बनावट के सम्बन्ध में यह व्यवस्था थी किं उनके सदस्यों की संख्या विधानसभा के कुल सदस्यों का होना आवष्यक था। 1956 में संविध ाान के सातवें संषोधन द्वारा इस व्यवस्था में एक परिवर्तन हो गया है। अब विधानपरिशद के सदस्यों की कुल संख्या उस राज्य की विधानसभा के सदस्यों की कुल संख्या के तीसरे भाग से अधिक नहीं होनी चाहिए। परन्तु अभी भी उसमें सदस्यों की संख्या 40 से कम नहीं हो सकती

अभी विधान परिशद का संगठन निम्नलिखित प्रकार से होता है। इसमें तब तक कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता जब तक संसद इस सम्बन्ध में कोई कानून न बना दे ।

(क) विधान परिशद के लिए तिहाई सदस्य ऐसे निर्वाचक मंडल द्वारा निर्वाचित होंगे जिनमें राज्यों की नगरपालिकाओं, जिला परिशदों तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं के सदस्य होंगे और जिन्हें संसद कानून द्वारा निष्चित करेगी ।

(ख) इस परिशद की कुल सदस्य संख्या के बारहवें भाग का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचक मंडल द्वारा होगा जिसमें भारत के किसी भी विष्वविद्यालय के कम–से–कम तीन वर्श पुराने स्नातक होंगे या संसद द्वारा निर्धारित इसके बराबर अन्य योग्यता रखने वाले ।

(ग) इसकी कुल सदस्य संख्या के बारहवें भाग का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचक मंडल द्वारा होगा जिसमें माध्यमिक तथा इसके ऊपर के षिक्षणालयों के ऐसे अध्यापक हों जो कम से कम तीन वर्श तक अध्यापन का कार्य कर चुके हों।

(घ) कुल सदस्यों के एक तिहाई का निर्वाचन विधानसभा के सदस्य ऐसे व्यक्तियों मेसे करेंगे जो विधानसभा के सदस्य नहीं है।

(ड.) षेश सदस्य अर्थात सदस्यों की संख्या का छठा भाग – राज्यपाल द्वारा मनोनीत किए जाएंगे। राज्यपाल ऐसे व्यक्तियों को मनोनीत करेगा जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक सेवा का विषेश ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव हो ।

एक उदारहण : विहार विधान परिशद – बिहार में विधान परिशद का अस्तित्व संविधान लागू होने से पहले ही है। संविधान लागू होने पर इसकी सदस्य संख्या 72 थी । 1954 में संसद ने एक कानून बनाकर अन्य राज्यों की विधान परिशदों के साथ–साथ बिहार – विध ाानपरिशद के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी। आजकल 96 है, इनमें 34 सदस्य स्थानीय

संस्थाओं द्वारा 34 विधान सभाओं द्वारा, 8 षिक्षकों द्वारा और 8 स्नातकों द्वारा होते हैं तथा 12 सदस्यों को राज्यपाल नियुक्त करता है ।

कार्यकाल विधान परिशद एक स्थाई संस्था है इसका कभी विघटन नहीं हो सकता। इसके एक तिहाई सदस्य प्रति छः वर्श वर्श के पष्चात अपना स्थान रिक्त कर देते हैं और उन

स्थानों की पूर्ति नये सदस्यों द्वारा होती है। आरम्भ में इसका संगठन इस प्रकार हुआ था कि एक तिहाई सदस्य छः वर्श के लिए, एक तिहाई चार वर्श के लिए और षेश एक तिहाई दो वर्श के लिए हुए। बाद में क्रम बैठ जाने पर सभी सदस्य छः वर्श के लिए होने लगे। इस प्रकार अब प्रत्येक सदस्य एक बाद निर्वाचित होने पर छः वर्श के लिए इस सदन का सदस्य होता है। सदस्यता की योग्यता– विधानपरिशद का सदस्य निर्वाचित होने के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ आवष्यक हैं.

(क) उम्मीदवार भारत का नागरिक हो ।

(ख) उसकी उम्र तीस वर्श से कम न हो।

(ग) संसद द्वारा निष्चित अन्य योग्यताएँ पूरी करता हो ।

इसके विपरीत, वे व्यक्ति इसके सदस्य नहीं हो सकते जिनमें निम्नलिखित आयोग्यताएँ हैं

(क) भारत सरकार तथा किसी राज्य सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर होना ।

(ख) किसी न्यायालय द्वारा पागल घोशित होना ।

(ग) अनुन्मुक्त दिवालिया होना

(घ) भारत का नागरिक न होना ।

सदस्यता की समाप्ति – विधान परिशद का कोई सदस्य सदन के अधिवेषन परिशद की आज्ञा लिए बिना लगातार 60 दिनों तक अनुपस्थित रहता है तो उसका स्थान रिक्त समझा जायगा। इसके अतिरिक्त कोई भी सदस्य एक ही साथ विधान सभा के दोनों सदनों को सदस्य नहीं हो सकता है। यदि कोई सदस्य दोनों सदनों का सदस्य है तो उसे एक निष्चित समय के भीतर किसी एक सदन की सदस्यता त्याग देनी पड़ेगी यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसकी दोनों सदनों की सदस्यता समाप्त मानी जाएगी।

पदाधिकारी – विधान परिशद के दो पदाधिकारी होते हैं – सभापति और उपसभापति द्य परिशद के निर्वाचन के बाद इसके सदस्य अपने में से दो सदस्यों को इन पदों के लिए चुन लेते हैं । सभापति की अनुपस्थिति में उपसभापति उसका काम करता है। परिशद की बैठकों की कार्यवाहियों को सुचारू रूप से चलाना सभापति का मुख्य काम है। सभापति को केवल निर्णायक मत देने का अधिकार है। अपने बहुमत से प्रस्ताव पारित कर विधान परिशद इन पदाधिकारियों को हटा भी सकती हैं।

कार्य पद्धति – एक साल में विधान परिशद् के कम से कम दो अधिवेषन अवष्य होंगे। प्रत्येक बात का निर्णय उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से होगा। इसकी कोई भी कार्यवाही विधि के अनुसार समझी जायगी जब कम से कम दस सदस्य या कुल सदस्य का दसवा हिस्सा उपस्थित हो ।

अधिकार और कार्य विधान परिशद के अधिकार और कार्य का अध्ययन हम निम्नलिखित षीर्शकों के अंतर्गत कर सकते हैं

(क) विधानपरिशद तथा साधारण विधेयक राज्य सूची तथा समवर्ती सूची में वर्णित विशयों पर विधानपरिशद को कानून बनाने का अधिकार है, किन्तु इस क्षेत्र में इसका अधि कार काफी सीमित है। यह बात ठीक है कि कोई भी साधारण विधेयक विधानपरिशद में पेष किया

जा सकता है। (वित्त विधेयक या धन विधेयक इस सदन में पेष नहीं किया जा सकता), फिर भी इस क्षेत्र में विधानसभा की ही इच्छा सर्वोपरि है। विधानसभा द्वारा स्वीकृत विधेयक को परिशद् नामंजूर कर सकती है, लेकिन अन्त में विधानसभा की ही विजय होती है। यदि कोई विधेयक विधानसभा द्वारा पारित हो गया हो परन्तु विधान परिशद उसे अस्वीकृत कर दे या एक महीने तक उसे नहीं लौटाये या तीन महीने से अधिक अपने पास रखे रहे या उसमें ऐसे सषोधन कर दे जो विधानसभा को मान्य न हों तो वह विधेयक विधानसभा में पुनः पारित होकर फिर से परिशद में भेजा जायगा । यदि इस बार परिशद उसे अस्वीकृत कर दे या एक महीने तक उसे नहीं लोटाये या कोई ऐसा संषोधन कर दें जो विधानसभा को स्वीकार नहीं. हो तो वह उसी रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायगा जिस रूप में वह विधानसभा द्वारा पारित किया गया था।

इस स्थल पर यह जान लेना अनुपयुक्त न होगा कि संघ में जब लोकसभा और राज्यसभा के बीच इस तरह को कोई विवाद उठ खड़ा होता है तो उसके समाधान के लिए राश्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाता है। यह व्यवस्था राज्यों की व्यवस्थापिकां के दोनों सदनों में मतभेद की स्थिति में नहीं की गयी है। इससे यह स्पश्ट हो जाता है कि साध रण विधेयक के सम्बन्ध में विधान परिशद् के अधिकार नाम मात्र के हैं। .

(ख) विधानपरिशद तथा वित्त विधेयक – क्ति विधेयक केवल विधानसभा मैं ही पेष किए जा सकते हैं, विधान परिशद में नहीं। जब विधानसभा वित्तसम्बन्धी कोई विधेयक पारित कर देती है। तो उसे विधान परिशद में उसकी स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। विधान परिशद के लिए आवष्यक है कि ऐसे विधेयकों को अपनी सम्मति के साथ 14 दिनों के अन्दर परिशद् उस विधेयक को वापस नहीं भेजती है तो वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा अपने मूल रूप में ही पारित समझा जाएगा। यदि परिशद 14 दिन के अन्दर ही कुछ संषोधन के साथ उस विधेयक को लौटा दे तो उस संषोधन को मानना या न माननां विधानसभा की इच्छा पर निर्भर है । अतएव यह स्पश्ट है कि वित्तविधेयक के समबन्ध में इस सदन का अधिकार नगण्य है ।

(ग) विधानपरिशद् और कार्यपालिका – कार्यपालिका पर नियंत्रण के सम्बन्ध भी विध ाानपरिशद के अधिकार नहीं के बराबर है। राज्य की मंत्रिपरिशद इस सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। इसलिए इस सदन द्वारा अविष्वास का प्रस्ताव पारित करने का कोई अर्थ नहीं होता है । किन्तु कुछ परोक्ष तरीकों से विधानपरिशद् कार्यपालिका पर नियंत्रण रख सकती है। परिशद को मंत्रियों से प्रष्न करने, वादविवाद करने तथा काम रोको प्रस्ताव रखने का अधिकार है। इस सदन के सदस्य मंत्रिपरिशद के मंत्री भी नियुक्त हो सकते हैं।

'विधानपरिशद् की व्यर्थता पर निश्कर्श – विधान परिशद् के नगण्य अधिकारों को देखकर यह स्पश्ट हो जाता है कि यह एक बिल्कुल षक्तिहीन षदन है। संविधान द्वारा वि नसभा को महत्ता दी गई है। न कि विधानपरिशद् को । इसके अधिकारों के उपर्युक्त वर्णन से स्पश्ट हो जाता है कि इस संस्था को कोई प्रभावषाली अधिकार नहीं हैं। यह विधानसभा पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रख सकती है। धन– विधेयकों को यह केवल 14 दिनों तक और साधारण विधेयकों को अधिक से अधिक चार महीने तक रोक सकती है। केन्द्र की तरह दोनों सदनों के मतभेद होने पर संयुक्त बैठक की भी व्यवस्था नहीं है। अब प्रष्न यह उठता है कि ऐसी षक्तिहीन संस्था को रखने से लाभी ही क्या है जबकि कानून निर्माण पर इसके निर्णयों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता? इस सम्बन्ध में दोनों तरह के विचारक है। आलोचकों ने विध

नपरिशद् के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए हैं

(क) विधानपरिशद् का संगठन प्रजातांत्रिक प्रणाली के विरूद्ध हैं, क्योंकि इसके सदस्यों का निर्वाचन परोक्ष ढंग से होता है। सत्तारूढ़ राजनीतिक दल कुछ अलोकप्रिय व्यक्तियों को विध ाानपरिशद् बनाकर मंत्रिपरिशद् में सम्मिलित करता है। उदाहरण के लिए भारत के कुछ

राज्यों में ही विधानपरिशद् की व्यवस्था कांग्रेस दल के राजनीतिक स्वार्थसाधन के लिए की गयी है। वस्तुतः यह राजनीतिक लाभ के लिए एक पिछले दरवाजे की तरह है जिससे वैसे लोग भी राजनीतिक पद पर चले आते हैं जिन्हें जनता ने अस्वीकृत कर दिया हो । भूतपूर्व बम्बई राज्य के भूतपूर्व मुख्यमंत्री मोरारजी देसाई इसके उदाहरण हैं। 1952 के आम चुनाव में हार गये और तब सभी जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों की उपेक्षा करते हुए उन्हें तुरन्त विध गगनपरिशद का सदस्य मनोनीत कर मुख्यमंत्री बना दिया गया। इसी तरह विहार में 1968 में बिन्देष्वरी प्रसाद मंडल को विधान परिशद का सदस्य मनोनीति कर मुख्यमंत्री बना दिया गया। इसी तरह बिहार में 1968 में बिन्देष्वरी प्रसाद मंडल को विधानपरिशद का सदस्य मनोनीत कर मुख्यमंत्री बनाया गया। इसके अतिरिक्त विधानपरिशद कॉंग्रेसदल क पदलोलुप, अयोग्यं और अप्रिय राजनीतिक कार्यकर्ताओं को खुष करने का एक माध्यम तो रही है !

(ख) विधानपरिशद को कोई व्यावहारिक षक्ति भी प्राप्त नही है। साधारण विधेयक और ध ानविधेयक के निर्माण में विधान परिशद की स्वीकृति या अस्वीकृति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। संसद के दोनों सदनों में मतभेद होने पर संयुक्त बैठक का प्रावधान किया गया है। राज्य में विधानमंडल के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का कोई प्रबन्ध नहीं है। अंतः कि नपरिशद् पूर्णतः अनावष्यक है और राज्यों की निधि पर भार स्वरूप है। फ्रेंच लेखक अब्बेंसाइज के विचारानुसार, ''यदि उच्च सदन निचले पर भारस्वरूप है। फ्रेंच लेखक अब्बेसाइज के विचारानुसार, ''यदि उच्च सदन से सहमत है तो व्यर्थ है और यदि सहमत नहीं है तो यह उसकी बदमाषी है।

(ग) द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका संघात्मक राज्य का एक आवष्यक लक्षण है। भारत भी एक संघात्मक राज्य है। अतः यहाँ भी द्विसदानात्मक व्यवस्थापिका आवष्यक है । परन्तु इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जब केन्द्र में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की व्यवस्था कर दी गयी है तो राज्यों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की आवष्यकता ही क्या है? श्री पालंडे ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है। कि ''भारत संघ के स्वायत्त राज्यों में द्विसदनात्मकं व्यवस्थापिका की आवष्यकता नहीं है।

(घ) आलोचकों का यह भी तर्क है कि इस सदन में कुछ विषिश्ट वर्गों का प्रतिनिधि त्व होता है। अतः उनका काम लोकप्रिय सदन द्वारा प्रस्तावित प्रगतिषील विधयकों के मार्ग में रोड़ा अटकांना भर रह गया है।

(ड.) विधानपरिशद् का संगठन भी बहुत दोशपूर्ण है। इसके संगठन में प्रत्यक्ष निर्वाचन, अप्रत्यक्ष निर्वाचन का मनोनयन तीनो पद्धतियों को अपनाकर सदन को 'भानुमती का पिटारा बना दिया गया है। इसके परिणामस्वरूप सदन प्रभावपूर्ण तरीके से काम करने में सफल नहीं हो सकता है।

(च) इसके बाद यह प्रष्न उठता हैं कि भारत जैसे गरीब देष के लिए इस प्रकार की अनावष्यक, अनुपयोगी और खर्चीली संस्था कायम रखने का क्या नैतिक औचित्य हो सकता है? आष्चर्य की बात यह है कि कुछ राज्यों में विधान परिशदों को सष्जन कर दिया गया है। जहाँ पहले वे न थीं। इतना ही नहीं, संविधान के सप्तम् संषोधन के द्वारा पुरानी विध ाानपरिशदों में सदस्यों की संख्या भी बढ़ा दी गयी है।

परन्तु कुछ विद्वानों का तर्क भी है कि विधान परिशद से हानियों के बदले लाभ अधिक है। इसे बनाये रखने के पक्ष में इसी कारण विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न तर्क दिये गये हैं–

(क) विधानपरिशद् के कारण षक्ति केवल विधानसभा में केन्द्रीभूत नहीं हो पाती ! यदि ऐसा होता तो यह मंत्रिपरिशद के लिए बहुत घातक सिद्ध होता । विधानपरिशद् की निरंकुषता रोकती है।

(ख) विधानसभा को बहुत सारे कार्य करने पड़ते हैं। सभी विधेयकों की बारीकियों में विध ाानसभा नहीं जा सकती। विधानपरिशद् इस कमी को पूरा करती है।

(ग) विधानपरिशद् को विधानसभा से पारित विधेयकों को दुहराने का मौका मिल जाता है। इससे विधेयकों में त्रुटियाँ रह जाने की कम सम्भावना रहती है।

(घ) विधानसभा के लोग जनता के प्रतिनिधि होते हैं। वे किसी भी समस्या पर जनता के भावावेष से प्रभावित हो सकते हैं और तरह–तरह की गलतियाँ कर सकते हैं। विधानपरिशद् के साथ ऐसा होने की कम ही गुंजाइष है। विधानपरिशद में वयोवष्द्ध लोग होते हैं। यदि क्‍निसभा के लिए 25 वर्श सदस्यता की उम्र रखी गयी है तो विधान परिशद् में अनुभवी और वयोवष्द्ध लोगों की संख्या अधिक होती है। उनके अनुभव और समझदारी से विधायन क्षेत्रों में लाभ उठाया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि जनता के भावावेष के थपेड़े में आने का उनके साथ, प्रष्न ही नहीं उठता।

(ड.) विधानपरिशद् को विधानसभा से पारित विधेयकों को जब तक रोक रखने का अधिकार है तब तक की अवधि में जनता को उन विधेयकों की अच्छाइयों और बुराइयों पर सोचने का मौका मिल जाता है। अस्तु विधानपरिशद् के कारण किसी समस्या में जनमत के निर्माण का अवसर मिल जाता है।

(च) विधानपरिशद् में विभिन्न वर्गों और अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व का अवसर मिल जाता है। यदि राज्य के विधानमंडल में केवल विधानसभा ही रहती तो उस विभिन्न वर्गों और अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता जो साधारणतया विधानपरिशद में प्रतिनिधित्व पा लेते हैं।

(छ) विधानपरिशद में समाजसेवी, साहित्यिक, विद्वान, कलाप्रेमी, वैज्ञानिक आदि को भी मनोनीत कर उनके अनुभव और ज्ञान से षासनकार्यों में लाभ उठाया जा सकता है।

(ज) संसार के प्रायः सभी राज्यों में द्वितीय सदन है। अस्तु विधान परिशद् इस कसौटी पर खरी उतरती है। यदि भारत के विभिन्न राज्यों में विधानपरिशद् की व्यवस्था है तो वह द्विसदनात्मक पद्धति की प्रचलित परम्परा के अनुसार ही है।

दोनों दृश्टिकोणों पर विचार करने के बाद निश्कर्श के रूप में यहीं कहा जा सकता है कि विधानपरिशद राज्य के षासनसंगठन का आलंकारिक भाग भर रह गयी है। इसकी अपनी उपयोगिताएँ हैं, परन्तु अभी हवा का रूख इसके विरुद्ध है।

चतुर्थ आम चुनाव के बाद विधानपरिशद्– चतुर्थ आम चुनाव के बाद कई राज्यों में गैर कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने। चूँकि विधानपरिशदों की रचना पुरानी थी और उनमें काँग्रेस का ही बहुमत था, इसलिए विधानपरिशदों में सत्तारूढ़ दल को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विधानपरिशदों में कई बार गैर कांग्रेसी सरकार को हार खानी पड़ी और उसने ऐसे–ऐसे प्रस्ताव पारित किये जो सरकार को नापसंद थे।

1969 के मध्यावधि चुनाव के बाद पष्चिम बंगाल तथा पंजाब में यह समस्या और भी गम्भीर हो गयी। पष्चिम बंगाल की विधानपरिशद् ने विषेश तौर पर संयुक्त मोर्चा सरकार को पषोपेष में डालना षुरू किया। इस हालत में पष्चिम बंगाल की विधानसभा ने एक प्रस्ताव पारित कर परिशद को समाप्त करने की माँग की। केन्द्रीय सरकार द्वारा इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया और वहाँ विधानपरिशद समाप्त हो गयी। इसी तरह पंजाब और उत्तर प्रदेष में भी इसे समाप्त कर दिया गया। बिहार विधानसभा में भी इसे हटाये जाने से सम्बद्ध प्रस्ताव पारित कर दिया था। परन्तु फिर 4 दिसम्बर 1970 को एक प्रस्ताव पारित कर विध नसभा ने 7 मई, 1974 तक विधानपरिशद् को विघटित नहीं करने का निष्चय किया । अतः स्पश्ट है कि इसकी उपयोगिता दिनोंदिन घटती जा रही है। अतः परिवर्तित राजनीतिक स्थिति में आवष्यकता इस बात की है कि सभी राज्यों से विधानपरिशदों को समाप्त कर दिया जाय।
3. विधानसभा – भातर संघ जिन–जिन राज्यों के विधानमंडल में दो सदन हैं उनके निचले या प्रथम सदन को 'विधानसभा' संज्ञा दी गयी है। इस सदन का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। संविधान के अनुसार सभी राज्यों में इस सदन का होना आवष्यक है।

विधानसभा का संगठन – विधानसभा के सदस्यों का निर्वाचन वयस्कमतांधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष ढंग से होता है। इसके सदस्यों की संख्या प्रत्येक राज्य की जनसंख्या के आध ाार पर निष्चित की जाती है। फिर भी संविधान में यह स्पश्ट कर दिया गया है कि किसी भी राज्य की विधानसभा में यह स्पश्ट कर दिया गया है कि किसी भी राज्य की विध ाानसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या पाँच सौ तथा न्यूनतम साठ हो सकती है। विध ाानसभा चुनाव के लिए प्रत्येक राज्य को प्रादेषिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है। संविध मान के मूल अनुच्छेद 107 (2) में यह निष्चय किया गया था कि विधानसभा में प्रतिनिधित्व का आधार इस प्रकार होगा कि 75,000 जनसंख्या के लिए एक प्रतिनिधि से अध ाक नहीं हो । लेकिन संविधान के सप्तम् संषोधन ने इस निष्चित जनसंख्या को उठा दिया हैं। इसकी जगह

अब यह व्यवस्था की गयी है कि सारे राज्य में निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या और प्रतिनिध ात्व का अनुपात बराबर हो । इन्हीं क्षेत्रों में प्रत्यक्ष ढंग से गुप्त मतदान द्वारा सदस्यों को निर्वाचन होता है। प्रत्येक मतदाता के लिए यह आवष्यक है कि वह भारत का नागरिक हो, इक्कीस वर्श से कम आयु का न हो, निवास की षर्तें पूरी करता हो और किसी अपराध, भ्रश्टाचार अथवा गैरकानूनी कार्य के कारण न्यायालय अयोग्य न ठहरा दिया गया हो ।

☐ प्रत्येक राज्य की विधानसभा में अनुसूचित जातियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। स्थानों का यह संरक्षण इन जातियों की जनसंख्या के अनुपात से ही होता है। संविधान के मूल अनुच्छेद 322 के अनुसार यह अवधि पूरी हो रही थी। लेकिन, संविधान के अश्टम संषोधन (दिसम्बर, 1959) के द्वारा इस अवधि को दस वर्श के लिए और भी बढ़ा दिया गया । पुनः संविधान के 23वें संषोधन (1970) द्वारा इस अवध ा को 10 वर्श के लिए और भी बढ़ा दिया गया । यह भी स्पश्ट कर दिया गया कि इसमें मनोनीत आँग्ल भारतीय सदस्य एक होगा।

इसी तरह यदि, सम्बद्ध राज्य का राज्यपाल यह समझे कि विधानसभा में ऐंग्लो–इंडियन समुदाय को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है तो वह उस समुदाय से कुछ सदस्यों को मनोनीत कर सकता है। इस समुदाय के कितने व्यक्ति विधानसभा के सदस्य मनोनीत किये जायेंगे, इनकी संख्या संविधान द्वारा निष्चित नहीं की गई थी। संविधान के अश्टम संषोधन द्वारा प्रत्येक राज्य के लिए इस संख्या को निष्चित कर देने का प्रयास किया गया था । किन्तु, लोकसभा के कांग्रेसी सदस्यों की लापरवाही के कारण विधेयक का यह अंष पारित नहीं हो सका। इस समय विभिन्न राज्यों की विधानसभा के सदस्यों की संख्या इस प्रकार है–

' तथा 7 अन्य केन्द्र षासित क्षेत्र में एक–एक विधान सभा सदस्य हैं।

दिल्ली में विधानसभा के स्थान पर महानगरपरिशद है। षेश केन्द्रीय क्षेत्रों में विध नसभाएँ नहीं हैं। बल्कि उन्हें केवल लोकसभा में ही प्रतिनिधित्व दिया गया है।

विधानसभा के सदस्यों की योग्यताएँ

(क) वह भारत का नागरिक हो,

1 (ख) वह पच्चीस वर्श की आयु पूरी कर चुका हो,

(ग) उसमें वे सभी योग्यताएँ हों जिन्हें विधानमंडल ने उसके लिए निर्धारित किया हो । पर यदि किसी व्यक्ति में निम्नलिखित अयोग्यताएँ हों तो वह विधानसभा की सदस्यता का

उम्मीदवार नहीं हो सकता

(क) वह भारत का नागरिक न हो,

(ख) भारत सरकार या किसी भी राज्य सरकार के ऐसे पद पर काम करता हो जिससे

उसे आर्थिक लाभ होता हो,

(ग) विधानमंडल द्वारा निर्मित किसी नयी विधि के अन्तर्गत अयोग्य ठहराया गया हो,

(घ) पागल हो या किसी न्यायालय द्वारा पागल करार दिया गया होय

(ड.) ऐसा दिवालिया हो जिसने भुगतान न किया हो ।

सदस्यों के पद की रिक्तता –

कोई भी व्यक्ति एक ही समय किसी राज्य के विधानमंडल के दोनों सदनों का सदस्य नहीं हो सकता। यदि कोई व्यक्ति दोनों सदनों का सदस्य निर्वाचित हो जाए तो उसे किसी एक सदन की सदस्यता छोड़नी पड़ेगी। इसी तरह एक ही समय कोई व्यक्ति दो या अधिक राज्यों के विधानमंडलों का सदस्य नहीं हो सकता। यदि कोई व्यक्ति इस स्थिति में आ गया हो तो उसे राश्ट्रपति द्वारा निष्चित अवधि के अन्दर ही एक को छोड़कर अन्य राज्यों के विध ा नमण्डलों की सदस्यता त्याग कर देना पड़ेगा। ऐसा नहीं करने से उसका स्थान सभी विध ा नमंडलों से रिक्त समझा जायगा । यदि कोई सदस्य अपने सदन की आज्ञा बिना उसके अधि वेषन से लगातार साठ दिनों तक अनुपस्थित रहे तो उसका स्थान रिक्त घोशित कर दिया जायगा। अपना त्यागपत्र देकर भी कोई सदस्य विधानसभा की सदस्यता से मुक्त हो सकता है। विधानसभा का कार्यकाल साधारणतया विधानसभा का कार्यकाल पाँच वर्श का है। इस अवधि के समाप्त होते ही विधानसभा स्वयमेव भंग हो जाती है। यदि राज्यपाल चाहे तो वह इस अवधि के भीतर भी विघटन कर सकता है। आपातकाल में विधानसभा के कार्यकाल में वषद्धि भी की जा सकती है, परन्तु यह संसद द्वारा पारित कानूनों के आधार पर ही हो सकता है। संसद एक बार में केवल एक वर्श के लिए ही इसकी कार्यअवधि बढ़ाई जा सकती है, इससे अधिक नहीं घोशणा समाप्त होने के उपरान्त यह अतिरिक्त अवधि किसी भी दषा में छह महीने से अधिक नहीं हो सकती।

विधानसभा के पदाधिकारी विधानसभा के पदाधिकारी होते हैं–अध्यक्ष और उपाध्यक्ष। विध ाानसभा के निर्वाचन के बाद इस सदन के सदस्य अपने सदस्यों में से किन्हीं दो सदस्यों को इन पदों के लिए चुन लेते हैं। इन पदाधिकारियों के कार्य कार्य और अधिकार वि

नसभा के सम्बन्ध में वही हैं जो संसद की लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष उस सभा के

सम्बन्ध में वही हैं जो संसद की लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को अपदस्थ करने की करने की प्रक्रिया के अनुसार ही है। जहाँ तक अध्यक्ष के कार्यों का प्रष्न है, संक्षेप में यहाँ यह कह देना कोई अनुपयुक्त न होगा कि सदन की बैठक अध्यक्ष की अध्यक्षता में ही होती है और उसकी कार्यवाहियों को सुचारू रूप से चलाना उसका मुख्य काम है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष उसका आसन ग्रहण करता है । अध्यक्ष के अधिकार और कार्यों का वर्णन इस प्रकार किया जा रहा सकता है–

(क) अध्यक्ष का सबसे महत्वपूर्ण कार्य सदन में षांति और सुव्यवस्था बनाये रखना है। सभा में अनुसाषन कायम रखने की जिम्मेदारी उसी के ऊपर है। अनुषासन कायम रखने के उद्देष्य से वह किसी भी सदस्य को सदन से बाहर जाने की आज्ञा दे सकता है या उसकी सदस्यता निलम्बित कर सकता है।

‘(ख) सदन में प्रष्न या प्रस्ताव उसकी अनुमति के बाद ही उपस्थित किए जा सकते हैं। (ग) सदन की विभिन्न कार्यवाहियों के लिए समय निर्धारित करना अध्यक्ष का ही कार्य है (घ) कार्यवाहियों का क्रम निष्चित करना तथा भाशणों के लिए समय निष्चित करना भी उसी का कार्य है। इस सम्बन्ध में वह सदन के विभिन्न दलों के नेताओं से परामर्ष कर सकता है।

(ड.) विभिन्न समितियों के अध्यक्षों को मनोनीत करना भी उसी का कार्य है।

(च) अध्यक्ष सदन के नियमों की भी व्याख्या करता है। तथा विवादास्पद विशयों पर अपना

निर्णय देता है।

(छ) सदन में गम्भीर अव्यवस्था तथा अषान्ति की अवस्था में अध्यक्ष सदन का कार्य स्थगित

या निलम्बित कर सकता है।

(ज) सदन के सदस्यों के विषेशाधिकार की रक्षा कर उत्तरदायित्व भी अध्यक्ष पर ही है। (झ) कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं, यह निष्चित करने का अधिकार अध्यक्ष को

ही है ।

(ञ) मानहानिकारक, अषिश्ट, असंसदीय तथा अनुचित षब्दों को अध्यक्ष सदन की

कार्यवाही से निकाल सकता है।

इस प्रकार, स्पश्ट हो जाता है कि उसे सदन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी पड़ती है । अध्यक्ष का पद महत्वपूर्ण होता है। ब्रिटिष लोकसभा के अध्यक्ष के सम्बन्ध में ठीक ही कहा जाता है कि उसकी पोषाक की खड़खड़ाहट ही सारे सदन को षान्त करने के लिए पर्याप्त है। इसका कारण यह है कि वह निश्पक्ष होता है और षान्त करने के लिए पर्याप्त है। इसका कारण यह है कि वह निश्पक्ष होता है और उसे अपने दल की सदस्यता से त्यागपत्र देकर तटस्थ हो जाना पड़ता है। वह निश्पक्षतापूर्वक अपने सदन की कार्यवाही सम्पन्न करता है। बिहार – विधानसभा या किसी भी राज्य की विधानसभा के अध्यक्ष को अपने दल की सदस्यता से त्यागपत्र दे देना चाहिए ताकि वह निश्पक्षतापूर्वक सदन की कार्यवाही चला सके। परन्तु हमारे यहाँ विधानसभा के अध्यक्ष के लिए ऐसा करना आवष्यक नहीं ठहराया गया है। यही – कारण है कि उससे उतनी निश्पक्षता की आषा नहीं की जा सकती है। यह बात सही है कि विधानसभा के अध्यक्ष को लोकसभा के अध्यक्ष की तरह व्यापके अधि ाकार दिये गये है। फिर भी व्यवहार में उसकी स्थिति लोकसभा के अध्यक्ष की तरह गौरवपूर्ण नहीं है। बराबर ऐसा देखने को मिलता है कि विधानसभा के सदस्य अध्यक्ष की आज्ञा का उल्लंघन कर रहे हैं। कई बार तो किसी सदस्य का सदन से बाहर निकालने के लिए अध्यक्ष को मार्षल की सहायता कृकी आवष्यकता पड़ जाती है।

अध्यक्ष के अधिकार के सम्बन्ध में न्या विवाद – चतुर्थ आम चुनाव के बाद कृ अध्यक्षों की स्थिति भी विवादपूर्ण बन गयी हैं। पष्चिम बंगाल के अध्यक्ष बी०के० बनर्जी ने 1968

स्वप्रगति की जाँच करें : 1. नुयिक्त राज्यपाल निर्वाचित क्यों नहीं होते हैं? कोई दो बाजिव कारणः बताइए ।

2. राज्यपाल पर पर प्रायः उन्हीं व्यक्तियों को क्यों नियुक्त किया जाता है जो केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के विष्वास पात्र हों ?

3. क्या राज्यपाल को एक निर्दलीय आचरण की अपेक्षा की जाती है? स्पश्ट करें।

ै में विधानसभा की बैठक को यह कहकर अनिष्चित काल तक के लिए स्थगित कर दिया कि घोश – मंत्रिमंडल (जिसके परामर्ष पर विधानसभा की बैठक बुलायी गयी थी) गैरकानूनी है। कुछ आलोचकों ने अध्यक्ष बनर्जी की इस कार्यवाही की कड़ी निन्दा की। इसी प्रकार पंजाब की विधान सभा के अध्यक्ष ने सभा की बैठक को एकाएक स्थगित कर उसे बजट पारित करने से रोका। फलतः राज्यपाल को अध्यादेष द्वारा सभा की बैठक बुलाकर पुलिस के संरक्षण में बजट पारित करवाना पड़ा। इन घटनाओं से अध्यक्षों की स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ा है और वे अब निर्दलीय नहीं माने जा रहे हैं।

विधानसभा की कार्यविधि – विधानसभा में प्रत्येक बात का निर्णय उपस्थित तथ मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से होता है। सदन की कार्यवाही विधि के अनुसार तभी मानी जायगी जब कम–से–कम कुल सदस्य संख्या का दसवां भांग उपस्थित हो। इस सभा की कार्यवाही के अन्य नियम अध्यक्ष के परामर्ष से राज्यपाल बनाता है। यदि विधानमंडल के दोनों सदनों को संयुक्त अधिवेषन हो तो उसमें विधानसभा का अध्यक्ष ही समापतित्व करेगा ।

.विधानसभा के सदस्यों की उन्मुक्तियाँ और विषेशाधिकार – अपने कर्तव्य का अच्छी तरह पालन करने के लिए विधानसभा के सदस्यों को अनेक उन्मुक्तियाँ और विषेशाधिकार प्राप्त हैं (ये सुविधाएँ) विधानपरिशद् के सदस्यों को सदन के भीतर भाशण देने की पूरी स्वतंत्रता है । विधानमंडल या उसकी किसी समिति में व्यक्त किये गये विचारों या मतदान के लिए किसी सदस्य के विरूद्ध किसी न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। अपने सदस्यों की उन्मुक्तियों के सम्बन्ध में विधान–मंडल समय–समय पर नियमों का निर्माण करेगा, किन्तु जबतक अस विशय पर कोई नियम नहीं बनता तब तक इसके सदस्यों को वे सारी सुविधाएँ प्राप्त रहेंगी जो ब्रिटेन के हाउस ऑफ कामन्स के सदस्यों को प्राप्त हैं।

विधानसभा के सदस्यों को विधानमंडल द्वारा निर्धारित वेतन, भत्ते तथा अन्य सुविधाएं मिलती हैं।

षपथग्रहण – निर्वाचित होने के बाद विधानसभा के प्रत्येक सदस्य को राज्यपाल या उसके द्वारा नियुक्त किसी पदाधिकारी के सामने संविधान के प्रति भक्ति और अपने कर्तव्यपालन के सम्बन्ध में षपथ लेनी होती है। संविधान के सोलहवें संषोधन (मई, 1963) के अनुसार उन्हें अब भारत की अखंडता बनाये रखने की भी षपथ लेनी पड़ती है।

विधानसभा के अधिकार और कार्य – राज्य के षासन में विधानसभा का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। संघ षासन में जो स्थान लोकसभा का है, राज्य के षासन में वही स्थान विधानसभा का है। विधानसभा को राज्य–सूची तथा समवर्ती सूची के समस्त विशयों पर कानून बनाने का अधिकार है। विधिनिर्माण के अतिरिक्त उसका अन्य महत्वपूर्ण अधिकार और राज्य की कार्यपालिका पर नियंत्रण रखना है। अपनी सुविधा के लिए हमें विधानसभा के अधिकार और कार्यों का अध्ययन निम्नलिखित षीर्शकों में करेंगे–

(क) विधि, निर्माण सम्बन्धी अधिकार – राज्यस्तर पर विधिनिर्माण के खेत्र में यथार्थ विधायनी षक्ति विधानसभा को प्राप्त है। इंसे राज्य सूची और समवर्ती सूची में वर्णित सभी विशयों पर कानून बनाने का अधिकार है। राज्य सूची पर कानून बनाने में तो यह स्वच्छन्द हैं, लेकिन समवर्ती सूची के विशयों पर प्रथम अधिकार संसद् को है। यदि राज्य के विधनमण्डल की बनायी विधि और संसद की बनायी उस विशय की विधि में विरोध है तो संसद की बनायी विधि ही वैध मानी जायगी। पर जहाँ तक राज्य सूची से समबद्ध विशयों के प्रष्न हैं, इस क्षेत्र में विधानसभा का स्थान सर्वोपरि है। जैसा कि विधानपरिशद् के अध्ययन के समय बतलाया जा चुका है। कोई भी साधारण विधेयक विधान सभा से पारित होकर विधान परिशद में जायगा अवष्य, किन्तु विधानपरिशद् उस विधेयक को चार महीने से अधिक के लिए नहीं रोक सकती। यदि विधानपरिशद उसमें कोई संषोधन लाये या किसी प्रकार का सुझाव पेष करे तो उसे मानना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर है। इस तरह के मतभेद की स्थिति में, केन्द्र की तरह, दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की व्यवस्था भी नहीं है।

विधानमंडल द्वारा पारित विधेयक राज्यपाल के पास उसकी अनुमति के लिए जाता है। राज्यपाल इस तरह के विधेयक को पहलीबार अस्वीकृत कर अपने सुझावों के साथ विधान मण्डल के पास पुनर्विचार के लिए लोटा सकता है। लेकिन यदि विधानसमा अपने निष्चय

पर अड़ जाए और उस विधेयक को दुबारा फिर उसी रूप में राज्यपाल के पास भेजे तो इस बार राज्यपाल को अपनी स्वीकृति देनी ही पड़ेगी।

असे प्रकार यह स्पश्ट हो जाता है कि सभी तरह के साधारण विधेयकों पर इस सदन का पर्याप्त नियंत्राण है। विधायन में विधानसभा का स्थान राज्यपाल और परिशद दोनों के ऊपर है।

(ख) वित्तीय अधिकार

वित्तीय क्षेत्र में तो विधानसभा सर्वेसर्वा है। वित्त या धन से सम्बद्ध विधेयक केवल विधानसभा मे ही पेष किया जा सकते हैं। विधानपरिशद् में नहीं । लेकिन इस प्रकार का कोई विधेयक विधानसभा द्वारा पारित हो जाय तो उसे विधानपरिशद् के पास स्वीकृति के लिए भेजा जाना जरूरी है। पर विधानपरिशद विधानसभा की इच्छा के विरूद्ध इन विधेयकों में किसी प्रकार का संषोधन नहीं कर सकती और न चौदह दिनों से अधिक के लिए इन्हें रोककर रख सकती है यदि इस अवधि में इस प्रकार का कोई विधेयक परिशद द्वारा विधानसभा में वापस नहीं भेज दिया जाता है। तो यह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायगा। राज्य के वार्शिक बजट पर विधानसभा का पूर्ण नियंत्रण है। कर बढ़ाना या घटाना पूर्णतया उसी पर निर्भर है। इस प्रकार, जहाँ तक धन विधेयक और वित्त विधेयक का सम्बन्ध ज है, सारी षक्ति राज्य विधानसभा में निहित है। यदि विधानमंडल में कभी यह प्रष्न उठे कि अमुक विधेयक धन विधेयक हे या नहीं तो उसके निर्णय का अधिकार विधानसभा के अध्यक्ष को है और इस सम्बन्ध में उसका निर्णय का अधिकार विधानसभा के अध्यक्ष को है और इस सम्बन्ध में उसका निर्णय अन्तिम होगा।

(ग) कार्यपालिका पर नियंत्रण – विधिनिर्माण के अतिरिक्त विधानसभा का अन्य महत्वपूर्ण अधिकार राज्य की कार्यपालिका अर्थात मंत्रिपरिशद सामूहिक रूप से इसी सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। मंत्रिपरिशद का उत्तरदायित्व विधानपरिशद या राज्यपाल के प्रति नहीं– होता। विधानसभा विविध तरीकों से मंत्रि परिशद पर नियंत्रण रखती है। उसके सदस्य मंत्रियों. से प्रषासन संबंधी प्रष्न करते हैं और आवष्यकता पड़ने पर काम रोको प्रस्ताव भी रखते हैं। सरकार के विरूद्ध निन्दा अथवा अविष्वास प्रस्ताव पारित करने का अधिकार भी इस सदन को प्राप्त है। विधानसभा द्वारा अविष्वास प्रस्ताव पारित हो जाना मंत्रिपरिशद के लिए मष्त्यु ही है। इसके बाद तो मंत्रिपरिशद एक दिन के लिए भी कायम नहीं रह सकती है।

विधानसभा के अधिकारों पर कुछ प्रतिबंध – विधानसभा के अधिकारों के वर्णन से हमें यह समझना चाहिए कि राज्य के क्षेत्र में उसके अधिकार असीमित हैं। विधानसभा को, लोकसभा की तरह, एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न संस्था नहीं कहा जा सकता। इसके अधिकारों पर कतिपय निम्नलिखित प्रतिबंध भी हैं–

(क) यद्यपि विधानसभा की समवर्ती सूची पर कानून बनाने का अधिकार है, लेकिन इस क्षेत्रा में संसद को ही प्राथमिकता दी गई है, और उन्हें रद्द भी कर सकती है यदि राज्य के विध ाान मण्डल द्वारा बनाये गये कानून और इसी विशय पर संसद द्वारा बनाये गये कानून में कोई विरोध हो जाय तो इस स्थिति में संसद द्वारा बनाए गए कानून में कोई विरोध हो जाए तो इस स्थिति में संसद द्वारा बनाया कानून ही ठीक समझा जायगा ।

(ख) किसी भी विधानसभा (या विधानमंडल) में उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीषों के निर्णय पर या उनके कर्तव्यपालन सम्बन्धी कार्यों पर कोई वाद–विवाद नहीं किया जा सकता।

(ग) आपातकाल में विधानसभा (या विधानमंडल) को विधिनिर्माण का अधिकार नहीं रह जाता। ऐसे समय राज्य–सूची में वर्णित सभी विशयों पर कानून का निर्माण संसद ही करेगी।

(घ) राज्य की विधानसभा या (विधानमंडल) द्वारा पारित कुछ विधियाँ तब तक कानून का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक उन पर राश्ट्रपति की स्वीकृति न मिल जाय। ऐसी विधियों को राज्यपाल राश्ट्रपति की अनुमति के लिए भेज देता है।

:: (ड़) कुछ विधेयक – जिनका सम्बन्ध दूसरे राज्यों अथवा राज्य के भीतर व्यापार आदि से हो– विधानसभा (विधानमंडल) में तब तक पेष नहीं किए जा सकते जब तक उन पर राश्ट्रपति की पूर्वानुमति न मिल जाए।

उपसंहार – इन प्रतिबन्धों के बावजूद निश्कर्श के रूप में यह कहा जा सकता हैं कि राज्य के प्रषासन में विधानसभा का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है राज्य सम्बद्ध सभी विशयों पर कानून बनाना और कार्यपालिका पर नियंत्रण रखना इसके प्रमुख काम हैं। विविध प्रष्नों पर वाद–विवाद कर इसके सदस्य जनमत भी तैयार करते हैं। इतना होने पर भी अनुभव के आध गार पर यह का जा सकता है कि विधानसभा राज्य के प्रषासन में उतना महत्वपूर्ण पार्ट नहीं अदा कर रही है, जितना संविधान द्वारा उसे प्रषासन का बल मिला है। इसलिए कुछ आलोचक राज्यों की विधानसभाओं को गप्प लड़ाने का अड्डा मात्रा कहते हैं। और कुछ अंषों में यह आरोप ठीक भी है।

चतुर्थ आमचुनाव का विधानसभाओं की स्थिति पर प्रभाव – चतुर्थ आमचुनाव के बाद विध ाानसभा की इस स्थिति में थोड़ा सा परिवर्तन हुआ है और कई दृश्टिकोण से वह राजनीतिक गतिविधि का तूफानी स्थल बन गयी। कई राज्यों में किसी दल को स्पश्ट बहुमत नहीं मिला । अतः इन राज्यों में संयुक्त मंत्रिमंडलों का निर्माण किया गया लेकिन ये मंत्रिमंडल सफलतापूर्वक काम नहीं कर सके। आपसी फूट तथ दलबदल के कारण हरयाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेष, बिहार, पष्चिम बंगाल, तथा मध्यप्रदेष में इन्हें समाप्त होना पड़ा ।

इस प्रकार चतुर्थ आम चुनाव के बाद भारतीय राज्यों की विधानसभाओं में हम अवसरवादी प्रवष्त्ति का विकास पाते हैं। चूँकि इस चुनाव के बाद कई राज्यों में किसी दल को स्पश्ट बहुमत नहीं था, अतः कई दलों को मिलाकर ही सरकार बनाना सम्भव था। इस स्थिति ने व्यक्तिगत रूप में विधायकों को यह मौका दिया कि वे स्वार्थ सिद्धि के लिए अपना दल बदलकर दूसरे दल में सम्मिलित हो जायँ तथा एक सरकार को गिराकर दूसरी सरकार का निर्माण करें। हर इस होड़ में लग गया कि दूसरे दल के कितने विधायकों को फोड़कर वह अपने समर्थन में ला सकता है। इस प्रकार विधानसभाओं की राजनीति 'आयाराम, गयाराम की राजनीति हो गयी और विभिन्न राज्यों में दलबदलाव इतनी द्रुतगति से हुआ कि स्थाई सरकारों का निर्माण असम्भव हो गया। सरकार की अस्थिरता इतनी बढ़ गयी कि कई राज्यों में

राश्ट्रपति षासन लागू करना पड़ा।

इस अवसरवादी प्रवष्त्ति का प्रभाव विधानसभाओं की स्थिति पर तुरन्त पड़ा। जो दल सत्तारूढ़ उसने विधानसभा की उपेक्षा षुरू कर दी। उसका प्रयास यही रहा कि अधि क–से–अधिक समय तक विधानसभा का अधिवेषन टाला जाय। सरकारी काम भी ठप पड़ गये। उदाहरणार्थ, मध्यावधि चुनाव के बाद विहार में जो काँग्रेस की सरकार बनी (फरवरी 1969) उसके मुख्यमंत्री ने अपने मंत्रिमंडल का संगठन पूरी तरह इसलिए नहीं किया कि विषुद्ध ज लोग दलबदलकर सरकार को गिरा देंगे। महीनों तक मंत्रिमण्डल निर्माण का कार्य स्थगित रखा गया और मंत्रियों के बीच विभागों का वितरण तक नहीं किया जा सका। इस प्रकार दल बदलाव की राजनीति ने विधानसभा के महत्व को ही कम नहीं किया, वरन राज्य के प्रषासन को भी बुरी तरह से प्रभावित किया है। अब सत्तारूढ़ दल का यही प्रयास रहता है कि विध नसभा का अधिवेषन जितना हो सके, टाला जाय और यदि वह हो भी तो कम–से–कम समय के लिए।

4. विधानसभा और विधानपरिशद् में सम्बन्ध राज्य के विधानमंडल में विध गनसंभा और विध ाानपरिशद का सम्बन्ध देखने पर पता चलता है कि विधान परिशद की षक्ति विधानसभा के समक्ष बहुत धुंधली है। उसे राज्यसभा के बराबर भी अधिकार प्राप्त नहीं। संसार

के सभी देषों के द्वितीय सदनों में ब्रिटेन की लार्ड्स सभा सबसे दुर्बल द्वितीय सदन कही जाती है । परन्तु भारत के विधानपरिशद् तो उससे भी गयी गुजरी संस्था है।

प्रषासन के क्षेत्र में विधानसभा और विधानपरिशद दोनों को ही अधिकार प्राप्त हैं राज्य की मंत्रिपरिशद में दोनों सदनों के सदस्य मंत्रिपद पर लिए जाते हैं। परन्तु सामान्यतः संसदीय के पद्धति के षासन की परम्परा के अनुसार मुख्यमंत्री विधानसभा का ही सदस्य होता है। कारण, विधानसभा में जिस राजनैतिक दल को बहुमत प्राप्त होता है। कारण, विधानसभा में जिस राजनीतिक दल को प्राप्त होता है उसी दल का नेता मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त किया जाता है। इस नियम के अनुसार, मुख्यमंत्री विधानसभा का ही सदस्य होता है। परन्तु भारत में ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जब विधानपरिशद के भी किसी सदस्य को मुख्यमंत्री बना दिया जाता है।

मंत्रिपरिशद पर विधानसभा और विधानपरिशद् दोनों का ही नियंत्रण होता है । परन्तु इस कार्य में भी विधानसभा विधानपरिशद् की तुलना में अधिक षक्तिषाली है। दोनों ही सदनों में मंत्रियों से प्रष्न और पूरक प्रष्न किये जा सकते हैं, परन्तु सरकार तक पहुँचाई जा सकती है। दोनों ही सदनों में जनता की षिकायतें सरकार तक पहुँचाई जा सकती हैं। दोनों ही सदन काम रोको प्रस्ताव ला सकते हैं। परन्तु सरकार के विरुद्ध अविष्वास या निन्दा का प्रस्ताव लाने का अधिकार केवल विधानसभा को है। यह अधिकार विधानपरिशद् को नहीं है।

राज्य की मंत्रिपरिशद या सरकार केवल विधानसभा के बहुमत का विष्वास प्राप्त है।' तब तक वह अपने पद पर बनी रहती है। इसलिए तो उसी राजनीतिक दल को सरकार बनाने का मौका दिया जाता है जिसे विधानसभा के बहुमत का समर्थन खो देने पर विधानसभा में बहुमत प्राप्त होता है। विधानसभा को अधिकार है कि वह बहुमत द्वारा अविष्वास का प्रस्ताव पारित कर मंत्रिपरिशद उस हद तक मंत्रिपरिशद को नियंत्रित नहीं कर सकती जिस हद तक विधानसभा कर सकती है।

विधिनिर्माण के क्षेत्र में विधानपरिशद विधानसभा के मसक्ष बहुत कमजोर है। जहाँ तक ध ानविधेयक की बात है, लोकसभा की तरह विधानसभा में ही प्रस्तावित हो सकते हैं। वित्तविध ा यक केवल लोकसभा की तरह विधानसभा में ही प्रस्तावित हो सकते हैं। विधानसभा से वित्तविध यक के पारित हो जाने पर वह विधानपरिशद में भेजा जाता है। विधानपरिशद् को राज्यसभा की तरह चौदह दिन के भीतर उसे विधानपरिशद पारित किया गया है। उसी रूप में यदि चौदह दिनों के भीतर उसे विधानपरिशद पारित कर देती है। तो वह राज्यपाल के पास भेज दिया जाता है। चौदह दिनों के भीतर यदि विधानपरिशद चाहे तो अपने संषोधनों के साथ वित्तविधेयक को विधानसभा में लौटा सकती है। परन्तु उन संषोधनों के साथ वित्त विधेयक को विधानसभा में लौटा सकती है। परन्तु उन संषोधनों को मानना या न मानना विधानसभा की मर्जी पर निर्भर है। यहाँ भी विधानपरिशद् की इच्छा के अनुसार कोई काम होने की गुंजाइष नहीं है। यदि चौदह दिनों के भीतर विधानपरिशद वित्त विधेयक को पारित नहीं करती तो उस अवस्था में भी वह वित्तविधेयक दोनों सदनों से पारित समझा जायगा । इस प्रकार वित्त विधेयक के क्षेत्र में विधानपरिशद की षक्ति राज्य की तरह षून्यप्रायः है। वस्तुतः इसकी यह षक्ति लार्ड्स सभा से भी कम है। लार्ड्स सभा को तो वित्तविधेयक और बजट पर सोचने–विचारने और कोई फैसला करने के लिए एक महीने की अवधि मिलती है।

साधारण विधेयक विधानसभा और विधानपरिशद दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं। यहीं तक साधारण विधेयक के क्षेत्र में दोनों सदनों को बराबर अधिकार प्राप्त हैं, अन्यथा उसके बाद प्राथमिकता विधानसभा को ही दी गयी है यदि साधारण विध ेयक विधानपरिशद में प्रस्तावित होता है तो वहाँ से पारित होने के बाद वह विधानसभा इस विधेयक के उस रूप से सहमत नहीं हैं तो सभा द्वारा संषोधित विधेयक को केवल एक महीने तक रोक सकती है। यदि एक महीने के भीतर विधानसभा के संषोधनों को वह मान लेती

है तो कोई बात नहीं। यदि नहीं मानती है तो उस अवस्था में भी विधानसभा द्वारा संषोधि ात रूपः .में ही वह विधेयक दोनों सदनों में पारित समझा जाता है। केन्द्र की तरह राज्यों में दोनों सदनों

के. संयुक्त अधिवेषन का प्रावधान नहीं है।

इस प्रकार साधरण विधेयक का रूप क्या होगा इसके बारे में अन्तिम अधिकार विधानसभा को ही प्राप्त है। विधानपिरशद् अधिक से अधिक साधारण विधेयक को चार महीने तक ही रोक सकती है। इसके आगे उसे साधारण विधेयक के सम्बन्ध में कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

भारत के विभिन्न राज्यों के दोनों सदनों के सम्बन्धों के तुलनात्मक अध्ययन के बाद. यह स्पश्ट हो जाता हैं कि विधानपरिशद राज्यसभा को लोकसभा की तुलना में प्राप्त हैं। निस्संदेह विधानपरिशद् राज्यसभा को क्या, ब्रिटेन की लाईस सभा से भी कम षक्तिषाली है। ब्रिटेन की लार्ड्स समा संसार के सभी द्वितीय सदनों में दुर्बलतम है । परन्तु विधानपरिशद तो उससे गया बीता द्वितीय सदन है।.

5. विधायनी प्रक्रिया – राज्य के विधानमंडल में विधायनी प्रक्रिया उसी प्रकार है जिस प्रकार भारतीय संसद में है। अतः यहाँ उसका वर्णन संक्षेप में किया जायगा ।

विधानसभा का मुख्य कार्य राज्य के लिए कांनून बनाना है। संविधान में जो विशय राज्य – सूची के अन्तर्गत आते हैं उन पर राज्य – विधानमंडल कानून बनाता है। इसके अतिरिक्त समवर्ती सूची के विशयों पर भी विधानमण्डल कानून बना सकता है। पर यदि समवर्ती सूची के विशयों पर संसद द्वारा निर्मित्त कानून विधानमंडल के विरुद्ध हो तो संसद के कानून को ही प्राथमिक मिलेगी।

विधानमंडल में कानून बनाने के लिए जो प्रस्ताव प्रस्तुत होता है उसे विधेयक कहते हैं, विध ोयक दो प्रकार के होते हैं साधारण विधेयक और धन अथवा वित्त विधेयक । इसके पारित होने की प्रक्रिया निम्नलिखित है–

(क) सामान्य विधेयकों के पारित होने की प्रक्रिया – गैर धन विधेयकों को हमलोग 'सामान्य विधेयक' की संज्ञा देते हैं। यह विधेयक विधानमंडल के दोनों सदनों में से. किसी में पेष किए जा सकते हैं। इनके पारित होने के लिए प्रत्येक सदन में हर विधेयक के तीन वाचन आवष्यक हैं। इन तीनों वाचन की प्रक्रिया को विष्लेशण केन्द्रीय व्यवस्थापिका के वर्णन के समय किया गया है। उसी तरह राज्य के विधानमंडल द्वारा विधेयक के तीन वाचन होते हैं। अगर गैर धन विधेयक पर विधानमंडल के दोनों सदनों में मतभेद हो जाय अर्थात अगर कोई विधेयक विधानसभा में पारित कर विधानपरिशद् में भेजें और परिशद् उसे अस्वीकृत कर दे अथवा उसे तीन महीने के भीतर नहीं लौटावे अथवा ऐसे सषोधन पेष करे लो विधानसभा को नहीं हैं। तो संविधान के अनुसार विधानसभा उस विधेयक को पुनः पारित कर परिशद् के पास भेज सकती अगर इस बार भी परिशद इसे अस्वीकार करे अथवा पुनः विधानसभा के अमान्य संषोधन पेष करे तो इस बार वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है। और राज्यपाल के हस्ताक्षर के लिए दिया जाता है।

(ख) 'धन विधेयक को पारित होने की प्रक्रिया – संविधान के अनुच्छेद 199 में धन विधेयक की परिभाशा दी गयी है। इसके अनुसार निम्नांकित बातों से सम्बद्ध विधेयक ही धन विध ोयक कहे जाते हैं – (प) कर लगाना, उसमें परिवर्तन तथा उसकी समाप्ति इत्यादि । (पप) ऋण – सम्बन्धी नियम । (पपप) राज्य की आक्समिक निधि तथा संचित निधि को सुरक्षित रूप में रखने या उनमें से धन निकालने से सम्बद्ध व्यवस्था । (पअ) राज्य की संचित निधि ा से धन देने की स्वीकृति । (अ) किसी व्यय के मद को संचित निधि पर भारित मदों में

रखना आदि । (अप) सरकारी हिसाब में धन जमा करना तथा उसकी जाँच (अपप) उपर्युक्त बातों से सम्बद्ध कोई नियम नहीं। ।

धन विधेयक केवल विधानसभा में ही पुरस्थापित किया जाता है। इस पर राज्यपाल की पूर्वस्वीकृति आवष्यक है। विधानपरिशद् में उस सदन की सिफारिषों के लिए भेजा जाता है। विधानपरिशद को 14 दिनों के भीतर इस विधेयक को विधानसभा के पास लोटा देना पड़ता

है। विधानसभा परिशद् द्वारा की गयी सिफारिषों को स्वीकृत या अस्वीकृत कर सकती है। अगर चौदह दिनों तक विधानपरिशद् चुप बैठी रहे तो धन विधेयक दोनों सदनों से पारित समझा जाता है।

''राज्यपाल की स्वीकृति – कानून का रूप धारण करने के लिए सभी विधेयकों पर राज्यपाल की स्वीकृति आवष्यक है। वह इन्हें अस्वीकृत कर सकता है या उनपर अपनी सम्मति दे सकता है। वह किसी भी विधेयक को (धनविधेयक को छोड़कर) विधानमंडल के विचारार्थ पुनः भेज सकता है। अगर इस बार विधानमंडल उक्त विधेयक को पुनः पारित करें तो राज्यपाल को इस पर अपनी अनुमति देनी होगी ।

राश्ट्रपति और राज्यों के विधेयक – राज्यपालों को यह अधिकार भी प्राप्त है कि 'वह किसी ऐसे विधेयक को जो उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार का उल्लंघन करता हो – राश्ट्रपति के विचारार्थ भेज सकता है। छः महीने की अवधि के भीतर विधानमंडल द्वारा इस पर पुनर्विचार करने के बाद राश्ट्रपति के पास फिर इसे विचारार्थ भेजा जाता है। उसे फिर स्वीकार करना या न करना राश्ट्रपति पर निर्भर है।

वित्तीय प्रक्रिया – केन्द्र में वित्तीय मामलों में जिस प्रक्रिया का पालन होता है प्रायः उसी तरह राज्यों में भी व्यवस्था है। यह प्रक्रिया कई भागों में विभक्त है। इनका संक्षिप्त वर्णन आगे की पक्तियों में किया जा रहा है।

(क) वार्शिक बजट – वित्तीय प्रक्रिया का प्रथम चरण वार्शिक आय–व्यय के विवरण (बजट) से आरम्भ होता है। राज्यपाल वर्श भर की आमदनी और खर्च का अनुमान विधानमंडल के दोनों सदनों के समक्ष रखवाता है। इस बजट में अनुमानित खर्च दो भागों में रहता है। पहले भाग के खर्च को संचित निधि पर भारित खर्च कहते हैं तथा दूसरे भाग में अन्य खर्च की मदें रहती हैं। पहली मद पर विधानसभा में मतदान नहीं होता है। उस पर बहस हो सकती है। इसमें राज्यपाल का वेतन, भत्ता, उच्च न्यायालय के न्यायाधीषों, विधानसभा के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, विधानपरिशद् के सभापति, उपसभापति के वेतन, भत्ते तथा अन्य ऐसे ही मदें रहते हैं।

(ख) अनुदान की मद – संचित निधि पर भारित खर्च की मदों को छोड़कर अन्य खर्च की मदों को अनुदान के रूप में विधानसभा के सामने रखा जाता है। इन अनुदानों की माँग के लिए राज्यपाल की सिपफरिष आवष्यक है। इस तरह अनुदानों की माँग के विधानसभा द्वारा स्वीकृति होने पर वित्तीय प्रक्रिया का द्वितीय चरण समाप्त हो जाता है।

(ग) विनियोग–विधेयक विधानसभा द्वारा अनुदानों की माँग स्वीकृत हो जाने पर खर्च की सभी मदों के लिए विनियोग विधेयक विधानसभा में पुरः स्थापित किया जाता है इस विधेयक के पारित होने पर ही संचित निधि से खर्च के लिए रुपया निकाला जा सकता है। (घ) पूरक अनुदान अगर स्वीकृत बजट से अधिक राषि किसी मद पर खर्च हो जाती है अथवा किसी नयी मद पर कोई खर्च आवष्यक हो जाता है। तो राज्यपाल उसकी स्वीकृति के लिए पूरक बजट विधानसभा के सामने रख जाता हैं। इसके अतिरिक्त बजट पारित होने के पहले आवष्यक खर्च के लिए विधान–सभा का अग्रिम रकम देने का भी अधिकार है।

सारांष

केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधित्व के रूप में राज्यपाल राज्य के सम्बन्धस में समय–समय पर राश्ट्रपति को रिपोर्ट भेजता है जिसमें उसके द्वारा अपनी ओर से सुझाव भी दिये जाते हैं। राज्यपाल पद ग्रहण के समय संविधान की रक्षा करने की षपथ लेता है, और यदि वह राश्ट्रपति को सांविधानिक तंत्र की विफलता की रिपोर्ट देता है तो उसकी रिपोर्ट के आधार पर राज्य में राश्ट्रपति षासन लागू किया जा सकता है। राज्य में राश्ट्रपति षासन लागू हाने पर राश्ट्रपति, राज्यपाल को जो भी प्रषासनिक, विधायी और वित्तीय कार्य सौंपे राज्यपाल उन सबको पूरा करता है तथा केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्य के षासन को संचालित करता है।

राज्यपाल, अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत राज्य विधान– मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को राश्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है। राज्यपाल को अध्यादेष जारी नहीं कर सकता है। राज्यपाल राश्ट्रपति अर्थात् केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में यह देखता है कि राज्य सरकार संकीर्ण प्रान्तीयवाद को न अपनाकर समस्त संघ के हितों का ध्यान रखे। संविधान की उपर्युक्त व्यवस्था पर दृश्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि राज्यपाल की मुख्य भूमिका राज्य के सौंविधानिक अध्यक्ष की तथा उसकी गौण भूमिका केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता की है। किन्तु राज्यपाल के आचरण के वर्तमान तक के इतिहास से प्रकट यही होता है कि उसकी दूसरी भूमिका अधिक महत्व की रही है। सांविध ाानिक अध्यक्ष के रूप में तो अपने औपचारिक कार्य करता ही है, परन्तु उसके उन कार्यों पर उसके केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में छाप अवष्य दिखाई देती है। यह छाप उस समय तो और अधिक स्पश्ट दिखाई देती है. जब केन्द्र की नीति किसी विशय में अलग तथा राज्य की नीति उस विशय में उससे भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में राज्यपाल प्रायः केन्द्र की इच्छा के अनुसार चलता है। राज्यपाल की उक्त भूमिका के कारण उसके पद की उस आधार पर आलोचना भी कही जाती रही है कि केन्द्र उसके माध्यम से राज्यों में अपने राजनीतिक उद्देष्यों की पूर्ति करता है। इन सब आलोचनाओं के बावजूद भी इस पद का महत्व निर्विवाद रूप से बना हुआ है।

स्व प्रगति की जाँच के उत्तर

प. एक निर्वाचित राज्यपाल में और राज्य के मुख्यमंत्री में संघर्श की संभावनाए उत्पन्न हो जाएँगी क्योंकि मुख्यमंत्री और अन्य मंत्रियों का निर्वाचन भी जनता द्वारा ही होता है। पप. एक निर्वाचित राजपाल राजनैतिक दलबन्दी के वातावरण में फंस जायेगा और निरपेक्ष रूप से साँवैधानिक कार्यपालिका के रूप में कार्य नहीं कर सकेगा।

राज्यपाल पद पद प्रायः उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्ति किया जाता रहा है। जो केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के विष्वासपात्र व्यक्ति राज्यपाल न होगा तो राज्य की गतिविधियों की सही सूचना केन्द्र को नहीं मिल सकेगी और इस प्रकार संविधान की व्यवस्था को आधात पहुँचेगा संविधान में व्यवस्था हे कि राज्यपाल द्वारा यदि राज्य में संवैधानिक या वित्तीय संकट की रिपोर्ट दी जाए तो राश्ट्रपति आपात षक्ति का प्रयोग कर सकता है। फिर इस 'बात की क्या गारन्टी है कि राज्यपाल के पद पर विरोधी दलों के व्यक्तियों को नियुक्त किया जाएगा। तो वे अपने दलीय हितों के लिए कार्य नहीं करेंगे।

हम कह सकतें हैं कि आसाधारण परिस्थितियों को छोड़कर साधारण परिस्थितियों, में राज्यपाल का प्रमुख कर्तव्य यह देखना है कि राज्य का प्रषासन अच्छी तरह चलें। उससे यह अपेक्षित है कि वह मंत्रि–परिशद के समस्त निर्णयों के समबन्ध में अपनी सहमति प्रदान करे। वह अल्पसंख्यक वर्गों के हितों की रक्षा करे और तत्सम्बन्धी षिकायतों की ओर राज्य सरकार का ध्यान आकृश्ट करे। राज्यपाल को चाहिये कि वह निर्दलीय नेतष्व प्रदान करके राश्ट्र–निर्माणकारी कार्यों में अपना विषेश योग दे ।

अभ्यास–प्रष्न

1. भारत संघ के किसी राज्य की विधानपरिशद के संगठन, अधिकार तथा कार्यों का

'वर्णन कीजिए।

2. अपने राज्य की विधानसभा के संगठन, अधिकार और कार्यों का वर्णन कीजिए।

3. भारत – संघ के राज्यों की व्यवस्थापिका की रचना कैसे हुई है। विधानपरिशद् और विधानसभा के पारस्परिक सम्बन्धों की परीक्षा कीजिए ।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1- **भारतीय संविधान**, **लेखक एम. लक्ष्मीकांत**, **प्रकाशक** Mc Graw-Hill Education, **प्रकाशन वर्ष** 2023

2- **भारतीय शासन और राजनीति**, **वी. पी. वर्मा**, **लक्ष्मी नारायण अग्रवाल**, 2021

3- **भारतीय राजनीतिक व्यवस्था**, **गोपाल कृष्ण**, **राजकमल प्रकाशन**, 2020

4- **राजनीतिक सिद्धांत**, **ओ. पी. गायकवाड**, **साहित्य भवन पब्लिकेशन्स**, 2022

5- **आधुनिक राजनीतिक विचारक**, **सुरेंद्र प्रताप सिंह**, **साहित्य भवन पब्लिकेशन्स** , 2021

6- **भारतीय विदेश नीति**, **कु. एल. शर्मा**, **साहित्य भवन**, 2019

7- **भारतीय लोकतंत्र**, **राजीव भार्गव**, **राजकमल प्रकाशन**, 2023

8- **राजनीति शास्त्र का परिचय**, **सुरेश मिश्रा**, **विकास पब्लिशिंग हाउस**, 2022

9- **शासन और प्रशासन**, **राम अवधेश सिंह**, **किताब महल**, 2020

10- **भारत का संविधान और राजनीति**, **पी. एम. बख्शी**, **यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग**, 2021

MATS UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

UNIVERSITY CAMPUS: Aarang Kharora Highway, Aarang, Raipur, CG, 493 441

RAIPUR CAMPUS: MATS Tower, Pandri, Raipur, CG, 492 002

T : 0771 4078994, 95, 96, 98 **Toll Free ODL MODE :** 81520 79999, 81520 29999

Website: www.matsodl.com